SLAVERY IN ANCIENT INDIA
From c. 600-1200 A. D.

(IN HINDI)

A THESIS

Submitted for the degree of

Doctor of Philosophy

of

University of Allahabad

By

LAVA KUSH PRASAD DWIVEDI

Under the supervision of

PROF. OM PRAKASH

Department of Ancient History, Culture and Archaeology
University of Allahabad
Allahabad

December, 1993

भूमिका

मेगस्थनीज का यह कथन, कि प्राचीन भारत में दासता नहीं थी, भारतीय इतिहास-लेखन के दौर में भारतीय संस्कृति की एक गौरवपूर्ण विशेषता के रूप में देखा गया। इस संस्कृति के आध्यात्मिक स्वरूप को इतना उभारा गया कि उसके नीचे इस संस्कृति का भौतिक पक्ष दब गया। इसके परिणामस्वरूप भारतीय इतिहास-लेखन में एक ऐसा दौर आया जो भौतिक आयामों को उभारने के लिए प्रतिबद्ध था। दासता के विशिष्ट सन्दर्भ में भौतिक संस्कृति को महत्व देने वाली इस दृष्टि ने मेगस्थनीज के इस कथन के बावजूद दासता के अनेक सन्दर्भ मूल ग्रन्थों से खोज निकाले और यह प्रदर्शित करने की चेष्टा की कि भारतीय इतिहास और संस्कृति में सब कुछ आध्यात्मिक नहीं था। भौतिक तनाव, संघर्ष और शोषण इस देश के प्राचीन सामाजिक इतिहास के भी उतने ही अभिन्न अंग थे जितने कि किसी अन्य देश के। भारतीय संस्कृति इस मामले में एक अपवाद नहीं थी। किन्तु धीरे-धीरे भौतिकवादी दृष्टि की भी रूढ़वादिता बढ़ती गयी और कतिपय इतिहासकारों ने पाश्चात्य संस्कृति के विकास क्रम को प्रतिछाया भारतीय संस्कृति के विकास में भी देखनी शुरू कर दी। यूनान और रोम की तरह भारत में भी दासता की समाजार्थिक भूमिकायें ढूढ़ते हुये लोग भारत में दासतामूलक अर्थव्यवस्था के निष्कर्ष तक पहुँच गये। इसमें कोई सन्देह नहीं कि राजनीतिक अर्थव्यवस्था से जुड़कर दासता का अपना एक स्वतन्त्र इतिहास उभरने लगा लेकिन इस

में ऐतिहासिक शोध-दृष्टि का असंतुलन भी अनिवार्यतः उपस्थित है । दासता के इतिहास में इस असंतुलन को समझना और उसे दूर करना एक चुनौती है जिसको दृष्टि में रखकर यह शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया गया है।

दासता की अवधारणा की यद्यपि कोई सैद्धान्तिक व्याख्या भारतीय मूल स्रोतों में नहीं प्राप्त होती लेकिन भारतीय संस्कृति के विशिष्ट मूल्यों के ढाँचे में दासता के ऐतिहासिक स्वरूप का सैद्धान्तिक आयाम अवश्य ही अन्तर्निहित है । अब तक के ऐतिहासिक अनुसंधानों में इस पक्ष को उभारने का कोई प्रयास नहीं किया गया । दासता की यूनानी एवं रोमन अवधारणाएं जिस प्रकार उभारी गयी हैं उस रूप में इस्लामी ईसाई एवं चीनी अवधारणाओं को भी नहीं उभारा गया था । इन समस्त संस्कृतियों में मिलने वाले दासों के उल्लेखों के आधार पर दासता की इन अवधारणाओं को भी उभारा गया जिसके तुलनात्मक अध्ययन से भारतीय दासता की अवधारणा का स्वरूप समुपस्थित किया जा सका। तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य के माध्यम से अकथित और अन्तर्निहित अवधारणाओं को उभारना भी दासता के इतिहास पर समग्र चिन्तन करने के लिए आवश्यक हो जाता है ।

भौतिकवादी संस्कृति के समाजार्थिक परिप्रेक्ष्य में भारतीय दासों को उत्पादन-व्यवस्था से जोड़कर कतिपय इतिहासकारों ने दास श्रम को अतिरिक्त उत्पादन का प्रमुख आधार बना दिया और दासतामूलक समाज की परिकल्पना करने एक ऐसी समाजार्थिक संरचना की बातें करना

प्रारम्भ कर दिया जो मार्क्स के 'एशियाई उत्पादन पद्धति' और विटफोगेल के "पौर्वात्य निरंकुशता" के सिद्धान्तों से मेल न खाने के बावजूद भारत में मार्क्स के योरोपीय सामन्तवादी ढांचे को लागू करने का उपक्रम प्रारम्भ किया जाने लगा जिसमें दासों की विशिष्ट भूमिका होती थी । भारतीय दासों को सेवि वर्ग का प्रधान एवं आवश्यक अंग बताकर उसे उत्पादन प्रक्रिया से जोड़ा गया और भारत को पूर्वमध्यकालीन समाजार्थिक संरचना को अर्द्धदासों अथवा कृषिदासों के श्रम व बेगार पर आधारित बताया गया । भारतीय मूल स्रोतों में मिलने वाले उल्लेखों से इसकी संगति नहीं बैठती जिसका कि यथासंभव विवेचन प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में किया गया है। दासता कभी भी भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संरचना का संयोजक तत्व नहीं थी वह केवल अपनी आनुषंगिक भूमिका में ही यहाँ के समाजार्थिक परिवेश में विद्यमान थी, इस महत्वपूर्ण निष्कर्ष को प्रतिपादित करते हुए इस शोध प्रबन्ध में यह दिखाया गया है कि भारत में न तो दासतामूलक समाज एवं अर्थव्यवस्था का प्रश्न सम्मुपस्थित होता है और थार्नेर्नैनियल को मान्यताओं के परीक्षणोपरान्त उनसे सहमति व्यक्त करते हुए यह मत व्यक्त किया गया है कि इन ध्वंसावशेषों पर किसी ऐसे सामन्ती समाज का ढांचा भी नहीं खड़ा किया जा सकता जिसका मूलाधार बेगारी और कृषिदासत्व अथवा अर्द्धदासत्व की प्रथा रही हो ।

प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रीय विधानों में दासों के सम्बन्ध में कई महत्वपूर्ण उल्लेख प्राप्त होते हैं जो उनके शुभ एवं अशुभ कर्मों में

नियोजन से सम्बन्धित हैं । याज्ञवल्क्य स्मृति में दासों से अशुभ कर्मों को कराने की सलाह का वर्णन प्राप्त होता है जिसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जाने लगा कि पूर्वमध्यकालीन भारत में दासों को केवल अशुभ कर्मों में ही नियुक्त किया जाता था और इस काल में घरेलू दासों के ही अधिकांश विवरण प्राप्त होते हैं जबकि पूर्वकालीन भारतीय समाज में दासों को विशाल पैमाने पर कृषिकार्यों में नियुक्त किया जाता था । अतएव पूर्वमध्यकाल में दासता का स्वरूप ह्रासोन्मुखी हो गया था और उसका स्थान कृषिदासता, बेगार एवं अर्द्धदासता ने ले लिया ।

पूर्वमध्यकालीन भारतीय मूल ग्रन्थों में दासता के ऐसे उल्लेख अदृष्टार्थक विधानों की योजना की एक कड़ी मात्र हैं । यथार्थ जीवन में दासों को कृषि कार्य से लेकर सैनिक वृत्ति, कतिपय धार्मिक कार्यों एवं व्यक्तिगत सेवा के कार्यों में लगाये जाने के प्रभूत प्रमाण हैं । जब तक समस्त घरेलू कार्यों को अशुभ कर्मों की कोटि में न खड़ा कर दिया जाय, ऐसे निष्कर्ष निकालना उचित नहीं लगता । पूर्वमध्यकालीन भारत में दासों का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार युद्धों की बहुलता से युद्धबन्दी दासों की संख्या में अभूतपूर्ववृद्धि एवं दासमुक्ति के सैद्धान्तिक विधानों के बावजूद व्यावहारिक धरातल पर लेखपद्धति के विवरणों से अभिव्यक्त दासों की यातनापूर्ण स्थिति इत्यादि दासता के ह्रास के निष्कर्षों में कतिपय सुधार की संभावना के द्वार खोल देती हैं । यह शोध प्रबन्ध ऐसे निष्कर्षों की साक्ष्य-सम्मत प्रासंगिकता को भी ढूढने का प्रयास करता है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से कुल 5 अध्यायों में विभक्त किया गया है । प्रथम अध्याय में प्राचीन भारतीय दासता पर किए गये विभिन्न ऐतिहासिक शोधों का समीक्षात्मक विवरण प्रस्तुत करते हुए उन भारतीय ऐतिहासिक स्रोतों का विवरण प्रस्तुत किया गया है जिनमें दासता के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष विवरण विद्यमान हैं । साथ ही अपने ऐतिहासिक शोध की इस प्रक्रिया में अपनाई गई शोध पद्धति का भी उल्लेख इस अध्याय के अन्तर्गत किया गया है ।

द्वितीय अध्याय दासता की अवधारणा; स्वरूप एवं सिद्धान्त से सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत विश्व की अनेका-नेक सभ्यताओं में पाई जाने वाली दासता की विभिन्न अवधारणाओं का विशद विवेचन प्रस्तुत करते हुए भारतीय दासता के विवरणों से उसकी तुलना की गई है तथा तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य से उभरने वाली दासता की अवधारणा को पहली बार प्रतिस्थापित करने का प्रयास किया है ।

तृतीय अध्याय के अन्तर्गत दासों की आपूर्ति के विभिन्न स्रोतों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है साथ ही प्रसंगत : पूर्वमध्यकालीन भारतीय स्रोतों के आलोक में दासता के विवरणों के आधार पर उनकी विभिन्न कोटियों को स्पष्ट करने का भी प्रयास किया गया है। इस अध्याय का एक दूसरा महत्वपूर्ण पहलू यह है कि कुछ इतिहासकारों ने पूर्व-मध्यकाल में दासों को केवल अशुभ कर्मों में नियोजित (जाते) हुए कृषि-कार्यों से उनकी असम्बद्धता तथा शुभत्व की सीमा में आने वाले समस्त कार्यों से

उनके अलगाव को प्रदर्शित करके यह दिखाने का प्रयास किया है कि पूर्व-मध्यकाल में दासता का स्वरूप ह्रासोन्मुखी हो चला था जबकि उपलब्ध ऐतिहासिक स्रोतों के आलोक में इसका सर्वथा निषेध दिखायी पड़ता है। इस अध्याय के अन्तर्गत दासों के कार्यों की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए उनके घरेलू इतर-घरेलू तथा उत्पादन कार्यों में नियोजन कोअलग-अलग दिखाया गया है।

चतुर्थ अध्याय उत्पादन प्रक्रिया, सेविवर्ग एवं दास को समर्पित है। भारतीय दासता उत्पादन प्रक्रिया और सेविवर्ग से किस रूप में तथा किस सीमा तक जुड़ी हुई है इसका परीक्षण इस अध्याय का प्रमुख लक्ष्य है। वर्ण व्यवस्था की सैद्धान्तिक योजना में उत्पादन प्रक्रिया का प्रमुख जिम्मेदार कौन था तथा यथार्थ जीवन में वर्ण व्यवस्था का उत्पादन प्रक्रिया से कितना सम्बन्ध था इन प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करते हुए प्राचीन भारतीय सेविवर्ग के निर्माण में वर्ण व्यवस्था की भूमिका को रेखांकित किया गया है। इस सेविवर्ग में दासों की क्या भूमिका थी इस पर गहराई से विचार किया गया है। दास वर्ग की अवधारणा पर अलग से प्रकाश डालते हुए कतिपय इतिहासकारों की उन मान्यताओं को समझने एवं परखने का प्रयास किया है जिसमें यह तर्क किया जाता है कि पूर्व मध्यकालीन भारत में दासों में वर्ग चेतना का संचार हो जाने के कारण इनसे मुक्ति की व्यवस्थाएं की जाने लगी। परिणामतः भारतीय दासता इस युग में घटने लगी। इस अध्याय का एक दूसरा महत्वपूर्ण योगदान यह है कि विश्व

की सुप्रतिष्ठित ऐतिहासिक विकास की प्रक्रियाओं के परिप्रेक्ष्य में मार्क्स द्वारा प्रस्तुत दासतामूलक समाज तथा सामन्ती अर्थव्यवस्था का प्रश्न, 'एशियाई उत्पादन पद्धति' तथा कार्ल विटफागेल की 'द्रवचालित समाज' की संकल्पना एवं उसके पौर्वात्य निरंकुशता के ढाँचे में पूर्व एवं पूर्वमध्यकालीन भारतीय समाजार्थिक संरचना को भारतीय दासों के विशिष्ट सन्दर्भ में रखकर तुलनात्मक अध्ययन करने का प्रयास किया गया है । क्या भारत में किसी युग में दासतामूलक अर्थव्यवस्था, सामन्ती अर्थव्यवस्था, एशियाई उत्पादन पद्धति और द्रवचालित समाज की संकल्पनाओं में से किसी एक को भी लागू किया जा सकता है अथवा नहीं? इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार किया गया है । साथ ही " सामन्ती अर्थव्यवस्था का प्रश्न और दास" नामक खण्ड में दासमुक्ति के सैद्धान्तिक प्रावधानों की याथार्थिक पृष्ठभूमि तथा दासों के वैधानिक एवं साम्पत्तिक अधिकारों की चर्चा भी इस अध्याय के अन्तर्गत की गई है ।

अंतिम अध्याय विशिष्ट रूप से पूर्वमध्यकालीन भारत में दासियों की विभिन्न स्थितियों से सम्बन्धित है जिसके अन्तर्गत पूर्वमध्यकालीन स्रोतों में दासियों के विवरण, उनकी सामाजिक एवं वैधानिक स्थिति, दासी-व्यापार इत्यादि की चर्चा करते हुए उन पूर्वकल्पित निष्कर्षों की वैधता का प्रसंगत: परीक्षण किया गया है ।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०फिल० उपाधि के लिए प्रस्तुत इस शोध प्रबन्ध के विषय चयन सेलेकर वर्तमान स्वरूप में प्रस्तुतीकरण

तक की लम्बी कालावधि में जिस आत्मीय एवं दैवी प्रेरणा का संबल मुझे प्राप्त होता रहा, ऐसे परमश्रद्धेय गुरूवर प्रो० ओम प्रकाश के कुशल निर्देशन एवं स्नेह की छांव में यह प्रणयन पूरा हो सका है । प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में अनेक स्रोतों से सहयोग एवं प्रोत्साहन प्रदान करके गंभीर से गंभीर विषय पर अध्ययन, मनन एवं चिंतन के जिन गवाक्षों को खोलकर आपने कुहासे से प्रकाश की ओर मुझे निरन्तर अग्रसर किया है, उसके लिए कृतज्ञता ज्ञापित करने का कोई भी औपचारिक तरीका इस अमूल्य धरोहर के महत्व को कम करना ही होगा । वर्तमान की चुनौतियों को भविष्य का संकेत बताते हुए निरन्तर उसके प्रति सजग रहने का बोध जगाकर आपने मेरे साथ जो रिश्ता कायम किया वह पारिवारिकता के दायरे में तो सम्भव है, अन्यत्र कहीं नहीं । वैदुष्यपूर्ण निर्देशन के लिए सुप्रसिद्ध ऐसे गुरूवर ने मुझ अकिंचन को अपनी शिक्षा के योग्य समझकर मेरे ऊपर जो अनुग्रह किया है, उसके लिए उन्हें शत्-शत् नमन है ।

इलाहाबाद की पावन धरती पर विद्यार्थी जीवन से इस स्थितितक निरन्तर स्नेह एवं मेरे भविष्य के प्रति चिन्ता का जो भाव परमादरणीय गुरूदेव डॉ० जयनारायण पाण्डेय एवं अग्रज डा० हरि सहाय सिंह ने दिखाया उसके लिए मैं आप दोनों के प्रति हार्दिक श्रद्धा निवेदित करता हूँ । यशःशेष प्रो० के० डी० बाजपेयी जी ने शोध सेंक्रम का पाठ पढ़ाकर मुझे उपकृत किया है, इस अवसर पर उन्हें मैं श्रद्धा-सुमन

अर्पित करना अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ ।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग के गुरुजनों में परमश्रद्धेय प्रो० जे० एस० नेगी, प्रो० जी० सी० पाण्डे, प्रो० बी० एन० एस० यादव, प्रो० यू० एन० राय, प्रो० एस० एन० राय, प्रो० राम सिंह, प्रो० सन्ध्या मुकर्जी, प्रो० एस० सी० भट्टाचार्य, प्रो० वी०डी० मिश्र, प्रो० आर० के० द्विवेदी, प्रो० गीता देवी, डॉ० जे० एन० पाल, डॉ० जे० के० राय, डॉ० आर० पी० त्रिपाठी, डॉ० एच० एन० दुबे, डॉ० उमेश चन्द्र चट्टोपाध्याय तथा श्री ओम प्रकाश श्रीवास्तव ने मेरे शोध-कार्य में रुचि लेकर सदैव मुझे प्रोत्साहन प्रदान किया है जिसके लिए मैं आप सबके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ ।

समय-समय पर अपने अमूल्य सुझावों एवं विवादास्पद विषयों को सुलझाने में मेरी मदद करके आदरणीय प्रो० लल्लन जी गोपाल, प्रो० एल० के० त्रिपाठी, प्रो० वी० सी० श्रीवास्तव (सभी बनारस हिन्दू वि० वि० के), प्रो० यू० पी० अरोड़ा (रूहेलखण्ड वि०वि०), प्रो० आर० के० वर्मा (रीवां), डॉ० आर०के० श्रीवास्तव (फैजाबाद) तथा डॉ० विवेकानन्द झा (दिल्ली) ने मुझे शोध को एक नई दिशा प्रदान की है । आप सबके प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ ।

शोध कार्य की मध्य बेला में सहयोग की कड़ी में कई और विभूतियों के आशीर्वचन एवं उनकी शुभकामनाएं प्राप्त हुई हैं जिनमें

डॉ० जी० एन० द्विवेदी (पूर्व प्राचार्य, पं० जे० एन० कालेज, बाँदा), डॉ० शंकर दत्त ओझा (आई० ए० एस०, विशेष सचिव, पर्यटन, उ० प्र० सरकार), श्री राकेश गर्ग (आई० ए० एस०, विशेष सचिव, महामहिम राज्यपाल, उ०प्र० सरकार), डॉ० एस० सी० चतुर्वेदी, सर्व श्री आर० पी० राय, वी० के० त्रिपाठी, एस० एस० गुप्त तथा डॉ० आर०जी० गुप्त (सभी मेरे महाविद्यालय के अग्रजतुल्य वरिष्ठ प्रवक्ता गण) के नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होंने कई रूपों में शोध कार्य के प्रति जागरूकता को बनाए रखने में मेरी मदद की है । आप सबके प्रति मैं श्रद्धावनत् हूँ ।

वर्तमान समय में पं० जवाहर लाल नेहरू महाविद्यालय बाँदा के जिस परास्नातक विभाग में मैं सन् 1987 से अध्यापन कार्य कर रहा हूँ, उसमें मेरे विभागाध्यक्ष एवं बांदा में स्थानीय संरक्षक की भूमिका निभाते हुए आदरणीय श्री बी०एन० राय जी ने पुत्रवत् स्नेह देकर मुझे शोध के प्रति सचेत रखा । कड़ी मेहनत, समर्पण एवं लक्ष्यमें दृढ़ता की जो किरण आपने मेरे मन-मानस में नव्य-जीवन की प्रथम बेला में जगायी थी, वह संभवतः मेरे लिए एक ऐसी प्रेरणा पुञ्ज बन गयी , जिसने मेरा जीवन ही बदल दिया । अस्तु, श्रद्धेय राय साहब के प्रति मैं विनयावनत हूँ । मित्रवर, डॉ० डी० एल० मौर्य के साथ व्यतीत होने वाले सुखद क्षणों को व्याख्या शाब्दिक वाग्जाल में संभव नहीं है । एक मित्र के रूप में डॉ० मौर्य मुझे सदैव सहयोग देते रहे जिसके लिए मैं अपनी कृतज्ञता अर्पित करता हूँ ।

महाविद्यालय के वर्तमान प्राचार्य डॉ० हरिशंकर शुक्ल एवं परास्नातक विभाग के छात्र-छात्राओं के प्रति मैं आभारी हूँ क्योंकि इलाहाबाद प्रवास के दौरान अध्यापन कार्य में आई हुई रूकावटों को बर्दाश्त करते हुए शोध-प्रबन्ध को अन्तिम रूप प्रदान करने के लिए आप सबने धैर्य का परिचय दिया ।

शोध कार्य में बहुविधि सहयोग के लिए मैं अपने अग्रज मित्रों डॉ० अतुल सिनहा, डॉ० डी० एन० शुक्ल, डॉ० श्रीराम राय, डॉ० ए० पी० ओझा, डॉ० लाल जी त्रिपाठी, डॉ० मानिक चन्द्र गुप्त, डा० बिमल चन्द शुक्ल, डॉ० शिव सहाय सिंह, डॉ० मो०डी० पाण्डेय, डॉ० डी०पी० दुबे, डॉ० के० पी० सिंह तथा श्री राजेन्द्र देव मिश्र के प्रति मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ । डॉ० बहसोलदार सिंह (वरिष्ठ पुलिस उपाधीक्षक, फतेहपुर) के प्रति मेरे मन में अपार श्रद्धा है । उन्होंने अनुजवत् स्नेह देते हुए बांदा प्रवास के दौरान शोध की अनेक गहन समस्याओं को सुलझाने में मेरी भरपूर मदद की । अग्रज के रूपमें आपके द्वारा निभाई गई भूमिकाओं के लिए मैं सदैव आभारी रहूँगा ।

इस महत्वपूर्ण शैक्षिक उपलब्धि की पूर्ववेला पर मैं अपने पूज्य पिता जी एवं माता जी का चरण बन्दन करता हूँ जिन्होंने मुझे इस योग्य बनाया । पिता की वास्तविक भूमिका में सदैव खड़े रहने वाले मेरे श्रद्धेय अग्रज श्री के०डी० द्विवेदी के प्रयासों का ही यह प्रतिफल है कि मैं आज

इस मंजिल तक पहुँच सका । अपनी वरीयताओं को मेरे समक्ष तुच्छ समझने वाले ऐसे आदर्श पुरूष के लिए शाब्दिक कृतज्ञता का कोई भी तरीका अपर्याप्त होगा । वस्तुतः मेरी प्रत्येक सफलता उनके आशीर्वचन एवं स्नेह का परिणाम है । उनके प्रति अपनी आंतरिक भावनाओं को मैं सिर्फ महसूस कर सकता हूँ, उसकी औपचारिक अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है । आदरणीया भाभी जी ने इस दिशा में कार्य करने के लिए जिस रूप में भी मेरी मदद की, उसके लिए मैं उनका आभारी हू । वैयक्तिक रिश्तों को निभाने में सिद्धहस्त पूज्य अग्रज श्री डी० पी० त्रिपाठी का मैं अत्यन्त ऋणी रहूँगा जिन्होंने अपने ही उपवन का बिरवा समझकर मेरी सदैव निगरानी की । भाई श्री देवदास शर्मा एवं श्री राम जी शर्मा द्वारा प्रदत्त सहयोग के लिए मैं आभारी हूँ । अगाध स्नेह एवं आत्मीयता की प्रतिमूर्ति आदरणीया भाभी श्रीमती सरला यादव, प्रियवर हिमांशु एवं दिव्यांशु, शिखी, रूचि तथा शची ने इस शोध कार्य को पूर्ण करने में जो सुखद वातावरण उपलब्ध कराया वह शायद ही किसी को उपलब्ध हो सके । आदरणीया भाभी जी के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए इन बच्चों कोअपनी शुभकामनाएं देता हूँ । मुन्नी के साथ बीते हुए सुखद एवं तार्किक क्षणों से मुझे काफी सहायता प्राप्त हुई, इसलिए उन्हें धन्यवाद देना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ । श्री के०एस० राव की सदाशयता ने इस शोध कार्य को पूर्ण करने में मेरी काफी मदद की, अतएव उनके प्रति मैं अपना आभार व्यक्त करता हूँ तथा हेमन्ती द्वारा की गई सेवाओं के लिए उसे धन्यवाद

देता हूँ ।

प्रियवर राकेश, बृजेश, विनोद एवं ओमप्रकाश ने इस शोध प्रबन्ध को टंकण सम्बन्धी अशुद्धियों को दूर करने में मेरी जितनी मदद की, उसकी सराहना करते हुए मैं इन सबको धन्यवाद देता हूँ । पारिवारिक जिम्मेदारियों से मुक्त रखते हुए मेरी धर्मपत्नी ने मेरे ऊपर जितना उपकार किया है, वह लौटाया नहीं जा सकता । ऐसे अवसरों पर सहधर्मिणी की भूमिका का निर्वाह करने के लिए वे बधाई की पात्र हैं । अवनीश, अनुराग एवं अभिषेक को किलकारियों से दूर रहकर इस श्रम-साध्य कार्य को पूर्ण करना पड़ा । इसके लिए किये गये उनके त्याग को विस्मृत कर पाना मेरे लिए असंभव है ।

अन्त में, इस शोध प्रबन्ध के स्वच्छ, आकर्षक एवं समयान्तर्गत उत्तम टंकण के लिए श्री राज बहादुर पटेल तथा खन्ना टाइपिंग इन्स्टीट्यूट, इलाहाबाद के प्रोपराइटर श्री विनोद कुमार खन्ना को मैं कोटिशः धन्यवाद देता हूँ ।

लवकुश प्रसाद द्विवेदी

इलाहाबाद
15 दिसम्बर, 1993

अनुक्रम

प्रथम अध्याय

दासता का इतिहास लेखन, स्रोत एवं शोध-पद्धति

दासता का इतिहास-लेखन, स्रोत एवं शोध-पद्धति

प्राचीन भारतीय दास प्रथा पर किये गये अनेकानेक अधुनातन सर्वेक्षणों एवं ऐतिहासिक शोधों के परिणामस्वरूप भारतीय दासता की जो तस्वीर उभरती है वह या तो देवराज चानना द्वारा निकाले गये ऐतिहासिक निष्कर्षों के आगे नहीं जा पाती और या भारतीय इतिहास के मूल स्रोतों में प्राप्त होने वाले दासता के विवरणों से अलग किसी पूर्वकल्पित निष्कर्ष को वहन करती हुई दिखाई पड़ती है। चानना द्वारा प्रस्तुत किया गया यह गहन शोध कार्य भी मूलतः पालि ग्रन्थों पर आधारित होने तथा कतिपय अन्य कारणों से लगभग 500 ई0 के आगे नहीं जा पाता। आर0एस0 शर्मा ने चानना की "स्लेवरी इन ऐन्शियेण्ट इण्डिया" नामक प्रसिद्ध पुस्तक की समीक्षा करते हुए कतिपय ऐसी कमियों की ओर इतिहासकारों का ध्यान आकृष्ट किया है जो भारतीय दासता पर और शोध कार्य करने का एक विकल्प प्रस्तुत करता है।[1] ठीक उसी समय इस आशय से एक अवधारणा यह भी बनाई गई कि भारतीय इतिहास के पूर्व मध्य युग में दासता का स्वरूप, उनकी मुक्ति के विधानों उनमें वर्ग चेतना के अभ्युदय तथा अतिरिक्त उत्पादन के लिए दास श्रम की आवश्यकता न रह जाने, दासों के बजाय कृषि- दासों अथवा अर्द्ध दासों के कृषि कार्य में नियोजित किये जाने एवं दासों को केवल अशुभ कार्यों में लगाने के कारण, ह्रासोन्मुखी हो चला था। इसके पीछे एक प्रमुख तर्क यह भी दिया गया कि पूर्वमध्ययुगीन समाजार्थिक

संरचना में कृषि दासता अथवा अर्द्धदासता दास श्रम का स्थानापन्न बन गई थी ।[2] इस सम्बन्ध में एक तर्क यह भी प्रस्तुत किया जाता है कि पूर्व मध्ययुगीन भारतीय दासता के उल्लेख ऐतिहासिक स्रोतों में बहुत कम मिलते हैं इसलिए दासता इस युग में घट रही थी । लेकिन ये सारे कथन दासता के लगभग एक ही पक्ष को उभारते हैं जो ऐतिहासिक स्रोत की नकारात्मक दिशा को स्पष्ट करता है। यदि पूर्वमध्यकालीन दासता के सन्दर्भ में एक सकारात्मक शोध का रुख अपनाया जाय तो उपर्युक्त निष्कर्षों में आपेक्षिक सुधार की संभावनाएं अत्यधिक प्रबल हो जाती है । अतएव प्रस्तुत अध्याय में भारतीय दास प्रथा पर अब तक किए गये ऐतिहासिक अध्ययनों का एक समीक्षात्मक विवरण प्रस्तुत करते हुए हम उन ऐतिहासिक स्रोतों का उल्लेख करेंगें जिनमें पूर्वमध्यकालीन भारतीय दासों के प्रमाण सुरक्षित हैं । साथ में पूर्वमध्ययुगीन दास प्रथा पर अध्ययन करने के लिए अपनायी गई ऐतिहासिक शोध पद्धति का भी विवेचन प्रस्तुत करेगें ।

दास व्यवस्था का इतिहास-लेखन –

यद्यपि भारतीय दास प्रथा पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है लेकिन उनसे दासता के वास्तविक स्वरूप का यथेष्ट संज्ञान नहीं हो पाता । यह कमजोरी अब तक के भारतीय दास प्रथा पर किए गये कार्यों एवं उनसे निकाले गये निष्कर्षों की गहन समीक्षा से उभरकर सामने आ जाती है । भारतीय दासता पर सर्वप्रथम गंभीर अध्ययन प्रस्तुत करने वालों में मान्टेस्क्यू का नाम लिया जाता है ।[3] प्रायः उसके समकालीन आबेरायनाल का भी

नाम लिया जाता है जिन्होंने दक्षिण भारत के कृषि दासों, जिन्हे अछूतों को कोटि में रखा गया था, को दुर्भाग्यपूर्ण अवस्था का चित्रण किया है।[4] 19वीं शताब्दी ई0 में दास प्रथा पर प्रकाशित हुए आबिडुबोइस के शोध सर्वेक्षण मालाबार के दासों को दयनीय स्थिति का चित्रण करते हुए यह दिखाते हैं कि यह संस्था हिन्दू विधि द्वारा स्वीकृत एक वैधानिक संस्था थी और इसकी जड़ को उन्होंने प्राचीन भारत तक फैली बताया है।[5]

1920 ई0 में रिचर्डफिक के " द सोशल आर्गनाईजेशन इन नार्थ-ईस्ट इण्डिया" नामक ग्रन्थ ने एक अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। उनके अनुसार प्रत्येक बड़ा भूस्वामी तथा समृद्ध व्यापारी दैनिक मजदूरी पर दासों के साथ अतिरिक्त श्रमिक के रूप में ही अन्य श्रमिकों को लगाया करते थे। रिचर्डफिक ने बुद्ध एवं उनके बाद के काल में घरेलू दासता के प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कृषकों एवं दासों की स्थिति का चित्रण किया है जबकि मेगस्थनीज ने भारत में दास-प्रथा के अस्तित्व से इन्कार किया था।[6] रिजडेविड्स ने घरेलू दासता के अस्तित्व को साक्ष्यों के आधार पर पुष्ट करते हुए रोम और यूनान की तरह दासों को बड़े पैमाने पर कृषि एवं खानों में नियोजित करने से अपनी असहमति व्यक्त की। यही नहीं उन्होंने भारतीय दासों की दशा को वहाँ की अपेक्षा अच्छी बताते हुए यह सम्भावना व्यक्त की कि मेगस्थनीज को भारत में दास प्रथा इसलिए नहीं दिखाई पड़ी क्योंकि वह पाश्चात्य

देशों के दासों को भारतीय सन्दर्भ में ढूँढ़ रहा था ।[7] रिजडेविड के बाद आर० के० मुकर्जी ने भी इसी से मिलता-जुलता तर्क प्रस्तुत किया ।[8]

प्राचीन भारतीय दासता पर सर्वप्रथम मार्क्सवादी ढांचे को आरोपित करने वाले इतिहासकारों में एस०ए० डांगे का नाम लिया जाता है जिन्होंने सर्वप्रथम यह मत व्यक्त किया कि भारत में दासता के सन्दर्भ कोई आकस्मिक घटना के परिणाम नहीं थे । विश्व की अन्य सभ्यताओं की तरह भारत में दासता समाजार्थिक संरचना का आधार थी और भारत आदिम समाज से दास समाज की ओर अभिमुख हुआ था ।[9] 1949 में डांगे ने भारतीय दासता एवं सामन्तवाद की परिभाषा देते हुए लिखा कि " हम कह सकते हैं कि एक तरफ जहाँ वर्णाश्रम धर्म जंगल युग की उत्तरवर्ती दशा की न्यायिक -नैतिक अभिव्यक्ति है और साथ ही दासता एवं सभ्यता की अभिव्यक्ति है वहीं दूसरी ओर जाति-व्यवस्था भारतीय सामन्तवाद के उद्भव और विकास की द्योतक है ।"[10] डांगे के अनुसार प्राचीन भारत में दासता उत्पादन का प्रमुख आधार थी और विश्व की अन्य सभ्यताओं से अलग प्रकार की दासता यहाँ नहीं थी ।[11]

भारतीय इतिहास पर पैनी दृष्टि अपनाते हुए इतिहास लेखन के प्रति समर्पित डी०डी० कोसम्बी ने डांगे द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त इतिहास की तकनीकी अवधारणा की कटु आलोचना की । लेकिन कोसम्बी ने भी उत्पादन सम्बन्धों में सेवि वर्ग के निर्माण को एक प्रधान परिवर्तन करार दिया ।[12] कोसम्बी के अनुसार यह सेवि वर्ग प्राचीन

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में निरन्तर विकसित होता हुआ धीरे-धीरे शूद्रों का सामीप्य ग्रहण कर बैठा। यद्यपि समस्त शूद्रों को दास से तनीकृत नहीं किया जा सकता लेकिन दास और शूद्र मिलकर इस सेवि वर्ग का निर्माण करते थे जिनमें कर्मकरों को भी शामिल कर लिया गया। इस प्रकार कोसम्बी ने प्राचीन भारतीय सामाजिक संरचना की विशिष्टताओं कोढूंढते हुए एक सीमा तक दासता की रूपरेखा को निर्धारित करने का प्रयास किया। भारतीय इतिहास में कोसम्बी ने दासों को उत्पादन पद्धति एवं सामाजिक संरचना से जोड़कर एक ऐसे संतुलित ज्ञानका परिचय दिया जो आगे कें इतिहासकारों के लिए मार्गदर्शक सिद्ध हुआ। साथ ही दासों को पण्य वस्तु के रूप में चित्रित करके भविष्य में इनके व्यापार कामार्ग भी प्रस्तुत कर दिया गया।[13] डांगे एवं कोसम्बी दोनो की भारतीय समाजार्थिक संरचना में दासों की भूमिका के अध्ययनों में कुछ कमियों की ओर कतिपय इतिहासकारों ने संकेत किया है।[14]

यू० एन० घोषाल[15] तथा के०एम० सरन[16] ने क्रमशः लगभग 200 ई०पू०से 400 ई० के बीच तथा प्राचीन भारत में श्रम की विभिन्न कोटियों में से एक कोटि के रूप में दासो की चर्चा की है। इन दोनों ने दासों का वर्णन विवरणात्मक पद्धति से ही कियाहै।

1960 में डॉ० आर० चानना ने प्राचीन भारतीय दास प्रथा को समर्पित एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का प्रणयन[17] करके एकऐसा" मील का पत्थर"

गाइ दिया जो भले ही केवल पालि ग्रन्थों पर आधारित लगभग 500 ई0 तक का दासता का इतिहास अपने में समेटे हुए रहा हो फिर भी आगे आने वाले उन इतिहासकारों, जो भारतीय दास प्रथा पर का करना चाहिते थे, के लिए एक अनिवार्यता बनगई । चानना ने पहली बार दास-प्रथा पर किये गये इतिहास-लेखन का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए सैन्धव सभ्यता से लेकर मौर्योत्तर तक का भारतीय दासता का विशिष्ट अध्ययन प्रस्तुत किया । अपने इस ग्रन्थ में स्मृतियों के हवाले से नारद एवं कात्यायन तक के दासों को अध्ययन का विषय बना लिया है । डॉ0 आर0 चानना ने सेवि वर्ग के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए उसे उत्पादन प्रक्रिया के साथ-साथ युद्ध के साथ भी जोड़ने का प्रयास किया । लेकिन चानना का कार्य कोई ऐसा मौलिक परिवर्तन प्रदर्शित करता हुआ नहीं प्रतीत होता जैसा कि उसकाल की भारतीय अर्थव्यवस्था के मौलिक परिवर्तनों में घटित हो रहा था । आर0 एस0 शर्मा ने चानना के इस ग्रन्थ की कमियों को उजागर करते हुए यह दिखाया है कि इस ग्रन्थ में भारतीय दासता एक स्थाई भूमिका में खड़ी दिखायी देती है, उसमें कोई हलचल नहीं होती है जबकि प्राचीन भारतीय दासता कास्वरूप समय-समय पर परिवर्तित होता रहा है । समाजार्थिकपरिवर्तनों के साथ दासता को जोड़कर अध्ययन करने का प्रयास चानना ने नहीं किया ।[18]

1965 में लल्लन जी गोपाल ने अपने एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में पूर्वमध्यकालीन दास-प्रथा पर एक अलग अध्याय लिखकर चानना द्वारा छोड़े

हुए अधूरे पक्ष को कुछ सीमा तक पूरा करने का प्रयास किया ।[19] इस प्रयास में उन्होंने पूर्वमध्यकालीन भारत में दासों के प्रमाणों के आधार पर यह मत व्यक्त करने की कोशिश की कि अधीत काल में दासों का आयात-निर्यात हो रहा था । दास एक वस्तु के रूप में बेचे जा रहे थे । सैकड़ों युद्धों में हजारों की संख्या में युद्धबन्दी दास बनाये जा रहे थे । इसके बावजूद स्मृतियों में दास-मुक्ति की अनेक व्यवस्थाएं, उनके वैधानिक अधिकार तथा कतिपय अन्य उच्च स्थिति के प्रमाण मिलते हैं । इन प्रमाणों के आधार पर लल्लन जी गोपाल ने यह मत व्यक्त किया कि पूर्व मध्यकालीन भारत में दासों की स्थिति में परिमाणात्मक वृद्धि तो हो रही थी लेकिन गुणात्मक गिरावट का प्रमाण भी विद्यमान था । मानव मूल्यों में गिरावट को संख्यात्मक वृद्धि के साथ स्वीकार करते हुए गोपाल ने दासों को पूर्वमध्यकाल में कृषि एवं अन्य उत्पादन कार्यों में संलग्न दिखाते हुए अशुभ कार्यों से दासों के पार्थक्य को दिखाने का प्रयास किया ।[20]

प्राचीन भारतीय समाजार्थिक इतिहास-लेखन में क्रान्तिकारी परिवर्तनों के लिए आर०एस० शर्मा द्वारा किये गये योगदान को इस अवसर पर विस्मृत नहीं किया जा सकता । यद्यपि उन्होंने भारतीय दास प्रथा पर अलग से कार्य नहीं किया लेकिन अपने अनेक ऐतिहासिक मानक ग्रन्थों में सामन्ती समाज की अर्थव्यवस्था के अभ्युदय के लिए दास श्रम की आवश्यकता को महसूस करते हुए भारतीय दासता पर बहुत कुछ लिखा है ।[21] उन्होंने उत्पादन पद्धति और सेवि वर्ग के बीच अटूट रिश्ता कायम

करते हुए त्रैवि वर्ग को अधिकांशतया ऐसे शूद्रों से निर्मित बताया जो दास थे। ऐसी विद्वतापूर्ण संकल्पनाओं में उन्होंने दासों एवं शूद्रों के बीच में कोई मौलिक अन्तर नहीं रखा है। डी०डी० कोसम्बी द्वारा अपनाए गये रास्ते को आगे बढ़ाते हुए आर०एस० शर्मा ने यह मत व्यक्त किया कि पूर्वमध्यकालीन भारत में दासता का स्वरूप ह्रासोन्मुखी हो गया था जिसके कारणों की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है कि अतीत काल में दासों में वर्ग चेतना का संचार हो रहा था, उनकी मुक्ति के विधान बनाए जा चुके थे तथा दासों को केवल अशुभ कर्मों में नियोजित करके शुभत्व की सीमा में आने वाले कार्यों से उन्हें पृथक कर दिया गया था और विशुद्ध रूप से घरेलू दासता अतीत काल में प्रचलित थी।[22] इस युग में आकर अतिरिक्त उत्पादन दास श्रम पर आधारित न होकर बेगार श्रम पर आधारित हो गया और इस प्रकार दासता मूलक समाज एवं अर्थव्यवस्था के ढाँचे के ढह जाने के बाद उसके बिखरे हुए टुकड़े पर सामन्ती समाज और अर्थव्यवस्था की शानदार इमारत खड़ी हो गई।[23] इस प्रकार आर० एस० शर्मा ने पहली बार भारतीय दास प्रथा को ऐतिहासिक भौतिकवादी विकास की प्रक्रिया से जोड़कर एक ऐसे युग का सूत्रपात किया जिसका अधिकांश इतिहासकारों ने अनुकरण करने का प्रयास किया लेकिन इतिहास-कारों का एक दूसरा वर्ग ऐसा भी था जो इन प्रतिस्थापनाओं से अपनी साक्ष्यसम्मत असहमति व्यक्त करते हुए दासों को ऐसी किसी भी संरचना के लिए आवश्यक नहीं मानता।[24]

जे०डी० एम० डेरेट,[25] पी०सी०जैन[26] तथा डी०एन० गांगुली[27] ने भारतीय दास प्रथा पर कुछ प्रकाश डाला है। डेरेट ने दासों के वैधानिक पक्ष को उभारा तथा पी सी० जैन ने के० एम० सरन की तर्ज पर श्रमिकों की एक कोटि के रूप में दासों का एक रूप प्रस्तुत किया जबकि गांगुली ने ब्रिटिश काल की भारतीय दासता का चित्र उपस्थित किया है।

बी०एन० एस० यादव[28] ने पहली बार प्राचीन भारतीय समाजार्थिक संरचना में सामन्तवादी प्रवृत्तियों को ढूंढते हुए स्वामी-सेवक सम्बन्ध को सामन्तवाद की अवधारणा का एकमुख्य तत्त्व माना है। इनके अनुसार पूर्व मध्यकाल में राजनीतिक अस्थिरता, व्यापार एवं वाणिज्य में आने वाली गिरावट के कारण कृषकों के कृषि दासत्व की प्रवृत्ति भी जोर पकड़ने लगी। पूर्व मध्यकालीन ताम्रपत्रों एवं प्रस्तर लेखों में घने जंगलों एवं कबायली इलाकों में ब्राह्मणों को भूमिदान एवं ग्रामदान बड़े पैमाने पर दिये जाने लगे। स्पष्टत: नई भूमि खेती योग्य बनाई जा रही थी और इसी के साथ-साथ वर्ण व्यवस्था की परिधि के बाहर कबायली जनसंख्या भी खेती-बाड़ी में उनके योगदान के माध्यम से वर्ण व्यवस्था के अन्दर धीरे-धीरे लाई जा रही थी। इनके अनुसार इस प्रक्रिया ने, कृषकों के कृषि-दासत्व की प्रवृत्ति कोबढ़ावा दिया होगा।[29] पूर्व मध्यकालीन दान पत्रों में दिखाई पड़ने वाली कतिपय प्रवृत्तियों के आधार पर आर०एस० शर्मा यह निष्कर्ष निकालते हैं कि भूमि दानों के माध्यम से समाज में एक मध्यस्थ हिताधिकारी वर्ग की सृष्टि हो गई

जिसने कृषकों पर अपने शोषण का सिकंजा कस लिया और उन्हें अपनी अनार्थिक जोर जबरदस्ती का शिकार बनाकर धीरे-धीरे कृषि दासत्व की सोचनीय स्थिति में पहुँचा दिया। इस प्रकार भूमिदानों के माध्यम से होने वाला खेती का यह प्रसार कृषकों की कीमत पर हुआ जिसके अन्तर्गत बेगार श्रम दास श्रम का स्थान ले रहा था और कृषकों को कृषि दासत्व की ओर ढकेलता जा रहा था।[30] बी०एन० एस० यादव ने आर०एस० शर्मा द्वारा निकाले हुए इन निष्कर्षों से अपनी सहमति व्यक्त करते हुए पूर्वमध्यकालीन भारतीय दासता के स्वरूप को ह्रासोन्मुखी बताया है। इन्होंने पहली बार ज्योतिष ग्रन्थों के आधार पर पूर्व मध्यकालीन भारतीय दासता को अपने पूर्व स्थापित प्रतिमानों में पिरो कर एक ऐसा ढाँचा खड़ा किया जिसमें प्रेष्य, भृतक, दास, कर्मकार, बन्धकी तथा अन्य सेवि वर्गों के बीच कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं दिखाई पड़ता।[31] जी० आर० कुप्पुस्वामी ने कर्नाटक की आर्थिक दशा का चित्रण करते हुए भारतीय दासता के कतिपय पक्षों पर प्रकाश डाला है।[32] अपने इस प्रणयन में उन्होंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि सामान्य व्यक्ति को विपन्नावस्था में कभी-कभी दासता में घसीट लिया जाता था। बी० डी० चट्टोपाध्याय[33] ने इसकी समीक्षा करते हुए लिखा है कि इस लेखक ने दासों की एक ऐसी अवधारणा लागू करने की कोशिश की है जो पूर्व मध्यकालीन कर्नाटक की अर्थव्यवस्था की विकास की प्रक्रियाओं से उसे दूर ले जाती है। 1976 में सन्ध्या मुकर्जी ने अपने मानक ग्रन्थ

में दासों के ऊपर एक अलग अध्याय जोड़ा ।[34] के० एम० श्रीमाली[35] ने दासत्व पर जोड़े गये इस अध्याय को एक सर्वोत्कृष्ट प्रयास बताया है। सान्ध्या मुकर्जी ने इस तरफ कौसल्बो को दासता विषयक अवधारणा पर चिन्तन करते हुए भारतीय दासों के प्रति आमानवीय व्यवहार को उजागर करने का प्रयास किया है । साथ ही यह मत व्यक्त किया है कि भारत में दासो की कोई जाति नही थी और स्मृतियों द्वारा किसी जाति आधारित दास समाज के अस्तित्व इन्कार किया है । आधुनिक सन्दर्भों के मौलिक अधिकारों की तरह दासों के कतिपय वैधानिक अधिकारो की चर्चा भी इन्होंने की है । अमल कुमार चट्टोपाध्याय ने आधुनिक बंगाल के दासों पर एक अध्ययन प्रस्तुत किया है।अपने इस प्रयास में उन्होंने यह दिखाया है कि बंगाल में कृषि में दासों का विशाल पैमाने पर नियोजन होता था [36] यद्यपि कुछ इतिहासकारों ने इस सम्भावना से इन्कार किया है ।

1981 में भारत में बेगार प्रथा पर एक नवीन ग्रन्थ जी०के० राय[37] द्वारा प्रस्तुत किया गया जो 'नई बोतल में पुरानी शराब' भरने जैसा है। अपने इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ में उन्होंने यह दिखाने का प्रयास कियाहै कि पूर्वमध्यकालीन भारत में दास प्रथा पतनोन्मुख थी और उसका स्थान विष्टि ने ले लिया था । विष्टि और बेगार एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। डी०सी० सरकार[38] ने इससे इनकार करते हुए विष्टि को सही अर्थों मे समझने की आवश्यकता पर जोर दिया । जी०के० राय ने अर्थशास्त्र

में उल्लिखित विष्टि को बेगार श्रम के रूप में चित्रित करते हुए यह मान्यता स्थापित की कि 600 से 1200 ई0 में भारत के बीच न तो कोई सम्पन्न राज्य था और न ही कोई शक्तिशाली अधिपति ।[39] यह एक ऐसी अवधारणा थी जो कतिपय इतिहासकारों द्वारा अमान्य घोषित कर दी गई ।[40] इस प्रकार उनके दासों के पतन तथा विष्टि (बेगार) द्वारा उसे स्थानान्तरित करने की योजना पर प्रश्न चिन्ह लग गया। 1982 में दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ भारतीय दासता के सन्दर्भ में प्रकाशित हुए जो एस0 मनिकम् तथा शीला चतुर्वेदी द्वारा क्रमशः तमिल देश की दासता[41] एवं तुर्ककालीन भारत की मुस्लिम दासता[42] से सम्बन्धित थे । एस0 मनिकम ने दासता का क्षेत्रीय इतिहास उभारने का प्रयास किया और शीला चतुर्वेदी ने तुर्ककालीन भारत की मुस्लिम दासता को अपना लक्ष्य बनाया । इस ग्रन्थ में चतुर्वेदी ने केवल राजकीय दासों की चर्चा की है, सामान्य दासों की चर्चा जाने अनजाने यत्र-तत्र दिखाई पड़ जाती है । इन्होंने मुस्लिम दासता को विशिष्ट कोटि की दासता बताने का प्रयास किया जो कतिपय इतिहासकारों द्वारा स्वीकार नहीं किया जाता ।

अजय मित्र शास्त्री ने आर0एस0 शर्मा के इस कथन पर आपत्ति दर्ज की कि छठीं शताब्दी ई0पू0 से लेकर पांचवी शताब्दी ई0 के बीच उत्पादन की प्रमुख जिम्मेदारी वैश्यों पर थी जो शूद्र दासों एवं वेतन-भोगी श्रमिकों के श्रम से अनुपूरित थी ।[43] अजय मित्र शास्त्री ने यह मत व्यक्त किया कि भारत में सामन्तवाद के अभ्युदय के जिन क्षणों में दास श्रम को

कृषि के क्षेत्र में अनावश्यक बताया जा रहा था, उस युग में दासों को कृषि के क्षेत्र में अवश्य ही लगाया जाता रहा होगा ।[44] इन्होंने यह प्रश्न उठाया है कि सैकड़ों की संख्या में वे दास जो विनिमय के संसाधनों के रूप में प्रसिद्ध थे यदि कृषि कार्य में नियोजित नहीं किये जाते थे तो उनकी इतनी बड़ी संख्या को किस क्षेत्र में खपाया जाता था ? व्यक्तिगत पैमाने पर इतने अधिक दासों को केवल घरेलू कार्यों एवं जानवर चराने के कार्यों में ही नहीं खपाया जा सकता था।[45]

1984 में श्रम के राजस्वीय संदोहन से सम्बन्धित एकअलग अध्याय को अपने मानक ग्रन्थ की विषय-वस्तु बनाकर डॉ० एन0 शुक्ल ने इतिहास में कतिपय नवीन अध्यायों का सृजन किया ।[46]इस प्रयास में उन्होंने दास श्रमको श्रम की एक प्रमुख कोटि मानते हुए इतिहासकारों की उस स्थापना से असहमति व्यक्त की कि दासता पूर्वमध्य युग में घट रही थी । जहाँ एक और दास व्यापार से राजस्व में वृद्धि का नवीन आयाम उपस्थित किया है [47] वहीं बेगार श्रम को दास श्रम एवं स्वतन्त्र श्रम के बीच एक मध्यवर्ती श्रम की एक कोटि बताया है जिसका जी0सी0 पाण्डे[48] ने आंशिक रूप से समर्थन भी किया है ।

शरद पाटिल ने "दास-शूद्र स्लेवरी" नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में दासों को भारतीय मूल स्रोतों के सन्दर्भ में चित्रित करते हुए सामन्तवादी प्रवृत्तियों एवं उनकी दार्शनिक अवधारणाओं के विशिष्ट सन्दर्भ में उभारने की कोशिश की है उन्होंने दासता के इतिहास-लेखन की समस्या पर

दृष्टिपात करते हुए कतिपय पूर्व प्रतिस्थापित मान्यताओं को अपने अध्ययन की कसौटी परखने का प्रयास किया है । निष्कर्षतः उन्होंने मार्क्सवादी अवधारणा का पक्ष प्रस्तुत करते हुए भारतीय दासों का पूर्वकालीन सन्दर्भ प्रस्तुत किया है ।[49] इरफान हबीब ने इस योगदान को प्राचीन भारत की मार्क्सवादी अवधारणा को समझने में सहायक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ घोषित किया ।[50]

1985 में उत्स पटनायक द्वारा सम्पादित एक नवीन कृति[51] सामने आई जिसमें प्राचीन भारतीय दास, कर्मकर एवं सेविवर्ग से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण अध्याय उमा चक्रवर्ती द्वारा प्रस्तुत किया गया जिसके अन्तर्गत उन्होंने प्राचीन भारतीय दासता को ऐतिहासिक दासता तथा उत्पादन से उसके सम्बन्ध को निरूपित करने का प्रयास किया । उमाचक्रवर्ती के निष्कर्ष आर०एस० शर्मा द्वारा निःसृत निष्कर्षों से आगे नहीं जा पाते ।

1987 में डी०एन० झा ने अपनी एक सम्पादित कृति[52] में दासों के कतिपय महत्वपूर्ण पक्षों पर आंशिक प्रकाश डाला है। डी०एन० झा ने पूर्व मध्यकालीन भारत में दासता के उल्लेखों के आधार पर भारतीय समाजार्थिक संरचना का जो स्वरूप प्रस्तुत किया वह आर०एस० शर्मा के निष्कर्षों से मेल खाता हुआ दिखाई पड़ता है ।[53] इतिहास की मार्क्सवादी अवधारणा के प्रति अधिक जागरूकता दिखाते हुए डी०एन०झा भारतीय सामन्तवाद का उद्भव समाजार्थिक व्यवस्था के अन्तर्विरोधों से दिखाने के

प्रयास में कलियुग वृत्तान्त को पौराणिक परम्परा में मौर्यों के काल में होने वाले कृषि-प्रसार के कारण भूमि पर बढ़ते हुए दबाव से उत्पन्न वर्ग-संघर्ष की झलक देखते हैं ।[54]

डॉ०एन० झा ने कार्ल विटफागेल की 'द्रवचालित समाज' की संकल्पनाओं के आधार पर दासों के उपयोग को कृषि के क्षेत्र में आवश्यक एवं अनावश्यक जैसी जहाँ आवश्यकता पड़ी दिखाने का प्रयास किया । एस०पी० तिवारी[55] ने राजकीय परिचरों पर एक महत्वपूर्ण ग्रन्थप्रकाशित किया जिसके अन्तर्गत उन्होंने एक ऐसी वृहत्तर संकल्पना प्रस्तुत की जिसके अन्तर्गत प्रायः समस्त परिचरों एवं अनुचरों को दासों के रूप में अप्रत्यक्षतः चित्रित कर दिया गया ।

1988 में ओम प्रकाश ने पूर्वकालीन भारतीय अनुदान पत्रों एवं राज्य अर्थव्यवस्था पर एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किया जिसमें उन्होंने अभिलेखों के आधार पर यह दिखाने का प्रयास किया है कि भारत में व्यक्तिगत भू-स्वामित्व एवं सामुदायिक भू-स्वामित्व की मार्क्सवादी अवधारणाओं मेंकतिपय सुधार की आवश्यकता है। सामुदायिक भू-स्वामित्व और व्यक्तिगत भू-स्वामित्व में दासों के विभिन्न कार्यों में नियोजन पर भी अप्रत्यक्ष रूपसे कुछ प्रकाश डाला है ।[56] 1992 में इतिहास की विभिन्न अवधारणाओं का सूक्ष्म विश्लेषण करता हुआ एक दूसरा ग्रन्थ उनके द्वारा प्रस्तुत किया गया जिसमें स्पष्टतया यह रेखांकित किया गया है कि भारतीय समाजार्थिक संरचना में न तो मार्क्स की 'एशियाई उत्पादन पद्धति'

की योजना लागू होती है और न ही पाश्चात्य देशों के लिए उनके द्वारा बनाई गई ऐतिहासिक विकास की अवधारणा ही लागू होती है।[57]

1990 में सुस्मिता पांडे, विवेकदत्त झा तथा ओम प्रकाश के संयुक्त-लेखन में ओम प्रकाश द्वारा प्रस्तुत सामन्तवादी राज्य व्यवस्था नामक अध्याय[58] यदि एक ओर भारतीय सामन्तवाद पर प्रस्तुत किये जाने वाले विभिन्न दृष्टिकोणों को खुलासा करता है तो दूसरी ओर भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था के लिए दास श्रम के औचित्य तथा अनौचित्य परभी गहन दृष्टिपात करता है। 1992 में भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद, नई दिल्ली ने 'द इण्डियन हिस्टॉरिकल रिव्यू' के 'द वर्ल्ड आफ स्लेवरी' नामक विशेषांक[59] में भारतीय दास प्रथा पर तीन महत्त्वपूर्ण शोध लेख एवं दस्तावेज प्रस्तुत किये जो इरफान हबीब एवं पुष्पा प्रसाद तथा उमा चक्रवर्ती के योगदान का हवाला देते हैं।

भारतीय दास-लेखन पर प्रस्तुत किये गये उपर्युक्त ऐतिहासिक विवेचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत के पूर्वमध्यकालीन सन्दर्भ में दास प्रथा पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं लिखा गया। केवल छिट-पुट विवरणों में ही अनेकों मान्यताएं बिखरी पड़ी है। पूर्वमध्यकालीन दासता के समग्र अध्ययन से सम्बन्धित यह शोध-प्रबन्ध इसी रिक्ति को भरने का एक उपक्रम है, साथ ही यह दासों के सम्बन्ध में पूर्वप्रतिस्थापित मान्यताओं को वास्तविक ऐतिहासिक स्रोतों के आलोक में देखने एवं समझने का एक लाघव प्रयास भी।

स्रोत -

प्राचीन भारत में कोई भी ऐसा ग्रन्थ नहीं मिलता जिसका उद्देश्य दासता का विवेचन रहा हो । इसलिए दासता का इतिहास-लेखन विभिन्न प्रकार के प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में आने वाले दासता के प्रासंगिक उल्लेखों पर आधारित है। इस प्रकार एकत्र की गई सामग्री जब तक अभिलेखिक साक्ष्यों और विदेशी विवरण से अनुपूरित नहीं की जाती तब तक प्राचीन भारतीय दासता के इतिहास-लेखन के प्रमुख स्रोतों का अलग से उल्लेख उनमें निहित विशिष्ट सामग्री के अपेक्षित संकेत के साथ देना आवश्यक है । मूल स्रोतों के सम्बन्ध में इससे एक दृष्टि बनेगी और उसकी व्यापकता का भी आभास होगा ।

पूर्वमध्यकाल के दासता-विषयक प्रमाणों से सम्बन्धित जिन स्रोतों की चर्चा की जा सकती है उनमें साहित्यिक पुरातात्विक एवं विदेशी विवरणों सभी का उल्लेखनीय स्थान है । भारतीय सन्दर्भों में हेरोडोटस तथा लिवी जैसे लेखकों के अभाव के कारण किसी ऐसे विशुद्ध ग्रन्थ का अभाव मिलता है फिर भी भारतीय साहित्य की विविध सामग्री दासों के पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत कर देती है। इस साहित्य का हमने क्रमानुसार विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया है/पूर्वमध्यकालीन समय सीमा के अन्तर्गत आने वाले स्रोतों का विशिष्ट सन्दर्भ तो उभारा हो गया है लेकिन भारतीय दासता के समग्र स्वरूपको उभारने के प्रयास में हमने कौटिल्य

के अर्थशास्त्र एवं मनु विरचित मनुस्मृति को भी अध्ययन का प्रमुख आधार बनाया है। इसका एक कारण यह भी है कि पूर्वमध्यकालीन भारतीय दासता का पूर्ववर्ती स्वरूप इन्हीं ग्रन्थों में बखूबी निरूपित है। वैसे भी पूर्वकालीन भारतीय समाजार्थिक संरचना एवं पूर्वमध्यकालीन भारतीय संरचना के बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए ये दो प्रधान स्रोत हैं। इसलिए दृष्टार्थक विधानों की योजना से परिपूर्ण अर्थशास्त्र तथा अदृष्टार्थक विधानों के प्रतिनिधि के रूप में मनु-स्मृति का अध्ययन प्रसंगतः अपेक्षित था। कौटिल्य ने पहली बार दासों के ऊपर एक दास कल्प नामक अध्याय ही लिखा है।

धर्मशास्त्रीय विधानों की श्रृंखला में मनु-स्मृति के बाद याज्ञवल्क्य स्मृति, नारद स्मृति तथा बृहस्पति एवं कात्यायन स्मृति का नाम आता है। ये सभी स्मृतियाँ दासों के अनेक विवरण प्रस्तुत करती हैं। यदि याज्ञवाल्क्य दास के साथ विवाद न करने का सलाह देता है तो नारद दासों की 15 कोटियों की लम्बी सूची प्रस्तुत करता है। बृहस्पति स्मृति शुभ एवं अशुभ कर्मों का उल्लेख करते हुए दासों को प्रधानतया अशुभ कर्मों में नियुक्त बताती है। कात्यायन दास मुक्ति की अनेक व्यवस्थाएं देती है तथा दासों को सैनिक कार्यों में संलग्न बताने का महत्त्वपूर्ण साक्ष्य प्रस्तुत करता है। स्मृतियों की इस श्रृंखला में पराशर भी दासों का प्रमाण प्रस्तुत करता है। स्मृतियों पर लिखी गयी विभिन्न टीकाओं में दासों के विविध रूपों का चित्रण किया गया है। चाहे विश्वरूप हों

हों अथवा मेधातिथि , विज्ञानेश्वर हों अथवा अपरार्क या कुल्लूक भट्ट, सभी ने दासों के सम्बन्ध में अपनी-अपनी स्थितियाँ स्पष्ट की हैं । स्मृति-चन्द्रिका में दासों के ऊपर बहुत अधिक सामग्री मिलती है। दासों की मुक्ति के विधान, सामाजिक स्थिति आदि की चर्चा इस ग्रन्थ में सुरक्षित है।

जहाँ तक धर्मशास्त्रों की परम्परा से अलग हटकर लिखे गये साहित्यिक ग्रन्थों का प्रश्न है उनमें भी दासों की भरपूर चर्चा मिलती है। पूर्वमध्यकालीन भारत की प्रथम सीढ़ी पर रखे जाने वाले ऐसे साहित्यिक ग्रन्थों में हर्षचरित एवं कादम्बरी की चर्चा की जा सकती है जिनमें दासों की प्रभूत प्रमाण मिलते हैं । दशकुमारचरित पण्यदासी का उल्लेख करता है और कुट्टनीमतम् दास-दासियों के अनेकों विवरण देता है । कर्पूरमंजरी में विचक्षणा नामक सुप्रसिद्ध दासी का विवरण सुरक्षित है । कथासरित्सागर दास-दासियों की अनेक महत्वपूर्ण कहानियों को अपने में संजोए हुए है । वासुदेवहिण्डी तथा यशस्तिलकचम्पू में भी दास-दासियों के उल्लेख मिलते हैं । हेमचन्द्र के ग्रन्थों में दासों के भरपूर उल्लेख मिलते हैं जिनमें विशेष रूप त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित की गणना की जा सकती है । शुक्रनीतिसार, तिलकमंजरी , कुवलयमाला तथा मानसोल्लास एवं समराइच्चकहा से दास-दासियों के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं । राजतरंगिणी दासों के धार्मिक पक्ष का उद्घाटन करते हुए दासियों के अपने मालिक के साथ सती होने होने का प्रमाण प्रस्तुत करती है। गणितसार संग्रह, लीलावती, लेखपद्धति

तथा उपमिति भवप्रपंचाकथा दास-व्यापार का साक्ष्य प्रस्तुत करता है लेख-पद्धति तथा लिखनावली दासों के कृषि कार्य में नियोजन के साथ-साथ उनके क्रय-विक्रय के दस्तावेज भी प्रस्तुत करती हैं । कृत्यकल्पतरू तथा मदनरत्नप्रदीप भी दासों के कुछ विवरण देते हैं । ज्योतिषशास्त्र के ग्रन्थों में भी दासों के विवरण सुरक्षित है । ऐसे ग्रन्थों में बृहत्संहिता, बृहज्जातक तथा वृद्धयवन-जातक की चर्चा करना अपेक्षित है। ये सभी ग्रन्थ दासों की कई अवस्थाओं का चित्रण करते हैं । अग्नि, वायु तथा कतिपय अन्य पुराणों में भी दासों के प्रमाण मिलते हैं । अमरकोश, शब्दकल्पद्रुम तथा वाचस्पत्यम् जैसे कतिपय पारिभाषिक ग्रन्थों में भी दासों के यथेष्ट प्रमाण सुरक्षित है ।

जहाँ तक दासों के विवरण से सम्बन्धित अभिलेखीय साक्ष्यों का प्रश्न है, अशोक के अभिलेखों से लेकर राउलबेल अभिलेख, बेलूर अभिलेख शिवस्कन्दवर्मन का पल्लव ताम्रपत्र अभिलेख तथा 1165 ई0, 1200 ई0 एवं 1343 के तीन दक्षिण भारतीय अभिलेख जो क्रमशः एपिग्राफिया कर्नाटिका, भाग-5, एपिग्राफिया इण्डिका, भाग- 29 तथा एपिग्राफिया कर्नाटिका, भाग-6 में प्रकाशित हैं, की विशेष रूप से चर्चा की जा सकती है जो उनके साम्पत्तिक अधिकारों से सम्बन्धित हैं । ये दक्षिण भारतीय अभिलेख चिकमंगलूरतालुक, अबलर एवं बेलूर तालुक से प्राप्त हुए हैं। तिलोथा अभिलेख में उत्कीर्ण मूर्ति के पैरों के पास राजा प्रतापधवल की पाँच दासियों के नाम खुदे हैं । विदग्ध के संगल ताम्रपत्र में भूमि अनुदानों के साथ दास-दासियों को दान देने की चर्चा मिलती है । इन्द्रवर्मन प्रथम के

यांगि ककुस्टेला अभिलेख में दास-दासियों के प्रमाण मिलते हैं । दसवीं शताब्दी ई0 का कम्ब भूमिदान तथा धार लेख दासों की कतिपय जानकारी प्रस्तुत करता है ।

विदेशी यात्रियों के विवरणों से विशेष कर दास-व्यापार की चर्चा मिलती है लेकिन अल्बेरूनी के विवरण भारतीय दासों की सामाजिक स्थिति का भी उल्लेख करते हैं । कुछ मुस्लिम इतिहासकारों ने, जिनमें मीर मासूम, अलबिलादुरी तथा बरनी आदि का उल्लेख किया जा सकता है, भी भारतीय दासों के बारे में कई मनोरंजक साक्ष्य प्रस्तुत किये हैं ।

इस प्रकार उपर्युक्त ऐतिहासिक स्रोतों के सूक्ष्म विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकालीन भारत में दासों के प्रमाण किसी अपवाद स्वरूप घटना के रूप में नहीं आये हैं बल्कि इनमें इनका विस्तृत लेखा-जोखा ही मिलता है। इन साक्ष्यों के आलोक में पूर्वमध्यकालीन भारत में दासता के ह्रास की बात नहीं की जा सकती और न यही कहा जा सकता है कि ये सारे के सारे दास अर्धदासता के लक्षणों से संयुक्त थे । इन दासों के विवरणों की विस्तृत जानकारियाँ इस शोध प्रबन्ध में जगह-जगह पर देखने को मिल जायेगी ।

<u>शोध पद्धति -</u>

प्रस्तुत शोध पबन्ध में अपनाई गई शोध पद्धति दासता के

विवेचन के मूल उद्देश्यों से प्रेरित है -

1- प्राचीन भारतीय दासता का स्वरूप एवं उसकी अवधारणा क्या थी ? क्या यह ग्रीस एवं रोम की दासता विषयक अवधारणाओं से मेल खाती है ?

2- भारतीय दासता ईसाई, इस्लामी तथा दोनों अवधारणाओं से किस सीमा तक समान दिखाई पड़ती हैं ?

3- दासता एवं सेवि वर्ग में क्या अन्तर था ? क्या प्राचीन भारतीय सेवि वर्ग पूर्णतया दासों से ही बना था ?

4- भारतीय दासता का बदलती हुई उत्पादन पद्धति के विभिन्न प्रतिमानों से क्या सम्बन्ध था ? क्या भारतीय दास मार्क्सवादी अवधारणा के अनुरूप किसी वर्ग का निर्माण करते थे अथवा नहीं ?

5- दासों की पूर्वमध्यकाल में मिलने वाली विभिन्न कोटियों, उनके नियोजन एवं सामाजिक स्थिति के विशिष्ट सन्दर्भों में क्या भारतीय दासता के स्वरूप को ह्रासोन्मुखी कहा जा सकता है ?

6- दास-व्यापार से पूर्वमध्यकालीन दासता पर क्या असर पड़ा ?

7- पूर्वमध्यकालीन भारत में दासियों की धर्मगत विशिष्टता का स्वरूप कैसा था ?

इस शोध-पद्धति की एक अन्य विशेषता शोध दृष्टि को उत्पादन प्रक्रिया के अंग के रूप में दासता पर चित्रित न करके दासता के प्राचीन भारतीय इतिहास पर केन्द्रित करना है, अर्थव्यवस्था मे दासता का सम्बन्ध जिसका एक अंशमात्र है । इसमें कोई संदेह नहीं कि शोध के विकास में प्रतिमानों की एक निश्चित भूमिका होती है लेकिन कभी-कभी मूल सामग्री की अल्पता के कारण प्रतिमान अथवा सैद्धान्तिक शोध-पद्धति ही वास्तविक शोध के स्थानापन्न बन जाते हैं । शोध-दृष्टि इतनी महत्वपर्ण हो जाती है कि वह तथ्यों की अवहेलना करके जो देखना चाहती है देख लेती है । भारतीय दासता जैसे सामग्री की अल्पता से ग्रस्त विषय की विवेचना में शोध-दृष्टियों और प्रतिमानों के प्रति समीक्षात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए यथासम्भव इस खतरे से ऊपर उठने की चेष्टा की गई है ।

दासता की अवधारणा का यद्यपि कोई सैद्धान्तिक विवेचन मूल ग्रन्थों में नही मिलता लेकिन भारतीय संस्कृति के विशिष्ट मूल्यों के ढाँचे में दासता के ऐतिहासिक स्वरूप का सैद्धान्तिक आयाम अवश्य ही अन्तर्निहित है। इसे उभारने की कोई चेष्टा अब तक के कार्यों में नही की गई है । इस शोध प्रबन्ध में विश्व की अन्य संस्कृतियों में वर्तमान दासता की अवधारणा के तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में भारतीय संस्कृति की अवधारणा को उभारा गया है । तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य

के माध्यम से अकथित और अन्तर्निहित अवधारणाओं को उभारना भी इस प्रबन्ध में अपनाई गई शोध पद्धति का एक प्रयास है ।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1- शर्मा, आर०एस०, रिव्यू आफ चाननाज बुक आन 'स्लेवरी इन एन्श्येण्ट इण्डया,' जर्नल आफ इकानमिक एण्ड सोशल हिस्ट्री आफ द ओरिएण्ट, जिल्द 2, 1959, पृ० 345-348 ।

2- विस्तृत अध्ययन के लिए देखिये इसी शोध प्रबन्ध का "उत्पादन पद्धति, सेवि वर्ग और दास" नामक अध्याय।

3- द्वारा उद्धृत - चानना, डी०आर०, स्लेवरी इन ऐन्श्येण्ट इण्डिया, दिल्ली, 1960 पृ० 1 ।

4- वही ।

5- वही, पृ० 2 ।

6- फिक, आर०, द सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ-ईस्ट कलकत्ता, 1920, पृ० 305-312 ।

7- डेविड्, आर०, कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, जिल्द 1, पृ० 56 ।

8- मुकर्जी, आर०के० ऐन्श्येण्ट इण्डियन एजूकेशन, लन्दन, 1951, पृ० 423 तथा 469 ।

9- डांगे, एस०ए०, इण्डिया फ्राम प्रिमिटिव कम्युनिज्म टु स्लेवरी (हिन्दी संस्करण), दिल्ली, पृ० 48-56 ।

10- पाटिल, शरद दास-शूद्र स्लेवरी, दिल्ली, 1982, पृ07 ।

11- वही ।

12- कोसम्बी, डी0डी0 ऐन इन्ट्रोडक्शन टु द स्टडी आफ इण्डियन हिस्ट्री, बम्बई, 1975, पृ0 97-98 ।

13- पाटिल, शरद, पूर्वो0, पृ0 8-10 ।

14- वही ।

15- घोषाल, यू0एन0, स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर, कलकत्ता, 1957 ।

16- सरन, के0एम0, लेबर इन ऐन्शयेण्ट इण्डिया, बम्बई, 1957 ।

17- चानना, डी0आर0 पूर्वो 0।

18- शर्मा, आर0एस0 पूर्वो0 ।

19- गोपाल, लल्लन जी, द इकानमिक लाइफ आफ नार्दर्न इण्डिया, वाराणसी, 1965, पृ0 78-80 ।

20- वही ।

21- शर्मा, आर0एस0, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, दिल्ली ।

22- देखिये इसी अध्याय की पाद टिप्पणी 2।

23- वही ।

24- ऐसे इतिहासकारों में डी0सी0 सरकार, हरबंस मुखिया तथा ओमप्रकाश इत्यादि के नाम लिये जा सकते हैं ।

25- डेरेट, जे0डी0एम0, रिलिजन, ला ऐण्ड द स्टेट इन इण्डिया, लन्दन, 1968 ।

26- जैन, पी0सी0, लेबर इन ऐन्श्येण्ट इण्डिया ।

27- गांगुली, डी0एन0, स्लेवरी इन ब्रिटिश डाभिनियन, कलकत्ता, 1972 ।

28- यादव, बी0एन0एस0 सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया इन द ट्वेल्थ सेन्चुरी ए0डी0, इलाहाबाद, 1973, पृ0 73-74 ६ तथा 'कलियुग के वर्णन और समाज का प्राचीन काल से मध्यकाल में संक्रमण," इतिहा अंक, दिल्ली, 1992, एवं 'द प्राबलम आफ द इमरजेन्स आफ फ्यूडल रिलेशन्स इन अर्ली इण्डिया,' अध्यक्षीय भाषाण, इण्डियन हिस्ट्री, काँग्रेस, बम्बई, 1980 ।

29- ओम प्रकाश तथा अन्य, राजनीतिक इतिहास तथा संस्थाएं, §550ई0 से 1200 ई0 तक§, भोपाल, 1990, पृ0 213 ।

30- वही, पृ0 216 ।

31- यादव, बी0एन0एस0 अध्यक्षीय भाषण, पूर्वो0 ।

32- कुप्पूस्वामी, जी0आर0, इकानमिक कन्डीशन्स इनकर्नाटका, धारवाड़ 1975, पृ0 185-197 ।

33- चट्टोपाध्याय, बी0डी0, इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, जिल्द 4, नं0 1, पृ0 143 ।

34- मुखर्जी, सन्ध्या, सम आस्पेक्ट्स आफ सोशल लाइफ इन इण्डिया, इलाहाबाद, 1967, पृ0 175-190 तथा 203 ।

35- श्रीमाली, के0एम0, द इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, जिल्द 4, अं0 2, पृ0 435 ।

36- चट्टोपाध्याय, ए0के0 स्लेवरी इन इण्डिया, लन्दन, 1977 ।

37- राय, जी0के0 इन्वालन्ट्री लेबर इन ऐन्शयेण्ट इण्डिया, इलाहाबाद, 1981 ।

38- डी0सी0 सरकार ने इस पुस्तक की समीक्षा करते हुए इसका जोरदार खण्डन कियाहै। विस्तृत अध्ययन के लिए देखिये-सरकार द्वारा हिस्टारिकल रिव्यू में इस पुस्तक की समीक्षा ।

39- वही ।

40- वही ।

41- मनिकम्, एस0, स्लेवरी इन तमिल कण्ट्री: ए हिस्टारिकल ओवर व्यू, मद्रास, 1982 ।

42- चतुर्वेदी, शीला, तुर्ककालीन भारत में मुस्लिम दासता, दिल्ली, 1982 ।

43- शास्त्री, अजयमित्र, द इण्डियन हिस्टॅारिकल रिव्यू, जिल्द 9, पृ0 233-235 ।

44- वही ।

45- वही ।

46- शुक्ल, डी0एन0 ,उत्तर भारत की राजस्व व्यवस्था, इलाहाबाद, 1984 ।

47- वही, पृ0 151 ।

48- पाण्डे, जी0सी0, द इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, जिल्द 10, 1984, पृ0 182 ।

49- पाटिल शरद, पूर्वो0 ।

50- हबीब, इरफान, पाटिल की पुस्तक पर अपनी सम्मति के रूप में ये बातें कही हैं जो पुस्तक के पृष्ठ भाग पर मुद्रित है ।

51- पटनायक,उत्स(संपा0) चेन्स ऑफ सर्विट्यूड: बान्डेज ऐण्ड स्लेवरी इन इण्डिया, मद्रास, 1985 में उमा चक्रवर्ती का लेख, पृ0 1-75 ।

52- झा,डी.एन. फ्यूडल फार्मेशन इन अर्ली इण्डिया, दिल्ली, 1982 ।

53- ओम प्रकाश तथा अन्य, पूर्वो, पृ0 236।

54- वही ।

55- तिवारी,एस0पी0 रॉयल अटेन्डेन्ट्स इन ऐंशियेण्ट इण्डियन लिटरेचर, एपीग्राफी ऐण्ट आर्ट, 1982 ।

56- ओम प्रकाश, अर्ली इण्डियन लैण्डग्रान्ट्स ऐण्ड स्टेट इकानमी, इलाहाबाद, 1988 ।

57- ओम प्रकाश, कन्सेप्चुअलाईजेशन एण्ड हिस्ट्री इन अर्ली इण्डियन सोशियो इकोनमिक स्टडोज, इलाहाबाद, 1992 ।

58- ओम प्रकाश तथा अन्य, पूर्वो०, पृ0 207-242 ।

59- द इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, जिल्द 15, दिल्ली, 1992 ।

द्वितीय अध्याय

दासता की अवधारणा : स्वरूप एवं सिद्धान्त

दासता को अवधारणा: स्वरूप एवं सिद्धान्त

सामाजिक यथार्थ के रूप में दास प्रथा अत्यन्त प्राचीन काल से विश्व की अनेकानेक महत्वपूर्ण सभ्यताओं में विद्यमान रही है। प्राचीन काल में चाहे वह यूनान की सभ्यता हो अथवा रोम की, चाहे चीन की सभ्यता हो अथवा भारत की, दासता प्रत्येक संस्कृति में किसी न किसी रूप में दिखायी पड़ती है। विश्व की इन प्राचीन महत्वपूर्ण सभ्यताओं केसाथ-साथ भारतीय सभ्यता में भी दासता का अपना महत्वपूर्ण स्थान रहा है। दासता के इतिहास पर किये जाने वाले सामाजिक एवं आर्थिक सर्वेक्षणों तथा शोध ग्रन्थों का अभाव नहीं है लेकिन जहाँ एक तरफ इन प्रयासों के फलस्वरूप यूनानी, रोमन एवं चीनी सभ्यताओं में दासता की वास्तविक स्थिति पर अनेक प्राचीन विचारकों एवं महान दार्शनिकों ने प्रकाश डालते हुये दासता की तत्सम्बन्धी विभिन्न अवधारणाओं को स्पष्ट किया है वहीं दूसरी तरफ भारत में प्राचीन काल में समकालीन सन्दर्भों में दासता के विवरण प्राप्त होने के बावजूद किसी भी प्राचीन दार्शनिक एवं विचारक ने दासता की भारतीय अवधारणा को स्पष्ट करने का न तो कोई प्रयास ही किया और न ही आधुनिक विद्वानों ने अपने शोध एवं सर्वेक्षणों के अन्तर्गत भारतीय दासता की किसी भी अवधारणा को रेखांकित करने का प्रयास ही किया। भारतीय दासता पर किये गये समस्त आधुनिक अध्ययनों में प्रायः कतिपय सामान्य मापदण्डों को ही आधार बनाया गया है - यथा, दासों के विवरणों के आधार पर दासता में वृद्धि

पड़ने वाले प्रभाव आदि । लेकिन किसी भी इतिहासकार ने दासता की भारतीय अवधारणा के प्रश्न पर कुछ कार्य करने का प्रयास नहीं किया । भारतीय संस्कृति के प्राचीन कालीन साहित्यिक विवरणों में भी दासता की कोई ऐसी भारतीय अवधारणा के दर्शन नहीं होते जैसे ग्रीस एवं रोम में पाई जाने वाली दासता के सम्बन्ध में प्लेटो, अरस्तू तथा सिसरो जैसे दार्शनिकों एवं विचारकों ने अपनी-अपनी अवधारणों को स्पष्टतया रेखांकित करने का प्रयास किया है । भारतीय दासता के सन्दर्भ में ऐसे किसी सैद्धान्तिक विवेचन का प्रयास ही नहीं किया गया । दासता की भारतीय अवधारणा का दार्शनिक विवेचन किसी भी भारतीय स्रोत में नहीं मिलता जबकि दासता की पाश्चात्य अवधारणा का दार्शनिक विवेचन यूनानी सभ्यता के काल में ही प्रारम्भ हो गया था । अतएव प्रस्तुत अध्याय में दासता के सन्दर्भ में मिलने वाली प्राचीन विश्व की प्रधान संस्कृतियों के सन्दर्भ में पायी जाने वाली विभिन्न अवधारणाओं को स्पष्ट करते हुये भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में दासता के स्वरूप के साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया जायेगा जिससे कम से कम भारतीय दासता की अवधारणा भी स्पष्ट हो सके क्योंकि तभी यह दिखाना सम्भव हो सकेगा कि समाज, राज्य तथा भारतीय मूल्य बोध के साथ दासता का क्या सम्बन्ध था ? विश्व की अन्य प्रधान संस्कृतियों की तरह भारतीय संस्कृति में दासता की कोई निश्चित भूमिका थी अथवा नहीं ? अरस्तू एवं प्लेटो ने जिस दासता की चर्चा की है, दासता का जो सैद्धान्तिक स्वरुप रोमन सभ्यता के सन्दर्भ में उभरा है तथा चीनी सभ्यता के सन्दर्भ में दासता की जो अवधारणा प्रस्तुत होती है उससे दासता का भारतीय स्वरूप कितना समान और कितना असमान था यह केवल तुलनात्मक अध्ययन से ही ज्ञात हो सकता है लेकिन दासता की कोई भी

भारतीय अवधारणा की खोज तब तक पूर्ण नहीं हो सकती जब तक कि मनुष्य समाज और राज्य के सम्बन्ध में उन भारतीय पूर्व मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में उसे रखकर देखा नहीं जाता। ऐसा करना भारतीय दासता की अवधारणा को इस संस्कृति के मौलिक मूल्यबोध से सन्दर्भित करना होगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह मूल्यबोध आध्यात्मिक ही नहीं भौतिक भी होगा, धार्मिक ही नहीं सामाजिक भी होगा और समष्टिगत ही नहीं बल्कि व्यक्तिनिष्ठ भी होगा। प्रस्तुत अध्याय में भारतीय दासता की मूल्य सापेक्षता का यह पहलू भी विवेचित किया जायेगा।

1- दासता की यूनानी अवधारणा :-

यूनानी समाज एवं राज्य में दासों की एक निश्चित भूमिका थी जिसे प्लेटो एवं अरस्तू जैसे महान दार्शनिक विचारकों ने दार्शनिक आधार प्रदान किया है। इन विचारकों की कृतियों के माध्यम से ही प्रधानतया हमें दासता की यूनानी अवधारणा का बोध होता है। प्लेटो ने अपनी प्रसिद्ध कृति "रिपब्लिक" में दासों की चर्चा बड़े प्रभावी ढंग से की है जिसके आधार पर सैबाइन,[1] डनिंग[2] बार्कर[3] जैसे आधुनिक विचारकों ने अपनी कृतियों में कई महत्वपूर्ण निष्कर्ष भी प्रतिपादित किये हैं। यूनानी सामाजिक संरचना एवं राज्य की संकल्पना में दासों की भूमिका को प्लेटो ने अपने ढंग से व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। यद्यपि प्लेटो के समक्ष यूनानी सभ्यता के पेरिक्लीज के स्वर्ण युग का आदर्श विद्यमान था फिर भी प्लेटो ने बिना पूर्ववर्ती विचारकों के मतों से प्रभावित हुये यूनानी दासता के स्वरूप को अपने

ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया। प्लेटो की यह मान्यता है कि यूनानी दासता वहाँ के सामाजिक जीवन में प्रत्येक स्तर पर पूर्णतया समाविष्ट होने के बावजूद यूनानी समाज में किसी भी दशा में नीति सम्मत नहीं हो सकती।[4] साथ ही दासता कभी भी यूनानी राजनैतिक जीवन का आधार नहीं बन सकती। उसकी दृष्टि में एथेंस का राजनीतिक जीवन दासता पर तो अवधारित नहीं था[5] फिर भी वहाँ दो प्रकार से इनकी स्पष्ट भूमिका से इनकार भी नहीं किया जा सकता। तत्कालीन समाज में दासों का एक वर्ग ऐसा था जो अकुशल औपनिवेशिक दासता के अन्तर्गत आता था जिसमें खानों एवं कारखानों में कार्य करने वाले दासों की गणना की जाती थी और दूसरा वर्ग उन दासों से सम्बन्धित था जो कुशल दासता के अन्तर्गत घरेलू कार्यों में नियोजित थे एवं निजी स्वामित्व के अधीन रहते थे।[6] लेकिन प्लेटो की "रिपब्लिक" का सूक्ष्मावलोकन करने से यह परिलक्षित होता है कि प्लेटो न तो दासों के अस्तित्व से इनकार करता है और न ही समाज एवं राज्य की संरचना में इनकी भूमिका को नजरंदाज करता है। उसने "रिपब्लिक" में कहा है कि यूनानी नगर राज्यों को यह कभी नहीं करना चाहिये कि वे यूनानियों को दास बनायें या दूसरों को ऐसा करने दें क्योंकि यदि वे अपने ही सदस्यों की स्वतन्त्रता का अपहरण करके अपने राष्ट्र को शक्तिक्षीण करेंगे तो यह डर है कि कहीं वे स्वयं बर्बरों के हाथों दासता की बेड़ियों में न जकड़ उठें।[7] इसी से मिलती-जुलती प्रतिक्रिया स्पार्टा के केलिक्रेडिडास द्वारा, मैथीम्ना पर होने वाले आक्रमण के समय, की गयी प्रतिज्ञा से भी ध्वनित होती है जहाँ उसने यह उद्घोषणा की थी कि जब तक सत्ता उसके

हाथ में है तब तक वह किसी कीमत पर यूनानियों को दासता में आबद्ध नहीं होने देगा ।[8] निस्संदेह इन उद्धरणों से जहाँ एक ओर यूनानियों को दासता में न पड़ने देने के प्रति प्रतिबद्धता या ऐसी मनःस्थिति का परिचय प्राप्त होता है वही यह तथ्य भी उद्घाटित होता है कि कम से कम प्लेटो के समय यूनानी समाज एवं राज्य में दासों की अवश्य ही कोई निश्चित भूमिका थी ।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्लेटो यूनानियों को दास बनाये जाने के विपरीत था न कि दासता के समाज में व्याप्ति एवं उसकी उपयोगिता के विपरीत। जब कि बार्कर जैसे विचारकों ने प्लेटो की उक्त अभिव्यक्ति के आधार पर उसके द्वारा दास प्रथा के सीमित विरोध करने की बात की है ।[9] प्लेटो द्वारा दासता का यह विरोध सम्भवतः इन विद्वानों को इसलिये दिखायी पड़ता है क्योंकि इनके समक्ष यूनानी दासता के सन्दर्भ में प्लेटो के परवर्ती विचारक अरस्तू की दासता विषयक अवधारणा भी मौजूद थी । निश्चित रूप से अरस्तू की तुलना में प्लेटो की दासता-विषयक अवधारणा फीकी पड़ जाती है। सेबाइन ने लिखा है कि प्लेटो का राज्य दासता की नींव पर नहीं खड़ा था क्योंकि प्लेटो ने व्यक्तिगत सम्पत्ति के विवरण के समय दासों की कोई चर्चा नहीं की है और वह व्यक्तिगत सम्पत्ति को भी महत्व नहीं देता ।[10] सम्भवतः इसी वजह से कांस्टैण्टाइन रिटर ने यह मत व्यक्त किया कि प्लेटो ने अपनी "रिपब्लिक" में "दासता का सैद्धान्तिक उन्मूलन" कर दिया है[11] लेकिन ऐसी मान्यताओं एवं प्रसम्भाव्यताओं के लिये कोई ठोस आधार नहीं दिखायी पड़ता क्योंकि प्लेटो ने तो स्वयं कृषि का स्वतन्त्र दायित्व दासों

पर ही छोड़ दिया था ।[12] यही नहीं, राज्य की संरचना में दासों की भूमिका को रेखांकित करते हुये उसने लिखा है कि आदर्श राज्य के निर्माण एवं उत्थान के लिये दासों को प्रमुख रूप से कृषि कार्य में लगाना चाहिये एवं स्वतन्त्र श्रमिकों एवं नागरिकों के साथ-साथ दासों को भी उद्योग एवं व्यापार में सम्मिलित करना चाहिये ।[13] इसका तात्पर्य यह है कि राज्य की संरचना एवं उसकी समृद्धि में दासों की एक निश्चित भूमिका थी ।

जहाँ तक इसकी दार्शनिक वैधता का प्रश्न है, सत्य है कि अरस्तू की तरह प्लेटो ने दासता को प्राकृतिक, सहज एवं नैतिक नहीं माना है और न ही राजनीतिक गतिविधियों में दासों के योगदान को ही रेखांकित करने का प्रयास किया है फिर भी यदि अरस्तू के पूर्ववर्ती विचारक का महत्वपूर्ण तथ्य सामने हो और फिर प्लेटो की दासता विषयक अवधारणा का सही आकलन प्रस्तुत किया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि प्लेटो स्वतन्त्रता की सापेक्षता में यूनानी जाति के लोगों को दासता में जकड़ने की तो सदैव भर्त्सना करता है लेकिन आदर्श राज्य की संकल्पना एवं उसकी संरचना व समृद्धि तथा समाज के एक आवश्यक अंग के रूपमें वह दासता को एक वास्तविक कारक के रूप में स्वीकार करता है। प्लेटो की दृष्टि में नागरिकों की सामाजिक प्रवरता के लिये दासता आवश्यक थी, राजनीतिक विशेषाधिकार अथवा बौद्धिक विकास के लिये वह आवश्यक नहीं थी ।[14] उसकी मान्यता थी कि यूनान में दासता उसी प्रकार वैध है जैसे खानों के शोषण से होने वाली अभिवृद्धि राज्य के लिये उचित है । इस प्रकार प्लेटो यूनानी नगर राज्यों में यथासम्भव इतरयूनानियों की दासता को राज्य की समृद्धि के लिये अनुमोदनीय और वैध मानते हुये

यूनानियों की स्वतन्त्रता की कीमत पर दासता को सर्वथा अनुचित और अवैध मानता है ।

अरस्तू की यूनानी दासता की अवधारणा प्लेटो की विचारधारा से भिन्न किन्तु नगर राज्य में उसकी भूमिका के समान उद्देश्य से अनुप्राणित थी । अन्तर केवल इतना है कि जहाँ प्लेटो ने दासता को नगर राज्य की प्राकृतिक योजना का आवश्यक अंग नहीं बनाया है वहीं अरस्तू ने दासता को प्राकृतिक मानते हुये उसे नगर राज्य की योजना का एक मौलिक अंग [15] मान लिया है । अरस्तू की राज्य विषयक अवधारणा का आधार नगर राज्य का आदर्श स्वरूप है और इसी कारण प्लेटो की "रिपब्लिक" की तरह उसने अपनी "पालिटिक्स" में नगर राज्य, समाज एवं व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों की गहन व्याख्या प्रस्तुत की है। उसकी मान्यता है कि आदर्श नगर राज्य की स्थापना में व्यक्तिगत हितों की बलि दी जा सकती है क्योंकि उसकी दृष्टि में राज्य का हित ही सर्वोपरि है ।[16] इसी श्रृंखला में उसने यह भी मत व्यक्त किया कि प्रकृति ने स्वभावतया शासक एवं दास वर्ग का सृजन किया है [17] जिसमें दासों को राज्य के विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण इसलिये माना है क्योंकि दास अपने स्वामी की सहायता करके उसनके निमित्त खर्च होने वाले उस अवकाश को उपलब्ध कराता है जिसमे मालिक या शासक राज्य के हित के लिये अपने को पूर्णतया समर्पित करता है।[18] इसलिये दासों की राज्य के निर्माण में उल्लेखनीय भूमिका होती थी ।

पिता-पुत्र एवं स्वामी-दास के सम्बन्धों की चर्चा करते हुये अरस्तू की अवधारणा है कि स्वामी और दास के सम्बन्ध परिवार के अंग हैं

न कि राज्य के। राजनीतिक सत्ता, स्वतन्त्रता एवं समानता के सम्बन्धों पर आधारित होती है और इसी कारण सन्तान पर पिता की सत्ता दासों पर स्वामी की सत्ता से सिद्धान्ततः भिन्न है।[19] अरस्तू की धारणा है कि राज्य मानव के लिये एक ऐसी अनिवार्यता है जिसके बिना मनुष्य मनुष्य नहीं कहा जा सकता। राज्य विहीन प्राणी या तो देवता हो सकता है और या फिर नैतिक विहीन पशु। राज्य मनुष्य की पहचान है और इसीलिये मनुष्य की परिभाषा है अरस्तू ने एक राजनीतिक प्राणी के रूप में की है।[20] लेकिन मनुष्य की विशिष्टता अरस्तू की सोद्देश्यमूलक अवधारणा में मानव प्रकृति के ऐतिहासिक विकास का चरमोत्कर्ष नहीं है। यह उसके अपने स्वत्वमें उसी प्रकार निहित होती है जिस प्रकार पीपल के बीज में पीपल के पेड़ की सत्ता। ऐतिहासिक विकास उस पूर्वनिहित सत्ता को प्रकट करने के अलावा कुछ अन्यथा परिणाम नहीं उपस्थित कर सकता। इसीलिये व्यक्ति की स्वत्वगत पहचान राजनीति ऐतिहासिक विकास की देन नहीं बल्कि मनुष्य ी प्रकृति की देन है। अरस्तू दास को भी मनुष्य की कोटि में रखता है। इसलिये दास भी अन्ततोगत्वा एक राजनीतिक प्राणी है किन्तु अपनी नैसर्गिक सीमाओं के कारण दास स्वयं अपने निज के प्रयास से राजनीतिक जीवन के अन्तिम लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता और नागरिक भी, जो प्राकृतिक रूप से दासों की अपेक्षा अधिक प्रतिभाशाली और विवेकपूर्ण होते है, बिना दासों की मदद के स्वयमेव राजनीतिक जीवन का निर्माण नहीं कर सकते क्योंकि दासों के अभाव में आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति में ही उसका सारा समय और उनकी

सारी प्रतिभा नष्ट हो जायेगी और राजनीतिक जीवन का प्राकृतिक लक्ष्य सिद्ध नहीं हो पायेगा । इसलिये स्वभावतः नागरिक और दास राजनीतिक जीवन के प्राकृतिक लक्ष्य की सिद्धि के लिये प्रकृति की योजना में ही अन्योन्याश्रित बनाये गये हैं । दोनों एक दूसरे के पूरक हैं और इस पारस्परिक सहयोग से ही राजनीतिक विकास का लक्ष्य पूरा हो सकता है और पूरा होता है ।

अरस्तू की ऐसी धारणा है कि समाज में स्वामी एवं दास का सम्बन्ध आत्मा एवं शरीर की तरह है ।[21] जो सम्बन्ध पति का पत्नी के साथ तथा पिता का पुत्र के साथ है वही सम्बन्ध स्वामी का अपने दास के साथ होता है ।[22] अरस्तू स्वामित्व एवं दासत्व को भी प्रकृति जन्य मानता है। उसके अनुसार प्रकृति ने ही कुछ मनुष्यों को शासक तथा कुछ को दास बनाकर भेजा है। उसने शासक वर्ग की पहचान बौद्धिक क्षमता एवं दास वर्ग की पहचान शारीरिक बलिष्ठता के आधार पर की है ।[23] लेकिन कभी-कभी कुछ दास ऐसे भी होते है जो बौद्धिक स्तर पर अपने स्वामी से कहीं आगे होते हैं [24] परन्तु ऐसी घटनाएं अपवाद स्वरूप ही होती है ।

अरस्तू दासों एवं शिल्पियों को आदर्श राज्य में नागरिक के रूप में नहीं स्वीकार करता ।[25] उसके अनुसार नागरिक होने के लिये शासन करने की क्षमता का होना आवश्यक है जो कि दास एवं शिल्पी में सामान्यतया नहीं होती ।[26] लेकिन इनमें से यदि कोई अपवाद स्वरूप अपना समुचित विकास इस दिशा में कर ले तो अरस्तू शासक वर्ग में इन्हें स्थान देने की बात को सहज रूप से स्वीकार कर लेता है।[27] स्वामी एवं दास के पारस्परिक सम्बन्धों को

अरस्तू ने सम्पत्ति के स्वामित्व से तुलना करते हुए कहा है कि जिस प्रकार स्वामित्वके दो रूप होते हैं - व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक, उसी प्रकार यूनानी समाज में दो प्रकार के दासत्व- राजकीय एवं व्यक्तिगत, के भी निदर्शन होते है।[28] सभी दासों को उनके श्रम के पुरस्कार स्वरूप भविष्य में मुक्ति प्रत्याभूत होती है।[29]

दासों को सम्पत्ति से तुलना करते हुये अरस्तू की मान्यता है कि किसी प्रकार के कार्य को भली भाँति सम्पन्न करने के लिये दो प्रकार के उपकरणों की आवश्यकता होती है - एकतो सजीव उपकरण (जिसमें दास, शिल्पी, नौकर एवं कृषक आदि आते है) और दूसरे निर्जीव उपकरण(जिसमें मानव संचालित यन्त्रों की गणना की जाती है) ।[30] अरस्तू के अनुसार दास वर्ग सम्पत्ति के रूप में एक सजीव उपकरण है जिसकी स्थिति निर्जीव उपकरणों से ज्यादा महत्वपूर्ण एवं कार्य सम्पादन के लिये उससे पहले है ।[31] इस प्रकार वह दासता को राज्य के विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक मानता है। उसकी मान्यता है कि ऐसी आवश्यकता अपना अस्तित्व तब तक कायम रखेगी जब तक कि करघे की नली स्वयं कपड़ा नहीं बुन लेती या सितार स्वयं नहीं बजने लगता ।[32] दूसरे शब्दों में. अरस्तू दासता को प्राकृतिक मानते हुये इन उदाहरणों से उसकी वैधता को भी स्पष्ट कर देता है ।

इसी सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि अरस्तू दासता को प्राकृतिक एवं नैतिक मानने के बावजूद विधिक दासता के विरूद्ध है। वह विधिक दासता की आलोचना करते हुए एक तरफ युद्ध दासता को गलत बताता है [33] और

दूसरी तरफ प्राकृतिक दासता को सर्वोच्च बताता है। यद्यपि अर्नेस्ट बार्कर जैसे विद्वानो ने अरस्तू की प्राकृतिक दासता को ऐसे स्थान पर ला खड़ा किया है कि अरस्तू के दास एवं सामान्य मनुष्य में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि बार्कर की दृष्टि में अरस्तू स्वयं यह कहता है कि कोई व्यक्ति दास की हैसियत से अपने स्वामी का मित्र एवं साझेदार नहीं बन सकता लेकिन मनुष्य की हैसियत में वह ऐसा कर सकता है।[34] दूसरी तरफ अरस्तू दासों में बुद्धि एवं विवेक के आ जाने पर उन्हें स्वतन्त्रता का अधिकारी बनाकर नागरिक की उच्चतर कोटि में पहुँचा देता है। इसी आधार पर बार्कर ने अरस्तू की दास विषयक अवधारणा को केवल बुद्धि-विलास बताया है[35] जबकि अरस्तू की दास विषयक अवधारणा को यदि नैतिक मापदण्डों में रखकर देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अरस्तू न तो यूनानी जाति के लोगों को दासता के योग्य मानता है और न ही युद्ध से प्राप्त तथा उत्तराधिकार से प्राप्त दास को ही न्यायोचित ठहराता है। ऐसी मूल्य सापेक्ष एवं नैतिक दासता की बात करने के कारण ही सम्भवतः बार्कर को यह भ्रम हो गया होगा। जबकि बार्कर ने ऐसे दासों की चर्चा ऐटिक दासों के लिये की है जो अनेक महत्वपूर्ण अधिकारों से युक्त होते थे।[36] इनमें से कुछ अपने दास पिता द्वारा उत्पन्न हुये थे। इनके वस्त्र आदि सामान्य नागरिकों से भिन्न नहीं होते थे और वे अपने गृह स्वामी के साथ परिवार के एक सदस्य के रूपमें प्रतिष्ठित होते थे। सामाजिक और वैधानिक रूप से वे किसी भी रूप में निम्न स्तर पर नहीं रखे जाते थे। राज्य द्वारा उन्हें शोषण से भी बचाया जाता था।[37] लेकिन ऐसी प्रकल्पनायें यूनानी दासता के कुछ विशिष्ट स्वरूपों पर ही लागू होती हैं।

उपर्युक्त विवरणों से यूनानी दासता की जो अवधारणाएं उभर कर सामने आती हैं उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि यूनानी नगर राज्य में दासों की विशिष्ट भूमिका होती थी। यह बात अलग है कि मूल्य सापेक्षता के सन्दर्भ में प्लेटो एवं अरस्तू की यूनानी दासता की अवधारणाओं में अन्तर है लेकिन दोनों ने ही आदर्श नगर राज्य के लिये इनके महत्व को स्वीकार किया है। जहाँ तक यूनानी दासता का प्लेटो एवं अरस्तू के भौतिक, राजनैतिक तथा समष्टिगत एवं व्यष्टिनिष्ठ मूल्यबोधों के सन्दर्भ में रखकर देखने का प्रश्न है, दोनों ही दार्शनिक विचारकों की अवधारणाएं अलग-अलग है और अपने-अपने ढंग से राज्य एवं दासता के पारस्परिक सम्बन्धों की चर्चा करते हैं। प्लेटो के अनुसार मानव प्रकृति के तीन तत्व होते हैं -तर्कबुद्धि, साहस एवं वासना।[38] आदर्श राज्य के तीन तत्व होते है - विमर्श, रक्षा एंव कामकाज[39] तथा समाज की भी तीन श्रेणियाँ होती है - शासक, योद्धा एवं उत्पादक वर्ग।[40] इस प्रकार जब प्लेटो राज्य के निर्माण की अवधारणा प्रस्तुत करता है तो सबसे पहले उस आर्थिक संघटन पर विचार करता है जो उसके गठन का आधारभूत ढाँचा है। इस क्रम में वह श्रम विभाजन के माध्यम से बुभुक्षा अथवा वासना को राज्य का प्रारम्भिक आधार मान लेता है और राज्य की एकता के लिये मनुष्य की आवश्यकता को सबसे पहले महसूस करता है। दूसरे प्रयास में वह काम के विशिष्टीकरण को आर्थिक आधारों पर उसके औचित्य को सिद्ध करता हैऔर इसमें कृषि, व्यापार एवं वाणिज्य में दासों के भरपूर नियोजन से राज्य की समृद्धि की कामना करना उसका प्रधान उद्देश्य बन जाता है। अर्थात् प्लेटो ने जहाँ एक ओर दासों के अस्तित्व को स्वीकार किया है वहीं

उसने राज्य के आर्थिक ढांचे को मजबूती प्रदान करने वाले सबसे प्रधान कारक तत्व के रूप में दासता के अस्तित्व एवं औचित्य को मान्यता प्रदान कर दी है। प्लेटो ने मानव प्रकृति, आदर्श राज्य एवं समाज को विभिन्न श्रेणियों के मध्य एक व्यावहारिक साम्य स्थापित करते हुये तर्क बुद्धि का सम्बन्ध विमर्श एवं शासक से, साहस का सम्बन्ध रक्षा एवं योद्धा से तथा बुभुक्षा अथवा वासना का सम्बन्ध कामकाज एवं उत्पादक वर्ग से [41] स्थापित करते हुए उसे दार्शनिक ढांचे में रखकर सबके औचित्य को सिद्ध कर दिया है ।

प्लेटो के अनुसार दासता का एक औचित्य उसके न्याय के सिद्धान्त.[42] (Theory of Justice) से भी निकलता है। इस सिद्धान्त के अनुसार बुभुक्षा प्रधान दास का न्याय उसके द्वारा व्यक्तिगत रूप से स्वयं साहस एवं विवेक का विकास किये बिना ही विवेक प्रधान और साहस प्रधान व्यक्तियों के पारस्परिक सहयोग के माध्यम से उसे पूर्णता प्रदान करना है। जिस प्रकार राज्य के विवेक और साहस प्रधान तत्व अपने कौशल से दास को पूर्णता प्रदान करते हैं उसी प्रकार दास अपने कौशल से विवेक और साहस प्रधान तत्वों को भी पूर्णता प्रदान करता है और उन्हें आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उन्हें श्रम से मुक्ति प्रदान करता है ।[43]

प्लेटो के मूलोद्देश्य, आदर्श राज्य की स्थापना, की भाँति अरस्तू ने भी अपना यही आदर्श रखा लेकिन समाज, राज्य एवं प्रकृति की मूल्य सापेक्षता को उसने दूसरे ढंग से पारिभाषित किया। अरस्तू की अवधारणा यह थी कि प्रकृति ने कुछ मनुष्यों को शासक एवं कुछ को दास बनाया है और

सभी मनुष्यों की नैसर्गिक पहचान उनमें राज्य के विकास की क्षमता है जो मनुष्य के अलावा अन्य किसी प्राणी में नहीं होती । बुद्धि एवं विवेक के सहारे कुछ मनुष्य राजनीतिक गतिविधियों के संचालन हेतु और आदर्श राज्य की स्थापना हेतु शासक बन जाते हैं । जिनमें बुद्धि एवं विवेक का अभाव रहता है लेकिन शरीर से मजबूत होते है वे राज्य के हित के लिए दासों के रूप में श्रम करते हैं । अरस्तू की यह मान्यता थी कि यदि कोई दास अपने गृह-स्वामी के पास है तो उसका औचित्य यह है कि दास स्वामी को वह अवकाश प्रदान करता है जिसमें स्वामी राज्य के संगठन को मजबूत बनाने का उपक्रम करता है । दूसरे शब्दों में, यदि दास न होते तो स्वामी को राज्य की गतिविधियों में भागीदारी करने का न तो अवकाश मिलता और न ही आदर्श राज्य के निर्माण का उसका सपना साकार हो पाता । इस प्रकार दासों की नगर राज्य के निर्माण में, विशिष्ट भूमिका को अरस्तू न केवल स्वीकार करता है अपितु वह यूनानी समाज में व्याप्त दासता को प्राकृतिक योजना का अंग भी सिद्ध कर देता है ।

यूनानी दासता को प्लेटो के विपरीत वह व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में सिद्ध करके राज्य के निर्माण में उसके आर्थिक पक्ष को भी उभारने का प्रयास करता है और साथ-साथ पति-पत्नी के सम्बन्ध एवं पिता-पुत्र के सम्बन्धों की तरह स्वामी-दास के सम्बन्धों को नीति सम्मत एवं नैतिक बताते हुये अरस्तू दासों को परिवार के आवश्यक अंग के रूप में भी स्वीकार करता है । इसी सन्दर्भ में यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि अरस्तू ने इसीलिए दासता से मुक्ति प्राप्त करने को नीतिविरुद्ध नहीं मानता । इस प्रकार अरस्तू की दास-विषयक अवधारणा को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यूनानी नगर राज्य

एवं समाज में तत्कालीन दासों की भूमिका अत्यन्त ही महत्वपूर्ण थी और यही उस समाज में दासता के मूल्यबोध का वास्तविक आकलन भी है। दासता की मूल्य सापेक्षता को राज्य एवं समाज के सन्दर्भ में प्लेटो एवं अरस्तू दोनो ने ही स्वीकार की है।

2- दासता की रोमन अवधारणा :-

रोमन दासता का दार्शनिक विवेचन हमें प्लेटो अथवा अरस्तू जैसे सैद्धान्तिक विचारकों के अभाव में उपलब्ध नहीं है। रोमन विचारक या तो हेलेनिस्टिक सभ्यता की प्रधान दार्शनिक परम्परा, स्टोइक दर्शन, से प्रभावित हैं और या फिर रोमन साम्राज्य की संरचना के साथ उत्पन्न होने वाली प्रशासकीय और विधिक समस्याओं द्वारा उद्भावित विधि दर्शन के सन्दर्भ से मूलतः अनुप्राणित है। रोमनदासता के दार्शनिक आधार इस प्रकार उसके ऐतिहासिक उतार-चढ़ावों के साथ जुड़े हुये हैं। रोमन दासता को ऐतिहासिक आधार से पृथक करके न तो समझा जा सकता है और न उसकी सैद्धान्तिक अथवा दार्शनिक अवधारणा का अनुमान ही लगाया जा सकता है। रोमन साम्राज्य के सामाजिक, राजनीतिक एवं विधिक मंच पर दासता की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका थी। लगभग एक सहस्राब्दी के लम्बे राजनीतिक तथा विधिक चिंतन की श्रृंखला में रोम में अनेक समाजार्थिक परिवर्तनों का इतिहास संजोया हुआ है। यद्यपि यह बात सही है कि रोमन साम्राज्य के दार्शनिक विचारकों के चिन्तन का प्रमुख आधार पूर्व प्रतिष्ठित यूनानी विचारधाराएं थी और रोम की सांस्कृतिक उपलब्धियाँ तत्कालीन विश्वकी अनेक संस्कृतियों

के मिले जुले प्रभाव से प्रभावित एवं उनके अनुकरण का परिणाम थी लेकिन इसके बावजूद रोमन साम्राज्य की राजनीतिक-विधिक संस्थाओं एवं उनकी मान्यताओं का प्रभाव बहुत दिनों तक चलता रहा। इनका विकास आवादी के विभिन्न संस्तरों- पैट्रीशियनों एवं प्लेबियनों, सम्पन्न एवं असम्पन्न, आप्टिमेटों एवं पापुलरों तथा स्वतन्त्र एवं दास, के बीच लगातार चल रहे संघर्ष की परिस्थितियों में हुआ। इसमें पैट्रीशियनों के समान दर्जा पाने की होड़ से प्लेबियनों द्वारा चलाये गये संघर्ष ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। धीरे-धीरे प्लेबियनों को अपने ट्राइब्यून चुनने जैसे विशेषाधिकार प्राप्त हो गये जिसमें ग्रेकस बन्धुओं के योगदान को नजरंदाज नहीं किया जा सकता।[44] ऐसे समाज में दासों की स्थिति शोचनीय थी और उन्हें मात्र स्वामी की सम्पत्ति के रूप में समझा जाता था। निस्संदेह इनपरिस्थितियों में दास वर्ग राजनीतिक संघर्ष की दौड़ में निष्क्रिय था।

रोमन साम्राज्य का जो सार्वभौमिक स्वरूप बाद की शताब्दियों में उभर कर सामने आया था उसके पूर्व वह कई मोड़ों से गुजर चुका था। प्रागैतिहासिक काल से लेकर लगभग सातवीं शताब्दी ई०पू० के तृतीय चरण तक रोमन सभ्यता में पूर्णतया ग्रामीण संस्कृति के दर्शन होते हैं। सातवीं शदी ई० पू० में रोम के स्थान पर मात्र 10 गांवों का ही अस्तित्व था।[45] जिसे कालान्तर में एट्रस्कन नामक एक बाहरी जाति ने अपने अधीन करके रोमन सभ्यता के ग्रामीण परिवेश को परिवर्तित करके उसे नगरीय संस्कृति के कलेवर से युक्त किया।[46] एट्रस्कनों ने जिस नगर राज्य की स्थापना का श्रीगणेश किया था वह शीघ्र ही 500 ई०पू० के आस-पास इटली निवासियों के विद्रोह

का शिकार हो गया और इन्होंने एट्रेस्कनों के विरूद्ध विद्रोह करके रोम के ऊपर आक्रमण कर दिया । एट्रूस्कनों की शक्ति यूनानी आक्रमण के कारण पहले ही क्षीण हो चुकी थी फलतः इनके अधःपतन का मार्ग प्रशस्त हो गया । और यहीं से रोमन सभ्यता में गणतन्त्रात्मक शासन पद्धति का विकास हुआ ।[47] इन राजनीतिक परिस्थितियों में रोमन के कृषकों के खेतों के आकार बढ़ने लगे और पारिवारिक श्रम कृषि कार्य के लिये अपर्याप्त सिद्ध होने लगा । अतः उसकी कमी दासों को कृषि कार्यमें नियोजित करके [48] पूरी की गयी और इस प्रकार पारिवारिक ढांचे में कृषि कार्य के निमित्त दासता का आविर्भाव हुआ । दासों की भूमिका कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था में पारिवारिक ढांचे में अत्यन्त ही महत्वपूर्ण बन गयी । जैसा कि डब्ल्यू0जे0 वुडहाउस ने रोमन दासता पर कार्य करते हुये स्पष्ट भी किया है कि कम से कम रोमन समाज में दासता के इतिहास को तीन चरणों में विभक्त करके देखना उचित होगा जिसके प्रथम चरण में उन्होंने ग्रामीण दासता[49] की ही चर्चा की है । तत्कालीन समाज में दासों से कृषि कार्य में पारिवारिक जनों के साथ कार्य कराया जाता था । डब्ल्यू0एल0 लान्सपैच ने यह दिखाया है कि रोमन दासता के इस प्रारम्भिक चरण में ग्रामीण दासता का ही चित्र उभरता है जिसके अन्तर्गत कृषि कार्य में उनके नियोजन का स्पष्ट प्रमाण मिलता है लेकिन पारिवारिक सदस्यों एवं ऐसे दासों के बीच बहुत बड़ा अन्तर नहीं होता था ।[50] रोमन समाज में दासों को कृषि में नियोजित करने की घटना को एम0आई0फिनले एक सामान्य घटना बताते हैं जिसमें स्वतन्त्र व्यक्ति एवं दास दोनों समान रूप से कार्य करते

थे ।[51] दासता के स्वरूप में गृहदासत्व के स्थान पर कृषि-दासत्व के स्वरूप का उभरना उन बदली हुयी परिस्थितियों का परिणाम थी जिनमें ग्रामीण अर्थव्यवस्था के स्थान पर नगरीय अर्थव्यवस्था का पदार्पण हो चुका था । नगरीय सभ्यता में भूमि का हस्तान्तरण एक खास वर्ग के हाथों में हो गया । ऐसी स्थिति में उन भूखण्डों पर दासों से कृषि कार्य करवाना सस्ता था [52] इसलिए दासता के स्वरूप में परिवर्तन हो गया और धीरे-धीरे पैट्रिया-प्रोटेस्टा, जो वंश के भीतर पिता के अधिकार को सर्वोच्च प्राथमिकता देता था, के सामान्य नियमों में भी परिवर्तन आया । पहले पैटिया-प्रोटेस्टा के अन्तर्गत मालिक पुत्रों की तरह दासों को भी कई अधिकार देता था । रखने वह खेतों में दासों, पुत्रों एवं अन्य पारिवारिक जनों को साथ-साथ काम करने की व्यवस्था प्रदान किये था। सम्भवत: इसी पैट्रिया प्रोटेस्टा के सन्दर्भ में दासों की स्थिति का चित्रण प्लूटार्क ने किया है जहाँ उसने कैटो का हवाला देते हुये लिखा है कि कैटो की पत्नी ने यदि दासी के स्तन से अपने बच्चे को स्तनपान कराने की व्यवस्था दी थी तो उसने दासी के बच्चे को भी यह अधिकार दिया था कि दासी का बच्चा भी कैटो की पत्नी का स्तनपान कर सकता है ।[53] मानवीय मूल्यों एवं उच्चस्तरीय संवेदनाओं का यह उत्कर्ष सम्भवत: रोमन समाज के पैट्रिया-प्रोटेस्टा की स्थिति की वास्तविक झांकी प्रस्तुत करता है। कालान्तर में पैट्रिया-प्रोटेस्टा की यह स्थिति भी ऐतिहासिक परिवर्तनों के साथ परिवर्तित हो गयी ।

पारिवारिक दासता की उक्त स्थितियों में परिवर्तन के संकेत

27 ई० पू० में रोमन गणतन्त्र को हस्तगत कर लिया और रोमन सभ्यता पर अपनी अमिट छाप छोड़ी । रोम की प्रारम्भिक अवस्था, जो कृषि मूलक अर्थ-व्यवस्था पर आधारित थी, रोम के बर्बर युद्धों की विभीषिका के उपरान्त नगरीय संस्कृति में परिवर्तित होने लगी और छोटे-छोटे भूखण्डों के बजाय बड़े-बड़े कृषि फार्म बनने लगे और साधारण जनता अपनी जमीन को धनी व्यक्तियों के हाथों बेंचने लगी । ऐसी परिस्थिति में दासों का क्रय-विक्रय भी खूब बढ़ा । प्लैटो के अनुसार एक-एक दास की कीमत 500 स्वर्ण मुद्राओं तक लगायी जाने लगी [54] और धीरे-धीरे दास स्वामी की व्यक्तिगत सम्पत्ति बनते चले गये । परिणामतः पैट्रिया-प्रोटेस्टा के अन्तर्गत पारिवारिक मुखिया की स्थिति में परिवर्तन आया और उनके दासों को पारिवारिक अंग की पूर्व हैसियत से बाहर निकालकर उन्हें चल सम्पत्ति की स्थिति प्रदान की गयी । दासों की ऐसी स्थिति को विधि सम्मत करार देने के लिये रोमन साम्राज्य में दासता की कतिपय नवीन व्यवस्थायें की गयी (जिनकी चर्चा हम आगे करेगें) और दासता के तत्कालीन स्वरूप पर वैधानिकता एवं नैतिकता की मुहर लगाकर तथा सामाजिक मूल्यबोध के साथ उसे जोड़कर रोमन दासता के औचित्य को सिद्ध कर दिया गया । ऐसा इसलिये करना पड़ा क्योंकि रोम की भूमध्यसागरीय विजयों के परिणामस्वरूप रोमन राज्य की नगर राज्यीय अवधारणा का वस्तुतः अन्त हो चुका था[55] और वैचारिक अवधारणा को वास्तविकता के अनुरूप लाने के लिये सार्वभौम राज्य की हेलेनिस्टिक अवधारणा को अपनाना पड़ रहा था । इसी प्रक्रिया में जन-विधि (Jusgentium) नाम की एक नवीन

विधिक अवधारणा का जन्म हुआ ।[56] रोम के सैनिक विस्तारवाद के परिणामस्वरूप ज ब यूनान पर रोम की विजय हुयी तो अपनीसांस्कृतिक परिपक्वता और आकर्षण के कारण रोमन सभ्यता पर यूनानी प्रभाव भी दृष्टिगोचर होने लगा । सैद्धान्तिक और दार्शनिक अवधारणाओं के स्तर पर कुछ यूनानी व्यवस्थायें जन विधि § Jus gentium § की संकल्पनाओं के
प्राकृतिक विधि की संकल्पना में यूनानी दार्शनिक
साथ ग्राह्य अथवा अग्राह्य आदर्शों के रूप में जुड़ गयीं । विशेषकर/अवधारणाओं की भूमिका महत्वपूर्ण रही है यद्यपि प्राकृतिक विधि § Jus Naturale §
को यूनानी अवधारणाओं की नकल नहीं कहा जा सकता। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस जन-विधि
के अन्तर्गत दासता को रोमन जन-जीवन के एक तथ्य के रूप में स्वीकारकरते हुये उसके वैधानिक विनियमितीकरण का प्रयास किया गया [57] लेकिन इस प्रश्न को खुला ही छोड़ दिया गया कि दासता प्राकृतिक विधि §
§ के अनुरूप है या नहीं ।

अपने ऐतिहासिक विकास की इस अवस्था तक रोमन दासता पारिवारिक सन्दर्भ का अतिक्रमण करके अपने चल साम्पत्तिक स्वरूप § Chattel Slavery § का विकास कर चुकी थी । चल सम्पत्ति के रूप में दासों की वैधानिक स्थिति का निरूपण भी कर दिया गया था लेकिन अभी तक दासता का रोमन समाज में इतना अधिक विस्तार नहीं हुआ था कि स्वामी-दास सम्बन्ध वस्तुतः पूरी तरह अवैयक्तिक हो जाते, यद्यपि वैधानिक मध्यस्थता के कारण स्वामी-दास सम्बन्धों में अवैयक्तिकता का सूत्रपात हो चुका था । स्वामी-दास सम्बन्धों कीपूर्ण अवैयक्तिकता का अभ्युदय रोमन समाज में उस समय होता है जब बर्बर आक्रमणों के परिणामस्वरूप रोमन समाज तेजी से ह्रास

और पतन की ओर अग्रसर होने लगा और इस प्रक्रिया में चतुर्थ [illegible] (395 ई0 में)उसका पश्चिमी रोमन साम्राज्य और पूर्वी रोमन साम्राज्य के रूप में विभाजन हो गया। कांस्टैण्टाइन के समय से ही ईसाई धर्म को रोमन साम्राज्य के के रूप मे मान्यता मिल चुकी थी और कालान्तर में इस धर्म का प्रधान पोप पूरे ईसाई जगत का धर्मगुरू माना जाने लगा था । पांचवी शती में पश्चिमी रोमन साम्राज्य के पतन के बाद पूर्वी रोमन साम्राज्य बाइजेण्टाइन साम्राज्य के रूप में 1453 ई0 तक अस्तित्व में रहा लेकिन 800 ई0में उत्तरी एवं मध्य इटली पर शार्लमान के सामन्ती साम्राज्य का आधिपत्य स्थापित हो गया । ईसाई जगत के धार्मिक सत्ता केन्द्र, रोम, पर अपने प्रभुत्व को महिमामण्डित करने के उद्देश्य से शार्लमान ने फ्रैंक साम्राज्य को "पवित्र रोमन साम्राज्य" का नाम दिया और स्वयं को इस साम्राज्य के 'अधिष्ठाता' के रूप में पोप से अभिषिक्त करवाया।[58] इसी समय रोमन साम्राज्य की शक्ति का केन्द्र इटली से निकलकर जर्मनी में स्थापित हो गया । इस राजनीतिक परिवर्तन के साथ-साथ सामाजिक क्षेत्र में भी ईसाई धर्म का प्रभाव बढ़ा । सैद्धान्तिक रूप से प्राचीन रोमन राजनीतिक-विधिक चिन्तन पर प्राचीन यूनानी राजनीतिक विधिक संकल्पनाओं का प्रभाव तो पहले से विद्यमान था, रोमन विचारकों ने साथ में सुकरात, एपीक्यूरस-वादियों, स्टोइकों एवं पोलिबियस सदृश्य अन्य चिन्तकों की विचारधाराओं को भी ग्रहण किया ।

रोमन दासता के सन्दर्भ में यूनानी एवं स्टोइक दर्शनों की चर्चा नितान्त प्रासंगिक एवं महत्वपूर्ण है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका

है कि जन-विधि § ius gentia. § के अन्तर्गत दासता को रोमन जन-जीवन के एक तथ्य के रूप में स्वीकार करना पड़ा था; और जन-विधि § ius gentium § तथा प्राकृतिक विधि § ius naturale दोनों के महत्व को सिद्ध किया गया है, रोमन विचारकों की दृष्टि में जन-विधि § ius gentium § और प्राकृतिक विधि § ius naturale) का पारस्परिक सम्बन्ध इतना गहरा है कि दोनों में अन्तर कर पाना सम्भव नहीं है लेकिन सैबाइन के विचार से दासता को आधार मानकर दोनों का अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है ।[59] प्राकृतिक विधि (ius naturale) के अनुसार प्रकृति ने सभी मनुष्यों को स्वतन्त्रता एवं समानता प्रदान की है अतः प्राकृतिक विधि § ius naturale § के अनुसार दासता का प्रश्न ही पैदा नहीं होता किन्तु जन-विधि § ius gentium § दासता को मान्यता प्रदान करती है क्योंकि वह जन-जीवन में पहले से ही स्थापित थी ।[60] सैबाइन के इस विवेचन का अप्रत्यक्ष आशय यह है कि चूँकि दासता तत्कालीन रोमन साम्राज्य की एक अनिवार्य आवश्यकता थी इसीलिये रोमन विचारकों ने जन-विधि § ius gentium § के माध्यम से दासता के औचित्य का प्रतिपादन किया लेकिन मनुष्यों के बीच प्राकृतिक समानता के प्राकृतिक विधि § ius naturale § द्वारा प्रदत्त सिद्धान्त की अवहेलना न करते हुये रोमन विचारकों ने दासों के प्रति यथा सम्भव सद्भावनापूर्ण मानवीय व्यवहार के आदर्श का अनुमोदन किया और उसके लिये व्यावहारिक नियम बनाये ।

दासता के प्रति रोमन विधि-वेत्ताओं के इस रुख को स्टोइक दर्शन की पृष्ठभूमि में भी समझा जा सकता है। स्टोइक दर्शन हेलेनिस्टिक सभ्यता की उपलब्धियों में से एक है और इसका उदय नगर-राज्यों की अवधारणा का अतिक्रमण करके सिकन्दर और उसके उत्तराधिकारियों द्वारा स्थापित हेलेनिस्टिक सार्वभौम राज्यों की शक्ति के समक्ष व्यक्ति की असहायता और महत्वहीनता की परिस्थिति में हुआ था। रोम की यह विचारधारा हेलेनिस्टिक राज्यों की विजय की विरासत में मिली थी। इस विचारधारा का दृष्टिकोण मानवीय तथा नियति का बहादुरी के साथ सामने करने के पक्ष में था। दासों की नियति की अपरिहार्यता को स्वीकारते हुये उनके प्रति सहानुभूति की अभिव्यक्ति और उनके साथ मानवीयता का व्यवहार दासता के सन्दर्भ में स्टोइक विचारधारा का भी संदेश था।[61] कहने की आवश्यकता नहीं है कि दासता के प्रति अपनाया गया यह रोमन दृष्टिकोण अरस्तू द्वारा प्रतिपादित दासता की प्राकृतिक अवधारणा के विरुद्ध था क्योंकि वह स्वामी एवं दास की मौलिक बराबरी को ही मानकर नहीं चलती। उसके दृष्टिकोण में स्वामी और दास प्रकृति की योजना में ही असमान किन्तु एक दूसरे के पूरक हैं।

दासता के स्टोइक सन्दर्भ में को रोमन विधिक विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में उभारने का श्रेय सिसेरो एवं सेनेका को दिया जा सकता है। सिसेरो एवं सेनेका में सिसेरो दासता की यूनानी अवधारणा के आधार पर दासता का समर्थन करते हुये सम्भवतः स्टोइक विचारधारा के प्रभाव में दासों के प्रति न्यायसंगत व्यवहार का आग्रह करता है [62] किन्तु सेनेका के विचार

अधिकांशतः यूनानी दर्शन से प्रभावित नहीं प्रतीत होते हैं और वह आध्यात्मिक स्तर पर दासता को न करते हुये भी व्यावहारिक स्तर पर दासता को जीवन के एक कटु किन्तु आवश्यक सत्य के रूप में स्वीकार भी करता है।[63] सिसेरो की तरह वह भी दासों के प्रति व्यवहार को यथा सम्भव न्यायपूर्ण और मानवीय बनाने का हिमायती है। सिसेरो ने दासता के औचित्य का अनुमोदन करते हुये लिखा है कि दासता इसलिये न्यायसंगत है क्योंकि दासों के लिये दास-स्थिति लाभकारी है और यह कार्य जब विवेकपूर्ण ढंग से किया जाता है तो इससे दासों का ही हित होता है।[64] यहाँ पर उल्लेखनीय है कि सिसेरो ने विवेकसंगत ढंग से दासों से कार्य लिये जाने की बात करके अपने विचारों पर प्लेटो की उस विचारधारा का प्रभाव स्पष्टतया संकेतित कर दिया है जहाँ प्लेटो विवेक की साहस एवं बुभुक्षा पर शासन करने वाले सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।[65] सिसेरो के अनुसार दासता प्रकृति की उपज है जो बुद्धिमान लोगों को (शक्ति सम्पन्न लोग) कमजोर लोगों (बुद्धि से कमजोर एवं शरीर से पुष्ट) पर शासन करने का अधिकार प्रदान करती है।[66] यहाँ सिसेरो अरस्तू द्वारा प्रतिपादित दासता की प्राकृतिक योजना का समर्थन करता हुआ प्रतीत होता है लेकिन चूँकि स्टोइक विचारधारा में वर्णित मानवीय मूल्यों के चरन को भी सिसेरो को अभिव्यक्त करना था इसलिये वह कहता है कि दासों पर अधिकार प्राकृतिक विधि (*ius naturale*) के अनुसार न्यायसंगत ढंग से किया जाना चाहिये। इस न्याय केसार-तत्त्व को स्पष्ट करते हुए वह कहता है कि दासों से वैसा व्यवहार किया जाना चाहिये

जैसा उजरत पर कार्य करने वालों के साथ किया जाता है ।[67] अर्थात् उनसे नियत कार्य, की पूर्ति की अपेक्षा करना और उनके हक को उन्हें दिया जाना चाहिये ।

सिसेरो से एक कदम और आगे बढ़कर सेनेका ने दासता के स्टोइक स्वरूप को और अधिक मजबूती प्रदान कर दी । सेनेका ने सभी प्रकार की सामाजिक हैसियत वाले लोगों की आत्मिक स्वतन्त्रता की बात को दृढ़ता से स्थापित करके प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी का दास सिद्ध किया है ।[68] सेनेका की मान्यता है कि दासता को विषय वस्तु और उसका कार्यक्षेत्र केवल मनुष्य की कर्मेन्द्रियां एवं उनसे संचालित शरीर ही हो सकता है। किसी भी दशा में किसी व्यक्ति की आत्मा एवं बुद्धि किसी की दासी नहीं बन सकती ।[69] सेनेका के अनुसार दास भी प्रकृति से सामान्य लोगों जैसा ही है । उसमें वे सभी गुण पाये जाते हैं जो स्वतन्त्र लोगों में होते हैं । दासों का क्रय-विक्रय केवल उनके शारीरिक क्रय-विक्रय से सम्बन्धित होता है, उनकी आत्मा एवं बुद्धि से नहीं ।[70] इस प्रकार सेनेका दासता का दार्शनिक आयाम प्रस्तुत करते हुये[71] सामाजिक एवं राजनीतिक संस्था के रूप में उसकी भूमिका को वैयक्तिक जीवन के भौतिक धरातल पर आवश्यक बताता है । दासों की मानवीय गरिमा एवं मानव मूल्यों के प्रति अत्यन्त सजग सेनेका सार्वभौतिक राज्य के हित के लिये समस्त प्रकार के कार्यों में दासों के नियोजन के औचित्य का अनुमोदन करता है लेकिन साथ ही दासों के प्रति वह राज्य से सदैव मानवीय व्यवहार की अपेक्षा भी रखता है । सेनेका ने दासता का नैतिक समर्थन तो नहीं किया है लेकिन प्रत्येक कार्य में दासों के नियोजन एवं तथा उनके प्रति न्यायसंगत

मानवीय व्यवहार की वाञ्छनीयता से इनकार भी नहीं किया है। ऐसा लगता है कि सार्वभौमिक राज्य की स्थापना एवं उसके समुचित विकास के लिये वह दासों को सभी प्रकार के कार्यों में लगाने के पक्ष में था और उसकी मूल्यवत्ता से इनकार भी नहीं करता लेकिन दासों को व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में रखे जाने के वह विरुद्ध था । नियति के वश में सभी मनुष्यों की स्थिति को सिद्ध करके सेनेका सम्भवतः दासता के प्रत्येक पक्ष को स्टोइक नियतिवाद की विवशता के आवरण से ढंकना चाहता था । सेनेका की दृष्टि में मानवता की इज्जत राजनीतिक शक्ति की कीमत पर भी करनी चाहिये ।[72] अर्थात् मानव कल्याण के लिये सभी प्रकार का बलिदान दे दिया जाना चाहिये । भले ही वह दासता में पड़कर मानव कल्याण के लिये कार्य करना ही क्यों न हो । मानव कल्याण तभी सम्भव है जबकि एक सार्वभौमिक राज्य की स्थापना होगी । ऐसी संकल्पनाओं को दृष्टिपथ में रखते हुये यदि सेनेका द्वारा स्थापित मान्यताओं का आकलन प्रस्तुत किया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि सेनेका दासों से अपेक्षित आत्म बलिदान का समर्थन नगर-राज्य के उस यूनानी दर्शन के आधार पर करता है जिसके अनुसार राज्य प्रधान है और व्यक्ति गौण । राज्य के हितों के लिये व्यक्ति का बलिदान किया जा सकता है । दूसरे शब्दों में दास के राज्य के हित के लिये अपना बलिदान कर देना चाहिये ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि रोम में सार्व-भौमिक राज्य के उदय के साथ ही दासता का भी एक ऐसा सार्वभौमिक सिद्धान्त उभरा जिसमें उस समय तक की दासता की सभी अवधारणायें यथासम्भव समायोजि

कर ली गयी थी । इसका परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे दासों पर होने वाले अनाचार एवं अत्याचार तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में उनकी स्थिति समाप्त होने लगी और फिर दासों के प्रति दृष्टिकोणों में अन्तर स्पष्ट झलकने लगा । जैसा कि जेरोम कोटपीकिनो ने स्पष्टतया इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि रोम में दासों को वेतन, बोनस तथा अन्य सुविधाएं प्रदान की जाती थी ।[73] यहाँ तक कि न्यायालयों में याचिका स्वीकार करने का अधिकार, खान निरीक्षकों जलवाहकों, द्वारपालों पहरेदारों अंगरक्षकों, विशेष दूतों, सलाहकारों एवं अन्तःपुर की समस्त व्यवस्था को सुनिश्चित कराने वालों के रूप में दासों की नियुक्तियों[74] एवं दासों द्वारा क्लब जैसी संस्थाओं को चलाने[75] का प्रमाण रोमन साम्राज्य में मिलता है। रोमन समाज में ऐसे परिवर्तक बिन्दुओं के अस्तित्व में आ जाने के फलस्वरूप दासता व्यक्ति निष्ठता की चहारदीवारी से निकलकर संस्थागत स्वरूप की ओर अग्रसर हुयी । दासों की संख्या में अतिशय वृद्धि के कारण स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी कि कभी-कभी स्वामी एवं दास एक दूसरे से बिना साक्षात्कार किये ही अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर देते थे ।[76] वैसे भी स्वामी द्वारा दासों का अभिज्ञान न कर पाना तो एक सामान्य घटना थी ।[77] इसका परिणाम यह हुआ कि स्वामी एवं दास के सम्बन्ध व्यक्तिनिष्ठता की परिधि से बाहर निकलकर निर्वैयक्तिकता का स्वरूप धारण करने लगे और धीरे-धीरे उन पर निजी स्वामित्व की धौंस भी काफी कम हो गयी । इसका अप्रत्यक्ष प्रभाव दासों पर किये गये अत्याचार के परिणामस्वरूप स्वामी को दण्डित करने जैसी व्यवस्थाओं से भी मिल जाता है ।

दासता के इस संस्थागत स्वरूप के विकसित होने के साथ-साथ उसके औचित्य एवं मूल्यसापेक्षता का भी प्रश्न उठने लगा। रोमन दासता के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि रोमन समाज में दासता प्राकृतिक योजना का अंग नहीं थी लेकिन दासता सार्वभौमिक राज्य द्वारा उद्भावित व्यवस्था का अंग थी क्योंकि यह व्यवस्था ऐतिहासिक परम्पराओं, रूढ़ियों और व्यावहारिक जीवन के तथ्यों के मूलाधार पर बनायी गयी व्यवस्था थी जिसका उद्देश्य प्राकृतिक व्यवस्था को अनुप्राणित करने वाले न्यायिक सिद्धान्तों के आदर्श तक पहुँचना था इसलिये दासता को व्यावहारिक जीवन के जन-विधि (*ius genestic*) समर्थित तथ्य के रूप में स्वीकार करते हुये उसे प्राकृतिक कानून को मानवीयता और न्यायपरता के बिन्दु तक पहुँचाना एक अभीष्ट मूल्य था। जैसा कि सिसेरो की विवेकसंगत ढंग से दासों पर शासन करने की बात तथा उसकी प्राकृतिक दासता के पूर्ववर्णित सिद्धान्त के समर्थन से तथा सेनेका द्वारा प्रतिष्ठापित आत्मा एवं बुद्धि को दासता की परिधि से बाहर रखने तथा भौतिक स्तर पर प्रत्येक व्यक्ति के किसी न किसी के दास होने जैसी धारणाओं में स्पष्टतया देखा जा सकता है। चूँकि रोमन विचारकों की चिन्तन पद्धति दार्शनिक की अपेक्षा वैधानिक अधिक है इसलिये वैधानिक रूप से वे सभी दासता का समर्थन करते हुये तथा दासता की अवस्था को न्यायसंगत सिद्ध करते हुये दिखायी पड़ते हैं और रोमन कानून के दार्शनिक विवेचन के साथ उसे दार्शनिक आधार भी प्राप्त हो गया जिसकी वजह से रोमन कानून की दृष्टि में दासता का नैतिक समर्थन स्वयंसिद्ध हो जाता है और साथ ही दासता के

औचित्य का अनुमोदन भी हो जाता है क्योंकि "रोमन कानून" एक नैतिक एवं पवित्र कानून माना जाता था किन्तु कुल मिलाकर दासता की रोमन अवधारणा में दार्शनिक आयाम की अपेक्षा विधिक आयाम ही मौलिक है।

3- दासता की ईसाई अवधारणा-

रोमन साम्राज्य के अधःपतन के प्रारम्भिक क्षणों से ही {रोमन} दासता के मूल ढांचे में परिवर्तन के संकेत मिलने लगते हैं । राज्य एवं समाज की संरचना के मौलिक सिद्धान्तों में परिवर्तन का यह संकेत ईसाई धर्म के अभ्युदय में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने लगता है । ईसाई धर्म के अभ्युदय के पूर्व राज्य की स्थापना एवं विकास का जो आदर्श प्लेटो, अरस्तु, सिसेरो तथा सेनेका ने प्रतिस्थापित किया था उन सबके मिले जुले स्वरूप का प्रभाव तो ईसाई राज्य की अवधारणा में दिखायी पड़ता है लेकिन नगर राज्य से सार्वभौतिक राज्य की परिकल्पनाओं की श्रृंखला की अग्रिम कड़ी के रूप में ईसाई धर्म ने दैवी राज्य की आधारशिला रखी और उसी के साथ साथ तत्कालीन सामाजिक परिवेश को भी धार्मिक ढांचे में ढालकर प्रकृति एवं समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध कायम किया । अपने इस प्रयास में ईसाइयत के प्रणेताओं ने "आदम" और "हव्वा" की सुप्रतिष्ठित मान्यताओं को स्थापित करते हुये समस्त राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक गतिविधियों को पाप एवं पुण्य के मूलाधार पर प्रतिष्ठित किया । इनकी मान्यतानुसार समस्त सामाजिक, राजनीतिक विधिक संस्थायें तथा नियम मनुष्य के मौलिक पातक के परिणाम हैं ।[78] इस प्रकार समाज एवं राज्य के दैवी स्वरूप को आधारिकता प्रदान करते हुये इन लोगों ने राजा एवं

प्रजा के सम्बन्धों अर्थात् शासक एवं शासित के सम्बन्धों को ईश्वर की इच्छा के अनुकूल एवं प्रतिकूल चलने वालों के रूपमें चित्रित किया । सम्पूर्ण मानव जाति को "आदम" और "हव्वा" से मूलतः उत्पन्न मानते हुये उसे उनके मूल पातक से अभिशाप्त बताया जिसके फलस्वरूप मनुष्य की पापमयता उसके अपने कुकृत्यों से ही निर्धारित नहीं होती बल्कि मानव जाति में जन्म लेने के कारण सर्वथा निष्पाप होते हुए भी वह इस जाति के मूल पातक का भागीदार है। अतः कोई भी मनुष्य निष्पाप हो ही नहीं सकता ।[79]

ईसाई धर्म की इन मान्यताओं को दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक आधार प्रदान करने का कार्य जान पाल, एम्ब्रोस, सन्त आगस्टिन तथा ग्रेगरी महान जैसे विचारकों ने प्रारम्भ किया तथा जान आफ सैल्सबरी जैसे दार्शनिकों ने मध्ययुगीन सामाजिक एवं राजनीतिक परिवेश में उसे समायोजित करने का प्रयास किया ।तेरहवीं शताब्दी ई० में सन्त थॉमस एक्विनास को ईसाई धर्म की दार्शनिक मान्यताओं को यूनानी दार्शनिक अरस्तू की विचारधाराओं के साथ समायोजित करने का श्रेय विशेष रूप से दिया जाता है ।[80] ईसाई धर्म की इसी पृष्ठभूमि में दासता की ईसाई अवधारणा भी परिलक्षित होती है ।

आगस्टिन ने बाइबिल की मान्यताओं के आधार पर मानव इतिहास की जो ईसाई अवधारणा प्रस्तुत की उसके अनुसार राजनीतिक एवं विधिक संस्थाएं तथा नियम मनुष्य की पापमयता का परिणाम थीं और सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं में दिखायी पड़ने वाली प्रभुता भी मनुष्य की पापमयता का परिणाम थी।[81] मनुष्य पर मनुष्य की प्रभुता, शासन

तथा आज्ञापालन प्रभुता तथा दासता के प्रचलित सम्बन्धों में प्रकट होती है।[82] आगस्टिन ऐसी अवस्था को मानव जीवन की स्वाभाविक एवं सहज अवस्था का एक अंग मानता है और अपनी इस परिकल्पना में वह दासता को भी एक सहज प्राकृतिक अवस्था मानता है।[83] ईश्वर एवं प्रकृति से दासता को जोड़ते हुए आगस्टिन कहता है कि पाप दासता का आदिकारण है [84] जिससे मनुष्य अपनी पापमयता के परिणाम स्वरूप दूसरे मनुष्य के अधीन हो जाता है(यह सब उस परम सत्ता के निर्देश में ही होता है जो अन्याय से परे है और केवल उसी को इस बात का सर्वोत्तम ज्ञान है कि मनुष्य को उसके अपराध के अनुरूप दण्ड कैसे दिया जाये। ईश्वरीय करूणा दासता के माध्यम से उसे अपने पातक से मुक्त होने का अवसर प्रदान करती है जो कि साथ-साथ उसके पापों का दण्ड भी है।[85]

दैवी सत्ता को सर्वोच्च मानते हुए आगस्टिन की मान्यता है कि ईश्वर पापियों को उनके द्वारा किये गये पाप के समुचित अनुपात में दण्ड देता है।[86] आगस्टिन का कहना है कि जो कोई पाप करता है,वह पाप का दास हो जाता है। अतः बहुत से धर्म परायण ईसाई दुष्ट स्वामियों के दास हैं, फिर भी वे स्वतन्त्र लोगों से भले हैं क्योंकि मनुष्य जिस व्यसन में लिप्त हो जाता है,वह उसी का दास हो जाता है।[87] वासनात्मक दासता मनुष्यगत दासता की अपेक्षा अधिक बुरी है क्योंकि वासनात्मक दासता से अन्तिम निर्णय के दिन अधिक कठोर दैवी दण्ड का भागी बनना पड़ेगा जबकि दुःस्वामी के अधीन दासता से दास को दैवी अनुकम्पा मिलेगी और दुःस्वामी

को दैवी दण्ड[88]। आगस्टाइन की धारणा है कि ईश्वर ने मूलतः मनुष्य का जो रूप बनाया है, उस रूप में वह न मनुष्य का दास था और न पाप का। दण्डपरक दासता का उद्‌भव उस कानून से हुआ जो प्राकृतिक व्यवस्था को अक्षुण्ण रखने का विधान करता है और उसे तोड़ने का निषेध प्रस्तुत करता है।[89] यदि प्रारम्भ में ही उस कानून का अतिक्रमण न हुआ होता तो दण्डपरक दासता का कोई आग्रह न करता।[90] इस प्रकार अगास्टिन दासता के औचित्य का अनुमोदन करता हुआ दिखायी पड़ता है।

दण्डपरक दासता के पीछे ईश्वर की यह इच्छा अन्तर्निहित थी कि इससे दासों का ही कल्याण होगा। आगस्टिन दासता को पाप के प्रतिकार का दैवी विधान मानता है।[91] यदि मनुष्य पाप न करते तो ईश्वर दासता का विधान न करता।[92] आगस्टिन दासता के मूल स्रोत के रूप में "युद्ध न्याय" में देखने वाली प्राचीन यूनानी लेखकों की मान्यताओं का विवरण प्रस्तुत करता है और प्रभुता एवं दासता के आदिकारण के रूप में पाप को उत्तरदायी मानकर दासता को उचित ठहराता है।[93] जिस सिद्धान्त के आधार पर अरस्तू ने दास-प्रथा को उचित सिद्ध किया था उसे आगस्टिन अस्वीकार कर देता है लेकिन उसकी मान्यता है कि चूँकि ईश्वर की अनुकम्पा मुक्त रूप से वितरित हुयी थी और इसमें जाति या वर्ग के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया गया था इसलिए नैसर्गिक पापों का दण्ड भोग लेने के [illegible] कोई भी दास अपने स्वामी की ही तरह स्वर्ग का अधिकारी हो सकता है।[94] बिना पाप का भोग किये हुए ऐसा सम्भव नहीं है इसलिए दासों के लिए दास-जीवन ही लाभकारी है क्योंकि इसमें रहकर उन्हें पापों को

भोगकर उनसे मुक्त होने का तथा दैवी अनुकम्पा का भागी बनने का अवसर मिलता है ।[95]

आगस्टिन इस नैसर्गिकता को सदैव जीवित रखने का पक्षधर था इसीलिए उसने उपर्युक्त तर्क प्रस्तुत किया और समाज तथा राज्य के लिए दासों के उत्तरदायित्व का बोध कराया । साथ ही साथ आगस्टाइन ने दैवी राज्य के निर्माण एवं विकास के लिए दासों को आवश्यक भी बताया । उसकी दृष्टि में दासता अपरिहार्य दैवी विधान का अनिवार्य परिणाम है ।[96]अतः इस अनिवार्यता के समक्ष ईमानदारी के साथ आत्मसमर्पण ही दासों का एक मात्र विकल्प है । इस प्रकार आगस्टाइन ने दासता को एक आध्यात्मिक मूल्य के रूप में दैवी राज्य और समाज की संकल्पनाओं के संदर्भ में रेखांकित किया [97] और ऐसे सिद्धान्त का निरूपण किया जो प्राचीन जगत् के लिए अज्ञात था लेकिन मध्ययुग के लिए सर्वथा प्रासंगिक एवं सुविख्यात ।

सन्त आगस्टिन द्वारा प्रस्तुत दासता की उपर्युक्त अवधारणा मध्यकालीन ईसाई चिन्तन की प्रतिनिधि अवधारणा है। एम्ब्रोस,[98] ग्रेगरी महान [99] तथा जान आफ सेल्सबरी जैसे अन्य विचारकों [100] ने भी लगभग यही बात थोड़े बहुत अन्तर के साथ कही है। दासता की ईसाई अवधारणा के विकास की अगली महत्वपूर्ण कड़ी सेन्ट थामस एक्विनास[101] द्वारा प्रस्तुत ईसाई अध्यात्मवाद और अरस्तू के प्रकृतिवाद के समायोजन के प्रयास में दिखायी देती है। सेन्ट थामस एक्विनास ने अपने विचारों का प्रतिपादन एक ऐसे समय पर किया जब मध्ययुगीन स्कालेस्टिक वाद अपने विकास के नये

दौर में प्रवेश कर रहा था ।[102] सन्त आगस्टिन के पश्चात् मसीही सिद्धान्तों के प्रभाव के परिणामस्वरूप प्राकृतिक कानून की नयी विधा का जन्म हुआ जो रोमन कानून एवं स्टोइक दर्शन से निःसृत हुयी थी। इसके साथ ही दिव्य एवं मानवीय सकारात्मक कानूनो का भी जन्म हुआ । दिव्य कानून का सम्बन्ध एक ऐसे कानून से था जिसकी उत्पत्ति ईश्वर के आदेश से हुयी थी तथा मानवीय कानन वे कानून थे जो राज्य के विधि सम्मत शासक के आदेश होते थे और वे मानवीय मूल्यों को ध्यान में रखकर बनाये गये थे ।[103] इसके परिणामस्वरूप अरस्तू की वे नीतियां, जो पहले स्कालैस्टिक विचारकों को ग्राह्य नहीं थी, धीरे-धीरे सुग्राह्य होने लगी । इन विचारकों ने अरस्तू के प्रति अपने रूख में परिवर्तन किया और तेरहवीं शती के उत्तरार्ध तक आते-आते अरस्तू का सबसे बड़ा दार्शनिक एवं वैज्ञानिक घोषित कर दिया गया ।

स्वाभाविकतया इस प्रक्रिया में अरस्तू के सिद्धान्त में पर्याप्त परिवर्तन करके उसे कैथोलिक मत एवं सामन्तवादी सामाजिक व्यवस्था के हितों के अनुरूप ढाला गया और पोप पादरियों ने अरस्तू के प्राणवान् तत्व को पृष्ठभूमि में डालकर उसके जड़तत्व को ही अमरत्व प्रदान करने का प्रयास किया । सेन्ट थामस एक्विनास का उद्भव ऐसी विषम परिस्थितियों में हुआ था जबकि अरस्तू एवं एक्विनास के युग में मौलिक अन्तर स्पष्टतया दिखायी पड़ने के बावजूद लोग अरस्तू की विचारधारा से प्रभावित हो गये थे लेकिन [illegible] की व्यवस्थाओं के साथ उनका सही तादात्म्य नहीं स्थापित कर पा रहे थे । सेन्ट थामस एक्विनास ने इस दिशा में जो सर्वाधिक

महत्वपूर्ण कदम उठाया, वह था- अरस्तू के राज्य सम्बन्धी विचारों को लौकिक जगत् के लिए पूर्णरूपेण सही सिद्ध करना परन्तु पारमार्थिक जगत् के चिन्तन के लिए ईसाई धर्म के औचित्य का पूर्णतया अनुमोदन करना ।[104] इस प्रकार एक तरफ उसने दास प्रथा को राज्य के विकास के लिए आवश्यक मानकर अरस्तू की दास विषयक अवधारणा को मजबूती प्रदान की और दूसरी तरफ " दासता के पापों का प्रतिकार है जो उसे ईश्वर ने दण्डस्वरूप प्रदान की है"[105] जैसी मान्यताओं का, व्यावहारिक धरातल पर, उद्घोष करके राज्य के ऊपर दैवी सत्ताको बिठाया और दासता के औचित्य का अनुमोदन भी किया । इसीलिए सेन्ट थामस एक्विनास के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वह ईसाई धर्म के मूल सिद्धान्तों एवं अरस्तू की अवधारणाओं के बीच एक सेतु (सामंजस्य स्थापित करने वाला) है ।[106] अरस्तू के दर्शन एवं मसीही इलहाम के सत्य के बीच सामंजस्य स्थापित करना सेन्ट थामस एक्विनास के लिये आवश्यक भी था क्योंकि तभी उसके विचारों की सार्थकता थी । उसकी दासता विषयक अवधारणा में यह सामंजस्य और अधिक स्पष्ट हो जाता है। सेन्ट थामस एक्विनास ने अरस्तू की मान्यताओं की मूल संरचना को इस प्रकार ध्वस्त करने का प्रयास नहीं किया जिससे कि उसके ध्वस्त वैचारिक ढांचे के टुकड़ों से किसी नये चिन्तन का ढांचा न खड़ा कर लिया जाय बल्कि उसने सर्वत्र यही सिद्धान्त अपनाया कि अरस्तूवाद सच है लेकिन केवल प्राकृतिक जगत् के लौकिक सन्दर्भ में ही वह ऐसा है। [107]उसकी दृष्टि में धार्मिक आस्था की सहायता लिये बिना केवल मानवीय तर्कबुद्धि से काम लेकर जिस सत्य का पता लगाया जा सके वह तो सत्य होता ही है परन्तु

धार्मिक आस्था के आलोक में जो सत्य उसके बाद उद्घाटित हुआ उससे तर्क सिद्ध सत्य समाप्त नहीं हो गया, बल्कि उसमें जो कमी रह गयी थी, वह पूरी हो गयी ।[108] अरस्तू के अनुसार दासता प्राकृतिक एवं सहज है इसीलिए वह नैतिक भी है तथा आगस्टिन के अनुसार दासता ईश्वर द्वारा दण्ड स्वरूप पापों को भोगने के लिए बनायी गयी थी । आगस्टिन दासता को पाप के प्रतिकार का दैवी विधान मानता है । सेन्ट थामस एक्विनास ने दोनों अवधारणाओं को समायोजित करते हुए दोनो में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया । इनके अनुसार सभी लोगों को ईश्वर ने समान रूप से उत्पन्न किया है लेकिन पापो के अनुसार दण्ड की भी व्यवस्था की है ।[109] सेन्ट थामस एक्विनास अधिक पातकी को दास बनाये जाने की दलील प्रस्तुत करता है लेकिन, उसके अनुसार, इसका निर्धारण ईश्वर के हाथ में होता है ।[110] यहाँ पर उसके द्वारा प्राकृतिक विधि के अन्तर्गत सभी मनुष्यों को समान रूप से उद्भावित कराना अरस्तू की मान्यताओं का समर्थन है और ईश्वर द्वारा दण्ड निर्धारणा एवं उसके बाद दासता की बेड़ियों में जकड़ना आगस्टिन की विचारधारा का अनुमोदन है। इस प्रकार एक तरफ तो दासता को ईश्वर का विधान मानकर सेन्ट थामस एक्विनास उसके औचित्य को प्रकट करता है और दूसरी तरफ वह विभिन्न विचारधाराओं में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास भी करता है ।

दासता के सन्दर्भ में सेन्ट थामस एक्विनास ने अरस्तू की कुछ मान्यताओं के साथ-साथ रोमन विधि के कतिपय अंशो का विपर्यय भी प्रस्तुत किया है । जैसे- वह सैनिकों को प्रोत्साहित करते हुये कहता है कि सैनिकों

कोचाहिये कि वे दासता को बेड़ियों में पड़ने से स्वयं को बचाने के लिए कठोर परिश्रम, अदम्य साहस तथा उत्साह का परिचय युद्ध क्षेत्र में दे अन्यथा उन्हें विजेताओं द्वारा बन्दी बना लिया जायेगा और दासता को कठोरतर बेड़ियों में जकड़ दिया जायेगा जो उनके लिये अधिक कष्टकर होगा ।[111] लेकिन वह यह भी कहता है कि युद्धबन्दी को मृत्युदण्ड नहीं देना चाहिये बल्कि उन्हें दास बना लेना चाहिए ।[112] यहाँ सेन्ट थामस एक्विनाय 'युद्ध दासता' का समर्थन करते हुये सैनिकों को इससे विपरीत प्रोत्साहित करता है जबकि अरस्तू 'युद्ध दासता' के सर्वथा विरुद्ध था ।[113] उसके अनुसार शक्ति के साथ-साथ साधुता का होना अत्यन्त आवश्यक है ।[114] किसी भी व्यक्ति को युद्ध में यदि अनैतिक रूप से दास बना लिया गया है तो वह ठीक नहीं है। यहीं नहीं, अरस्तू के मत में यूनानी जाति के लोगों को तो दास बनाया ही नहीं जा सकता । इस प्रकार सेन्ट थामस एक्विनाय अरस्तू की युद्ध-दासता" के विपरीत अपना उपर्युक्त दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। रोमन विधि के अनुसार दासों के प्रति आदरपूर्ण व्यवहार करना चाहिए जबकि सेन्ट थामस एक्विनास ने दासता को पाप का प्रतिफल मानते हुए कठोर व्यवहार को ही दासों के लिए लाभकारी स्थिति बताया है । इस प्रकार यहाँ पर सेन्ट थामस एक्विनास दासता की रोमन अवधारणा की अपेक्षा सेन्ट आगस्टिन की दासता विषयक अवधारणा के प्रति अधिक झुके हुए दिखायी पड़ते हैं और रोमन विधिक दासता के विरुद्ध अपने तर्क प्रस्तुत करते हैं ।

सेन्ट थामस एक्विनास की दासता की उपर्युक्त अवधारणा को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसने दासता को तत्कालीन समाज एवं

राज्य को एक मौलिक आवश्यकता माना । उसने यथार्थवाद का बिना परित्याग किये हुए उसमें अरस्तू के विचारों का समावेश करके उसकी परिभाषा को थोड़ा सा परिवर्तित किया । अरस्तू की भाँति सेन्ट थामस एक्विनाय भी सुख को मनुष्य का लक्ष्य मानता है किन्तु अन्तर इतना ही है जहाँ अरस्तू की दृष्टि में आदर्श नगर राज्य के विकास का लक्ष्य सर्वोपरि है और वहीं सर्वोच्च सुख है वहीं सेन्टथामस एक्विनास की अवधारणा धार्मिक है । उसके अनुसार सुख मान-सम्मान, यश अथवा भौतिक ऐश्वर्य में नहींबल्कि ईश्वरीय ज्ञान की ओर लक्षित सैद्धान्तिक प्रज्ञा के कार्यकलाप मात्र में निहित है । लौकिक जीवन में मात्र अपूर्ण सुख की प्राप्ति सम्भव है जबकि पूर्ण सुख पार-लौकिक जगत में ही सम्भव है। इस प्रकार दासों की मूल्य सापेक्षता को सेन्ट थामस एक्विनास "आदर्श नगर-राज्य" की स्थापना के बजाय "दैवी राज्य" की स्थापना में ही रेखांकित करता है जिसमें दासों को अपने मौलिक पातक से मुक्ति प्राप्त करने के लिए इसका आवश्यक अंग बना रहकर "दैवी राज्य" के सुदृढ़ीकरण में योगदान करना ही लाभकारी बताया गया है । इस प्रकार वह दासता के औचित्य का भी अनुमोदन कर देता है ।

दासता की इस्लामी अवधारणा -

इस्लाम के अभ्युदय एवं विकास के इतिहास का यदि सूक्ष्मावलोकन किया जाय तो यह दिखायी पड़ता है कि मुस्लिम समाज में दासों की महत्वपूर्ण भूमिका थी । मुस्लिम समाज एवं धर्म पर अनेक इतिहासकारों एवं विचारकों के कार्य किया है लेकिन इनकी कृतियों में दासता के दार्शनिक विवेचन का प्रयास

अत्यन्त सीमित रूप में प्राप्त होता है। इस्लामी दासता का दार्शनिक विवेचन इब्न-अबिर-रबी (नवीं शताब्दी ई०), [115] फराबी (870-950ई०) [116] तथा घज्जाली (1058-1111 ई०) [117] जैसे कतिपय विचारकों ने अत्यन्त संक्षेप में किया है और इससे दासता की इस्लामी अवधारणा अधिक स्पष्ट नहीं हो पाती। ऐसी दशा में इस्लामी दासता के दार्शनिक आधार को ढूढने के लिए हमें इस्लाम के अभ्युदय, अरबों के आक्रमण एवं साम्राज्य-विस्तार की योजनाएं, तथा तत्कालीन मुस्लिम समाज, अर्थव्यवस्था एवं राजनीति में दासों की भूमिका इत्यादि अनेक सन्दर्भों पर दृष्टिपात करना होगा तभी दासता की इस्लामी अवधारणा स्पष्ट हो पायेगी। ऐसा इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि जिस समय इस्लाम का अभ्युदय हुआ था वह युग सातवीं शताब्दी ई० का था और उस समय तक न केवल अरब अपितु विश्व के अधिकांश देशों में दासता एक सामाजिक वास्तविकता के रूप में सामने आ चुकी थी। इन परिस्थितियों में इस्लामी सामाजिक दर्शन उसे नजरन्दाज नहीं कर सकता था।

इस्लाम का अभ्युदय पैगम्बर मुहम्मद के जन्म स्थान अरेबिया में सातवीं शताब्दी ई० में हुआ और मुहम्मद के प्रयासों के परिणामस्वरूप यह धर्म अन्य स्थानों पर भी फैला। [118] जिस समय मुहम्मद ने इस्लाम की शिक्षाओं का प्रचार कार्य प्रारम्भ किया था, उस समय अरेबिया में दास प्रथा सुप्रतिष्ठित थी। मुहम्मद ने दासता की भर्त्सना न करके दासों के प्रति उदात्त मानवीय दृष्टिकोण अपनाया और यह संदेश दिया कि कुरान

में ऐसा मिलता है कि जो व्यक्ति अपने मुस्लिम दास को दासता से मुक्ति प्रत्याभूत करेगा वह नरक में जाने से बच जायेगा ।[119] साथ ही दासों के लिए भी इसी से मिलती-जुलती बातें बतायी कि जो दास अपने मालिक की सच्ची लगन से सेवा करेगा वह स्वर्ग का अधिकारी होगा ।[120] लेकिन दूसरी तरफ भयावह युद्धों का क्रमिक नैरन्तर्य जारी था जिनमें अरब लोग अपने साम्राज्य विस्तार के प्रयास में एशिया के अधिकांश भाग, उत्तरी अफ्रीका तथा पूर्वी एवं दक्षिणी यूरोप में इस्लामी ध्वज फहराने का प्रयास कर रहे थे ।[121] ऐसे वातावरण में युद्ध बन्दियों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही थी जिनमें से अधिकांश को दास बना लिया जाता था । वैसे भी सम्पूर्ण विश्व की महान संस्कृतियों में युद्ध दासों की आपूर्ति के एक प्रधान स्रोत के रूप में पहले से ही प्रतिष्ठित था ।[122]

अरब निवासियों ने बाइजेन्टाइन एवं पर्सियन साम्राज्य पर विजय प्राप्त करके इन देशों में इस्लाम धर्म का प्रवर्तन किया ।[123] इस्लाम धर्म के संस्थापक पैगम्बर मुहम्मद ने काबा एवं मदीना को सबसे महत्त्वपूर्ण एवं पवित्र स्थल घोषित किया जहाँ से अधिकांश तीर्थयात्री वापसी में अपने साथ कुछ दासों को खरीद कर अपने देश ले जाते थे । मुहम्मद के उत्तराधिकारी अबू बक्र में 'खलीफा' की उपाधि धारण करके अरेबिया की उत्तरी सीमा पर सेना सहित प्रस्थान किया जहाँ उसे बाइजेन्टाइन एवं पर्सियन सेनाओं के अत्यन्त ही कम प्रतिरोध को झेलना पड़ा ।[124] अबू बक्र की मृत्यु के उपरान्त उमर खलीफा ने इस कार्य को आगे बढ़ाया । 636 ई0 में अरबों ने सीरिया

में बाइजेन्टाइन सेनाओं को परास्त करके शीघ्र ही सम्पूर्ण क्षेत्र पर अधिकार कायम कर लिया ।[125] 637 ई0 में अरबों ने पर्शियन साम्राज्य पर अधिकार जमाया और तत्पश्चात् लगभग 711 ई0 तक सम्पूर्ण बाइजेन्टाइन साम्राज्य पर अधिकार कर लिया ।[126] इस्लामी दासता के संदर्भ में इस राजनीतिक परिवर्तन का परिणाम यह हुआ कि अरबों ने यहाँ की नकल की । बाइजेन्टाइन साम्राज्य के अन्तर्गत दासों को सैनिक वृत्ति में तो नियोजित किया ही जाता था [127] साथ ही राजा के विश्वासपात्र [128], अंगरक्षक[129], गुप्तचर[130] तथा संदेशवाहकों[131] के रूप में इन्हें महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होते थे । इन दासों को राज्य की तरफ से पर्याप्त संरक्षण भी प्राप्त होता था ।[132] अरबों ने इनका अनुकरण करते हुए दासों को राजनीति में प्रवेश देना प्रारम्भ कर दिया [133] जिसका कालान्तर में परिणाम यह हुआ कि कुछ मुस्लिम शासित क्षेत्रों में दास राजवंशों को भी प्रतिष्ठा हुयी ।[134]

पैगम्बर मुहम्मद ने इसके पूर्व ही कुरान की मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए यह संदेश दिया था कि राजा खुदा का प्रतिनिधि होता है । यदि इस पद पर दास भी अभिषिक्त हो तो जनता को उसके प्रति वफादार होना चाहिए और उसके आदेशों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए।[13
मुहम्मद की इस मान्यता कोमुस्लिम विचारक इब्न हिशाम ने और अधिक स्पष्ट कर दिया ।[136] इनकी मान्यता थी कि यदि कोई अबीसीनियन दास भी खुदा के बताए हुए मार्ग का अनुसरण करते हुए जनता पर शासन करता है तो उसकी आज्ञाएं जनता द्वारा अनुपालनीय होनी चाहिए ।[137] इसी से मिलती

व्यक्त की है ।[138] अबू-युसुफ ने नीग्रोदास को राजा के रूप में प्रस्तुत करते हुए जनता को उसके प्रति वफादार होने की चर्चा की है ।[139] इस्लाम में यहाँ तक व्यवस्था प्रदान की गयी कि युद्ध बन्दी मुस्लिम दासों से घर में बच्चों को घरेलू शिक्षा एवं गृहकार्य पूर्ण कराने जैसे महत्वपूर्ण कार्य लिये जाय और अत्यन्त कम रकम लेकर इन्हें मुक्ति भी प्रदान कर दी जाय ।[140] दासता से मुक्ति के सन्दर्भ में कतिपय अन्य लचीले सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन इस्लाम में किया गया है लेकिन इस्लामी विधिशास्त्र ४ Islamic Juris-prudence ४ मुस्लिम एवं इतर-मुस्लिम दासों में कई स्तरों पर विभेद अवश्य स्थापित करता है । इस्लामी न्याय में मुस्लिम को दास केवल उसकी इच्छा पर बनाया जा सकता था ।[141] कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में उत्तराधिकार स्वरूप अथवा भेंट स्वरूप दास भी तत्कालीन समाज में दासता में आबद्ध होते थे ।[142] लेकिन किसी भी दशा में किसी मुस्लिम को युद्धबन्दी के रूप में दासता में जकड़ा नहीं जा सकता था ।[143] इससे दासता के प्रति इस्लामी दृष्टिकोण में लचीलापन एवं कुछ हद तक एकांगी दृष्टिकोण भी झलकता है ।

इस्लामी दासता में उदार दृष्टिकोण अपनाए जाने के कतिपय अन्य अप्रत्यक्ष कारण भी थे जिसमें इस्लाम धर्म पर यहूदी एवं ईसाई धर्मों के प्रभाव तथा अरबों द्वारा मध्येशिया पर किये गये आक्रमणों के फलस्वरूप सांस्कृतिक सम्पर्क की दिशा में बौद्ध धर्म का प्रभाव इत्यादि की चर्चा की जा सकती है ।[144] यह प्रभाव कतिपय सन्दर्भों में तो अनुकरण की प्रवृत्ति के रूप में देखा जा सकता है किन्तु कुछ अन्य सन्दर्भों में, विशेषकर ईसाई धर्म

सकता है । ईसाई धर्म में दासता यदि व्यक्ति के पूर्व जन्मों के पापों का दैवी दण्ड था तो इस्लाम में वह केवल एक यथार्थ था जिसकी इस प्रकार दार्शनिक व्याख्या करने की कोई चेष्टा नहीं की गयी । ईसाई दासता में दासों के प्रति किया गया क्रूरतम व्यवहार यदि उनकी आध्यात्मिक उन्नति का साधन माना गया तो इस्लाम में दासों के प्रति दुर्व्यवहार करने वाले स्वामी को नरक का भागी बताया गया ।[145] दास को मुक्त करने वाला स्वामी खुदा का सामीप्य प्राप्त कर सकता है । [146] ईसाई धर्म यदि दासों को मालिक के बड़े सेबड़े जुल्मों को सिर झुकाकर बिना किसी प्रतिरोध के सहन करने की सलाह देता है तो इस्लाम न केवल निष्ठापूर्वक अपने स्वामी की सेवा करने का उपदेश उन्हें देता है बल्कि उन्हें स्वामी को कर्तव्यपालन के लक्ष्य से च्युत होने पर चेतावनी देने का अधिकार भी देता है ।[147] दास को यह भी अधिकार इस्लाम के अन्तर्गत दिया गया है कि वह अपने स्वामी से उपयुक्त भोजन, वस्त्र और सद्व्यवहार की अपेक्षा करे ।[148] दासता के सन्दर्भ में ईसाई धर्म और इस्लाम के दृष्टिकोणों की इस तुलना से प्रतीत होता है कि इस्लाम ईसाई दृष्टिकोण से पृथक दासता के प्रति अपना दृष्टिकोण स्थापित कर रहा था जो इस्लाम पर ईसाई धर्म का एक नकारात्मक प्रभाव माना जा सकता है ।

जहाँ तक दासता के सन्दर्भ में इस्लामी चिन्तन पर बौद्धधर्म के अप्रत्यक्ष प्रभाव का प्रश्न है, इसका इतिहास अरबों द्वारा मध्येशिया पर आक्रमण, अधिकार, वहां पर इस्लाम धर्म के सुदृढ़ीकरण एवं वहाँ पर बौद्ध धर्म के पूर्व प्रचलन आदि से सम्बन्धित है । यद्यपि बौद्ध धर्म की मौलिक

मान्यताएं दासता के प्रति उदात्त दृष्टिकोण की समर्थक नहीं थी लेकिन बौद्धों के उपासक धर्म एवं कतिपय अन्य महत्वपूर्ण धार्मिक परिवर्तनों के कारण कतिपय उदार दृष्टिकोणों का समावेश हो गया। इस परिवर्तन की प्रक्रिया में बौद्ध धर्म कुछ लचीले सिद्धान्तों से युक्त हुआ। इस्लामी विजय से पूर्व मध्येशिया के तुर्क बौद्ध धर्म के अनुयायी थे और उनके बीच दासता का प्रचलन पहले से ही था, इसलिए दासता की जो प्राक्-इस्लामी अवधारणा तुर्कों के बीच में थी उस पर बौद्ध धर्म का प्रभाव अवश्य रहा होगा। यद्यपि हीनयानी बौद्ध धर्म दासों के प्रति सद्व्यवहार का हिमायती होते हुए भी उनके प्रति उदासीन था क्योंकि न तो दासता से मुक्ति के पूर्व उन्हें संघ में प्रवेश की अनुमति दी गयी थी और न उन्हें निर्वाण का अधिकारी ही माना गया था लेकिन महायान बौद्ध धर्म में निर्वाण का आश्वासन सर्वसामान्य के लिए हो जाने के कारण दासों के प्रति बौद्ध धर्म के दृष्टिकोण में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। मध्येशिया में बौद्ध धर्म का जो स्वरूप प्रसारित हुआ था वह महायान बौद्ध धर्म ही था। निर्वाण के आश्वासन से दास धर्म के प्रति अधिक आकर्षित हुए होगें और अहिंसा तथा सदाचार के उपासक धर्मों उपदेश ने स्वामियों के, दासों के प्रति, रूख को भी अपेक्षाकृत नरम कर दिया होगा। तुर्कों के बीच प्रचलित दासता की यह प्राक्-इस्लामी अवधारणा उनकी विजय के बाद इस्लाम में भी एक पूर्व प्रचलित यथार्थ के रूप में आयी होगी और उसने दासों के प्रति इस्लामी दृष्टिकोण पर भी अपना प्रभाव डाला होगा।

अरबों ने मध्येशिया से आगे बढ़कर धीरे-धीरे भारतीय सभ्यता

पर भी अपना अधिकार कायम करना प्रारम्भ कर दिया । यद्यपि भारत में अरबों को प्रबल प्रतिरोध का सामना करना पड़ा लेकिन बारहवीं शताब्दी के अन्त तक आते-आते भारत पर तुर्क आक्रान्ताओं की पकड़ मजबूत होती गयी और अन्ततः भारत में मुस्लिम साम्राज्य की बुनियाद पड़ गयी ।[149] मुहम्मद गोरी के नेतृत्व में उसके गुलाम कुतुबद्दीन ऐबक ने हिन्दू शासकों को परास्त करके दास वंश के शासन की आधारशिला भारत में रखी ।[150] निश्चित रूप से अरबों की उन पूर्वमान्यताओं के कारण गुलामवंश का शासन स्थापित हुआ होगा जिनके अनुसार मूलतः दास होते हुए भी राजा खुदा का प्रतिनिधि होता है और जनता को उसके आदेशों की अवहेलना न करते हुए उसके प्रति वफादार होना चाहिए ।

विश्व इतिहास के उपर्युक्त राजनीतिक घटनाक्रम में जिस इस्लाम ने अपनी शैशवावस्था से चरमोत्कर्ष पर पहुँचने का उपक्रम किया था उसमें विभिन्न देशों की संस्कृतियों का प्रभाव समय-समय पर पड़ा और यथा-सम्भव इस्लामी संस्कृति ने उसे आत्मसात करने का प्रयास भी किया । यही कारण है कि दासता की इस्लामी अवधारणा में एक तरफ तो दासों के प्रति उदार दृष्टिकोण का प्रमाण मिलता है और दूसरी तरफ दासों की संख्या में अतिशय वृद्धि, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उनके व्यापार में वृद्धि तथा महत्वपूर्ण राजनीतिक पदों पर उनकी नियुक्तियों के प्रमाण आदि मिलते हैं । आन्द्रे विन्क[151] ने तो अपनी एक नवीनतम कृति में तो यहाँ तक प्रमाणित किया है कि सम्पूर्ण विश्व में अरब निवासी वे पहले लोग थे जिन्होंने दास-व्यापार

विनिमय का साधन भी बनाते थे ।[152]

इस्लामी संस्कृति में बन्धुत्व की भावना के दर्शन होते हैं जो उनकी आपसी समझदारी का भी परिणाम थी । यही कारण है कि कुरान में अधिकांश स्थलों पर खुदा के बताए हुए मार्ग पर ही चलने की शिक्षा दी गयी है और राजा को कुरान में निर्दिष्ट नियमों के अनुरूप शासन करने की सलाह दी गयी है । कुरान में राज्य करने के निम्नलिखित तीन प्रमुख सिद्धान्त प्रतिपादित किए गये ।[153]

1- राजा न्यायपूर्वक शासन करे ।

2- सभी मामलों को आपसी बातचीत के जरिये तय किया जाय ।

3- राजा खुदा, पैगम्बर तथा अपने बीच के अधिकृत लोगों के अनुसार शासन करे ।

न्याय, पारस्परिक सूझ-बूझ एवं सौहार्द्र के उपर्युक्त सिद्धान्तों के सहारे इस्लाम आगे बढ़ता गया और उमैयद शासकों के समय मुस्लिम संस्थाओं की आधारशिला भी रखी गयी । इस्लामी संस्थाओं के माध्यम से कुरान की मान्यताओं को लागू करने का प्रयास किया गया । तथा इस्लाम को अन्य लोगों के बीच में प्रतिष्ठित कराने के लिए युद्धबन्दी लोगों को इस्लाम धर्म स्वीकार कराया जाने लगा लेकिन ऐसा सबके लिए सम्भव नहीं था । इसीलिए उन्होंने उन लोगों को भी सामाजिक एवं राजनीतिक गतिविधियों में भागीदारी प्रदान की जिन्होंने इस्लाम धर्म को नहीं भी स्वीकार किया। जबकि इस्लाम में ऐसी व्यवस्था थी कि जो व्यक्ति इस्लाम नहीं स्वीकार

करता वह काफिर है और हत्या ही उसकी एकमात्र सजा है । इस्लामी राज्य में गैर-इस्लामी जनसंख्या को अस्तित्व का अधिकार प्रदान करते हुए शरीयत में व्यवस्था की गयी है कि गैर-इस्लामी लोग जो जजिया कर देते हैं, काफिर नहीं हैं और उनकी गणना इस्लाम द्वारा संरक्षित धिम्मियों (Protected people) के रूप में की जाने लगती है।[154] उमैय्यद शासकों ने जजिया लगाने के विरुद्ध मवालियों के विद्रोह का शमन जजिया लगाये बिना उन्हें आन्तरिक स्वायत्ता प्रदान करके किया था और इस प्रकार उन्होंने इस्लाम को प्रारम्भ में ही टूटने से बचा लिया था ।[155] जिस प्रकार इस्लामी राज्य के अन्तर्गत धिम्मियों की आन्तरिक स्वायत्ता को कायम रखना उनकी मजबूरी थी उसी प्रकार दासता के यथार्थ को भी कुरान के समता एवं विश्व-बन्धुत्व के मौलिक दृष्टिकोण के साथ संगति प्रदान करना भी उनके लिए अनिवार्य था। यहाँ तक कि गैर इस्लामी दासोंको भी उन्हें मुस्लिम राज्य एवं समाज में स्थान देना पड़ा लेकिन इस्लाम के समतावादी दृष्टिकोण के अनुरूप इस्लामिक विचारकों ने दासों को न तो मानवीय अधिकारों से वंचित किया और न उन्हें कम से कम सिद्धान्ततः राजनीतिक एवं सामाजिक भेदभाव का शिकार होबनने दिया । जैसा कि इब्न-अबिर-रबी ने दासता की इस्लामी अवधारणा के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए लिखा है कि दासता चाहे जैसी भी हो (प्राकृतिक, स्वेच्छया अथवा परिस्थिति जन्य दासता) मालिक को चाहिए कि वह अपने दासों को प्रत्येक सप्ताह में कार्य के दौरान पर्याप्त अवकाश एवं आराम दे तथा अपनी शरीर के एक

सिद्धान्त का ही अनुमोदन करते हुए दिखायी पड़ते हैं ।[157] फराबी ने राज्य की संरचना को मानव शरीर के अंग के रूप में चित्रित किया है जिसमें विभिन्न वर्गों के ईमानदारी पूर्वक प्रतिनिधित्व की बात की है । इसमें दासों को भी भागीदारी दी जाती थी क्योंकि इस्लामी दर्शन में वे मालिक के शरीर का विस्तार माने जाते थे ।[158] उपर्युक्त विचारकों की ही भाँति धज्जाली ने भी दासता के जैविक सिद्धान्त का ही अनुमोदन किया है ।[159] धज्जाली ने इस्लामी आदर्शों के अनुरूप, कि सभी मनुष्य खुदा की दृष्टि में समान है, दासों के प्रति मानवीय दृष्टिकोण अपनाए जाने की वकालत की है ।[160]

दास को इस प्रकार मालिक के शारीरिक अवयवों का विस्तार मानते हुए धज्जाली ने यह मत व्यक्त किया कि सच्चा मुसलमान वह है जो पारस्परिक सौहार्द्र, प्यार एवंआदर जैसे उच्च आदर्शों का अनुपालन एवं उसकी रक्षा करताहै और इसके विपरीत घृणा का माहौल बनाने वाला बुरा एवं निन्दनीय है।[161] जो व्यक्ति अपने दासों के साथ उचित व्यवहार करता है वही सच्चे अर्थों में इस्लाम के नियमों का पालन कर्ता है।[162] धज्जाली ने मालिक एवं दास के उपर्युक्त सिद्धान्तों के अनुसार यह लिखा है कि मालिक को चाहिए कि वह अपने दास को उसी प्रकार का भोजनएवं वस्त्र उपलब्ध कराये जिस प्रकार का वह स्वयं उपभोग करता है [163] लेकिन साथ ही यह व्यवस्था भी दी कि [illegible] दासों की उपयोगिता शून्य हो जाय उन्हें मालिक को चाहिए कि तुरन्त ही बेंच दे । [164] धज्जाली ने दासों को भी यह अधिकार प्रदान किया कि वे अपने मालिक को कर्तव्यबोध कराते रहें ।[165]

इस प्रकार दास को मालिक के शरीर का विस्तार बताने की प्रवृत्ति से ही दासता की उस जैविक अवधारणा का उदय होता है जो इस्लामी संस्कृति की विशेषता थी। गृह कार्य में लगा हुआ दास यदि स्वामी की घरेलू व्यवस्था का एक प्रमुख अंग था तो राज्य के कार्यों में लगा हुआ दास राज्य-व्यवस्था का अंग था। यदि अपने स्वामी या उस घरेलू अथवा राजनीतिक व्यवस्था के लिए, जिसका वह अंग था, दास से अपनी स्वामिभक्ति की अपेक्षा करते हुए उसके बलिदान की अपेक्षा की जाती थी तो स्वामी से(घरेलू इकाई अथवा राज्य से) दास के मानवीय, सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों की पूर्ति की भी अपेक्षा की जाती थी। इस्लामी राज्य के इतिहास में तो यहाँ तक दिखायी देता है कि शासकों को अपने पुत्र या परिवार जनों की अपेक्षा दासों की स्वामिभक्ति पर कहीं अधिक विश्वास होता था।[166] सम्भवतः इस्लामी दासता में उदारता के कारणों में यह भी एक महत्वपूर्ण कारण रहा होगा।

युद्ध और सैनिक विजय के माध्यम से साम्राज्य एवं इस्लाम का विस्तार करने वाले अरबलोग साथ ही उत्तम कोटि के व्यापारी भी थे और कहीं-कहीं उन्होंने विजय और व्यापार दोनों का उपयोग साथ-साथ किया। ऐसी परिस्थिति में अरब दासों के व्यापार को प्रोत्साहित करने वाले एक प्रमुख तत्व के रूप में भी देखे जा सकते हैं। सम्भवतः इसी कारण दासता की इस्लामी अवधारणा में दासों की एक प्रमुख भूमिका इस्लामी संस्कृति के आर्थिक पहलू के रूप में भी देखने को मिलती है। इस भूमिका की अन्तरंगता

को मिलते हैं । जहाँ तक उपभोक्ता के रूप में अरबों द्वारा दासों का नियोजित करने का प्रश्न है, अनेक अरब आक्रमणों में ये लोग अधिसंख्य मात्रा में तो युद्ध बन्दी दास बनाते ही थे, साथ ही दूसरे देशों से दास खरीदते भी थे ।[168] दासों की इस विशाल संख्या में से मुस्लिम दासों को तो ये लोग राजनीतिक पदों पर, महत्वपूर्ण घरेलू कार्यों एवं व्यक्तिगत सेवाओं में नियोजित कर लेते थे लेकिन गैर-मुस्लिम दासों को कृषि, बागवानी एवं उद्योग-धन्धों में नियोजित करते थे तथा शिल्पियों एवं मजदूरों के रूपमें उन्हें तत्कालीन कला एवं स्थापत्य के क्षेत्र में संलग्न करते थे । अरब के अधिकांश शिल्पी बाहर से पकड़े हुये दास ही थे ।[169] निश्चित रूप से दासों को शिल्पकार्य एवं अन्य क्षेत्रों (कृषि, बागवानी आदि) में नियोजित करने से अरबों की अर्थव्यवस्था पर भी इसका सकारात्मक प्रभाव पड़ा होगा । बहरीन के राजाओं ने 30000 अबीसीनियन दासों को कृषि एवं बागवानी के कार्य में नियोजित किया था ।[170]

सोने के बाद व्यापारिक वस्तुओं के विनिमय के माध्यम के रूप में दासों का प्रयोग अरबों द्वारा द्वितीय कोटि के विनिमय के माध्यम के रूप में किया जाता था ।[171] दासों के बदले में बहुत सी वस्तुएं जैसे-औद्योगिक उत्पादन,[172], कपड़े[173] भारतीय मनके[174] आदि अरब लोग प्राप्त करते थे । पूर्वी अफ्रीका से दासों के माध्यम से अरबों ने अपने व्यापारिक सम्बन्ध कायम किये और अरबों ने दासों को विनिमय का साधन बनाया ।[175] पर्सियन खाड़ी के तटवर्ती किनारे पर ओमन में एकबहुत बड़ा पानी के जहाज का कारखाना था[176] जिसमें कारीगरों एवं श्रमिकों के रूप में दासों को नियोजित किया

जाता रहा होगा क्योंकि इस तट पर दासों का व्यापार भी खूब तेजी से होता था। दासों को सैनिक सेवाओं में भी नियोजित करने के प्रभूत प्रमाण मिलतेहैं ।[177] मामलुक दास आभिजात्यवर्गीय दासता की देन कहे जा सकते हैं[178] जो अरब देशों में काफी अधिक संख्या में विद्यमान थे । आर०ए० आस्टिन ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि आभिजात्यवर्गीय दासता के अतिरिक्त इस्लाम राज्य की संरचना एवं तत्कालीन व्यापार में अभिवृद्धि के पीछे दासों की प्रमुख भूमिका थी ।[179]

अरबों ने दासों के व्यापार को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रोत्साहन प्रदान करने का सर्वाधिक प्रयास किया । [180] सहारा के निचले प्रदेशों, पूर्वी अफ्रीका, मध्येशिया तथा भारत से दासों के व्यापार को प्रोत्साहित करके अरबों ने एक कीर्तिमान स्थापित किया । जैसा कि आन्द्रे विन्क ने लिखा है कि अरब वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इतनी लम्बी दूरी तक दासों के व्यापारिक सम्बन्ध कायम किये । [181] यही नहीं, रंग एवं जाति के आधार पर दासों में विभेद स्थापित करने वाले भी सर्वप्रथम यही लोग थे ।[182] अरबों ने अनेकों भयावह युद्धों में अत्यधिक मात्रा में लोगों को दास बनाया । इन दासों को उन्होंने एक व्यापारिक माल के रूप में अधिक प्रयोग किया। सोने के बाद दासों को दूसरे नम्बर पर व्यापारिक माल बनाकर पूर्वी अफ्रीका, लाल सागर, मध्येशिया, भारत तथा कुछ सीमा तक चीन के साथ भी अरबों ने व्यापारिक सम्बन्ध कायम किया और इन देशों से इनके माध्यम से अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध कायम करना अरबों का प्रमुख उद्देश्य बन गया ।[183]

इस्लाम के अन्तर्गत दास व्यापार भौगोलिक विस्तार के साथ-साथ कायम होता गया और दासता के औचित्य को अनुमोदित करने के लिए इन्होंने दासों को कुछ औपचारिक श्रेणियाँ तत्कालीन समाज एवं अर्थव्यवस्था में निर्धारित की जिसमें सहारा के अधिकांश दासों को 'घृणास्पद दास' (Pejorative Barbara)[184] को संज्ञा प्रदान की। एक अनुमान के अनुसार लगभग 900-1100 ई0 के मध्य अरबों ने लगभग 1740000 दासों का व्यापार केवल ट्रांस-सहारा मार्ग से किया।[185] यही नहीं, 850-1000 ई0 के बीच अरब लाल सागर के पार एवं हिन्द महासागर के व्यापारिक रास्तों के माध्यम से मुस्लिम एशिया एवं भारत को प्रति वर्ष लगभग 10,000 दास भेजते थे।[186] अज़दी नामक ओमनी अरब नवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण दास व्यापारी के रूप में प्रतिष्ठित था।[187] नवीं शताब्दी ई0 में अरब देशों से दास सोफला से पश्चिम भारत के बंदरगाहों को भेजे जाते थे।[188] कच्छ, सिन्ध एवं काठियावाड़ के रास्ते में अरब के अधिकांश दास भारत आये।[189] उस समय के इस्लाम के सबसे महत्वपूर्ण पवित्र स्थल मक्का एवं मदीना की तीर्थयात्रा पर गये हुए यात्री अपने साथ दासों को घरेलू कार्यों के लिए खरीद कर लाते थे।[190] उस समय बसरा एवं बगदाद अन्तर्राष्ट्रीय दास व्यापार के महत्वपूर्ण केन्द्र के रूपमें प्रतिष्ठित थे।[191] बसरा के बाजार में अविवाहित और श्वेतवर्ण की स्त्रियों की खरीददारी होती थी जिनका मूल्य लगभग 1000 दीनार से लेकर 10000 दीनार तक होता था।[192] बसरा में भारतीय दासों के व्यापार को प्रोत्साहित करने वाले

ये अरब लोग हो रहे होंगे क्योंकि उस समय तक भारत के कुछ भागों पर अरबों का आधिपत्य स्थापित हो चुका था । सामुद्रिक मार्गों को एक दूसरे से जोड़कर दासों के व्यापार को गति प्रदान करने का कार्य भी अरबों ने किया ।

अरबों ने दासों को व्यापारिक विनिमय का साधन बनाकर एक नये अध्याय की शुरूआत की । इसके पहले दासों को व्यापारिक संतुलन बनाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक विनिमय के माध्यम के रूप में इन्हें नहीं इस्तेमाल किया गया था । अरबों ने अन्तर्राष्ट्रीय जगत में उनके इस उपयोग को पहली बार पहचाना और उसके माध्यम से धन अर्जित करके, आवश्यकता की वस्तुएं खरीद करके एवं कारखानो में प्रयुक्त होने वाले कच्चे माल को खरीद करके व्यापारिक संतुलन को अपने पक्ष में करने का प्रयास किया । पूर्वी अफ्रीका में दासों की संख्या बहुत थी जिसे अरबों ने कारखानो में कार्य करने हेतु तथा कपड़े, धातु के सामान तथा भारतीय मनकों की खरीददारी के लिए वहाँ से दासों का आयात किया और इन देशों में भेजा ।मुस्लिम विजय के पूर्व बाइजेन्टाइन साम्राज्य में आर्थिक असंतुलन की स्थिति (सोने की कमी एवं चांदी की अधिकता के कारण) उत्पन्न हो गयी थी जिसके कारण अरबों ने बाइजेन्टाइन साम्राज्य के सोने एवं ससैनियमों की चांदी के मध्य एक उभयपक्षीय सन्धि व्यवस्था को कायम करके इस्लाम का विस्तार किया और उन्होंने आठवी -नवीं शताब्दी ई० में व्यापारिक असंतुलन को दूर करने का भरपूर प्रयास किया [193] और सामुद्रिक मार्गों को एक दूसरे से जोड़कर वोल्गा से पूर्वी बाल्टिक सागर के मध्य सम्पर्क कायम किया । बाल्टिक

सागर कोव, काला सागर, कैस्पियन सागर तथा तुर्किस्तान से जुड़ा था । एक अन्य व्यापारिक मार्ग बाविरिया से प्राग तथा उत्तरी कार्पेथियन से नाइपर तक विकसित किया गया ।[194] सम्भवतः पूर्व मध्यकालीन यूरोप का सबसे महत्त्वपूर्ण व्यापारिक कार्य मुस्लिम स्पेन के माध्यम से संचालित होता था । कालान्तरमें इस्लामिक सोने के बदले बाइजेन्टाइन साम्राज्य से विलासिता की चीजें भी खरीदी जाने लगीं और साथ ही दोनों के मध्य दासों के व्यापार भी प्रारम्भ हो गये । इसी प्रकार न केवल बाइजेन्टाइन साम्राज्य से अपितु सम्पूर्ण मध्येशिया, भारत तथा आंशिकरूप में चीन से भी दास-व्यापार प्रारम्भ हुआ और अरबों ने दासों के निर्यात के माध्यम से इन देशों से अपनी आवश्यकता की वस्तुओं का आयात प्रारम्भ किया ।[195]इस प्रकार व्यापारिक विनिमय, भुगतान संतुलन एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक संतुलन एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अरबों ने पहली बार दासों का प्रयोग बड़े पैमाने पर प्रारम्भ किया और दासों के क्रय-विक्रय के माध्यम से व्यापारिक संतुलन को अपने पक्ष में करने में महत्वपूर्ण सफलता अर्जित की ।

इस्लामी दासता के उपर्युक्त विवरणों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इस्लाम में दासता को नकारने उसकी परिसमाप्ति व उन्मूलन आदि के लिए अनेक प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सैद्धान्तिक प्रयासों के बावजूद अरबों ने दासता में अभूतपूर्व अन्तर्राष्ट्रीय वृद्धि की थी । कुरान एक तरफ तो बार-बार यह कहता है कि दासों को कम धन के बदले में मुक्ति प्रत्याभूत कर देनी

चाहिए; किसी भी दण्ड का सबसे अच्छा प्रायश्चित यही है कि वह कितनी अधिक मात्रा में अपने दासों को दासत्व से मुक्ति प्रदान करता है तथा यदि कोई व्यक्ति अपने दासों को अच्छे ढंग से नहीं रख सकता या दास स्वयं कोई गलती करता है तो उसे हटा देना चाहिए और मुक्त कर देना चाहिए।[196] दूसरी तरफ कुरान यह भी कहता है कि सभी मनुष्य (दास भी) खुदा के बन्दे हैं। उनके प्रति उदारता एवं सौहार्द्रपूर्ण ढंग से रहना चाहिए। मालिक को चाहिए कि वह अपनी तरह ही अपने दासों को भोजन, वस्त्र व अन्य आवश्यक चीजों को उपलब्ध कराये। जो मालिक अपने दासों के प्रति अच्छा व्यवहार करेगा वह नरक में जाने से बच जायेगा।[197] दासों के लिए भी यह निर्देश दिया कि दास को चाहिए कि वह अपने मालिक की अच्छी तरह सेवा करे। ऐसा करने से वह स्वर्ग का अधिकारी होगा।[198] इस प्रकार कुरान में दोनो ही अवधारणाएं दिखाई पड़ती हैं जिसकी वजह से कुरान पर कार्य करने वाले अधिकारी विद्वान राबर्ट्स ने लिखा है कि कुरान दासों के उन्मूलन के प्रति अधिक सजग है, इसमें सन्देह है।[199] सर विलियम म्योर को भी इसी तरह की मान्यता है।[200] लेकिन अधिकांश विद्वान इसके विपक्ष में इसी बात पर एकमत हैं कि कुरान में दासता उसकी प्रकृति के विपरीत है।[201] जो भी हो लेकिन इतना तो सत्य ही है कि कुरान में मिलने वाली उपर्युक्त व्यवस्थाएं दासों के प्रति उदार दृष्टिकोण वाली ही हैं। इसीलिए, संभवत: इस्लाम में दासता को सैद्धान्तिक रूप से अस्वीकार करने के बावजूद व्यावहारिक धरातल पर दासता में अभूतपूर्व अभिवृद्धि के ही संकेत मिलते हैं। उदारता के इसी सिद्धान्त के आधार पर

सम्पूर्ण इस्लामी दासता का इतिहास भी कम से कम सैद्धान्तिक रूप में टिका हुआ है और इसी उदारता के सिद्धान्त के सहारे इस्लामी दर्शन दासता के औचित्य का अनुमोदन भी करता है ।

कुरान में दासों के प्रति उदार दृष्टिकोण की झलक कतिपय अन्य उद्धरणों एवं इतिहासकारों की रचनाओं में मिलती है । कुरान में बार-बार यह कहा गया है कि दासों को शीघ्रातिशीघ्र, उचित अवसर पर, मुक्त कर देना चाहिए लेकिन मुहम्मद ने साथ ही यह भी व्यवस्था दी कि दासों को मुक्ति उसी समय प्रदान करनी चाहिए जबकि मालिक इस बात से पूर्णतः आश्वस्त हो जाय कि यह दासों की मुक्ति का उचित समय है। क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि एक व्यक्ति की दासता से छुटकारा पाते ही वे किसी अन्य की दासता में प्रतिबद्ध हो जायें ।[202] लार्ड हेडली ने, दासता से मुक्ति की पर्याप्त व्यवस्था के बावजूद दासता के उन्मूलन में कुरान की असमर्थता को रेखांकित करते हुए, लिखा है कि त्वरित मुक्ति दासों के लिए भी ठीक नहीं होती क्योंकि जब तक कि उनकी जीविका का पर्याप्त प्रबन्ध नहीं होता, आर्थिक विपन्नता के वशीभूत होकर वे पुनः शोषित होने को मजबूर हो जायेंगे और किसी अन्य की दासता स्वीकार करनी पड़ेगी ।[203] इसीलिए कुरान में स्पष्ट रूप से निर्देश है कि मालिक दास को मुक्त करते समय खुदा द्वारा दी गयी सम्पत्ति में से कुछ सम्पत्ति प्रदान करे ।[204] दासताके सम्बन्ध में 'उचित' की व्याख्या करते हुए मुहम्मद ने पुनः यह मत व्यक्त किया कि "उचित" से तात्पर्य यह है कि क्या दास किसी हस्त

निर्मित उद्योग अथवा जीविकोपार्जन के किसी उपाय अथवा स्रोत से परिचित है जिससे कि वह अपनी जीविकोपार्जन कर सके और समाज पर बोझ न बनें।[205] एक अन्य यूरोपीय विद्वान स्नोक हरग्रोन्जे ने भी उक्त मत का ही समर्थन किया है। उसके अनुसार कुरान केवल 'विधि के अनुकूल' युद्ध में जीते हुए लोगों को छोड़कर किसी को भी दास बनाने के पक्ष में नहीं है।[206]

इस प्रकार हम देखते है कि इस्लाम ने दासता के प्रति उदारता के दृष्टिकोण का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है उसी के साये में इस्लामी दासता और मजबूत भी होती गयी। कुरान की सैद्धान्तिक व्यवस्थाओं में एक तरफ तो उसका निषेध था लेकिन दूसरी तरफ दासत्व से मुक्ति के उचित प्रावधान, उनके भविष्य की चिन्ता एवं पर्याप्त सुरक्षा इत्यादि दास-मुक्ति की आदर्श परिस्थितियों के अभाव में, दासता के औचित्य का भी अनुमोदन करती हैं। कुरान में दासों के अधिकारों की चर्चा भी पहली बार की गयी। यद्यपि व्यवहार में अरबों ने ही प्रथमतः रंग एवं जाति के आधार पर दासों में विभेद स्थापित किया था लेकिन कुरान में सिद्धान्ततः भेदभाव की गुंजाइश नहीं थी। दासों को मानवाधिकार से वंचित न करने की बात करके कुरान ने दासता का जो चित्र उपस्थित किया उसके परिणामस्वरूप इस्लामी दर्शन में दासता केवल उदारता का सिद्धान्त बनकर नहीं रह गयी बल्कि उसे संस्थागत स्वरूप भी प्रदान किया गया जिसके कारण इस्लामी दर्शन को दासता के जैविक सिद्धान्त का विकास करना पड़ा। इस्लाम में दासता के जैविक सिद्धान्त का विकास उसकी उदारता का ही प्रतिफल था जिसमें दासों को मालिक के शरीर का विस्तार माना जाता था। दासों को मालिक के शरीर का विस्तार मानते हुए फिर दास समाज एवं राज्य का भी महत्वपूर्ण

अंग बन गया । इस प्रकार दास इस्लामी समाज एवं राज्य के आवश्यक अंग के रूप में प्रतिष्ठित हो गया और कुरान ने उसको पर्याप्त सुख-सुविधा, सुरक्षा तथा अधिकारों की बात करके इस तथ्य को और अधिक मजबूती प्रदान कर दी ।

अरबों ने दासों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक विनिमय का माध्यम बनाकर व्यापार में उन्हें आर्थिक मूल्य के रूप में स्थापित किया । राजनीतिक गतिविधियों में दासों की भागीदारी पहले ही थी परिणामतः बाइजेन्टाइन साम्राज्य का अनुकरण करते हुए उन्हें सैनिक सेवाओं एवं महत्वपूर्ण राजनीतिक पदों पर बिठाया जाने लगा और दासों को राजनीति तथा समाज दोनों से अच्छी तरह से जोड़ दिया गया । इस प्रकार दासता के जैविक सिद्धान्त का एक नया आयाम इस्लामी जगत में प्रस्तुत हुआ । अरबों ने जिस दासता को विरासत में प्राप्त किया था वह दासत्व द्वारा उपलब्ध करायी गयी सेवाओं तक ही सीमित थी और जो कुछ दासों का व्यापार होता भी रहा होगा वह पूर्णतः क्षेत्रीय एवं स्थानीय था । इसके पहले दासों को व्यापारिक संतुलन बनाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के माध्यम के रूप में नहीं इस्तेमाल किया गया । अरबों ने व्यापारिक जगत में उनके इस उपयोग को पहली बार पहचाना और उसके माध्यम से आवश्यक चीजों की प्राप्ति करके व्यापारिक संतुलन के अपने पक्ष में किया । इस प्रकार न केवल सामाजिक एवं राजनीतिक रूप से दास राज्य एवं समाज के लिए लाभप्रद हुए बल्कि आर्थिक दृष्टि से भी पहली बार इनका अधिक उपयोग हुआ और दास व्यापार को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अरबों ने लाकर खड़ा किया । इस प्रकार तत्कालीन अर्थव्यवस्था का

भी उन्हें महत्वपूर्ण अंग बना दिया गया और इस्लामी दर्शन ने दासता के सैद्धान्तिक निषेध के बावजूद उसके जैविक सिद्धान्त का विकास करके व्यावहारिक धरातल पर दासता को संस्थागत स्वरूप प्रदान किया और प्रत्येक दृष्टि से दासता के औचित्य का अनुमोदन किया ।

दासता की चीनी अवधारणा -

चीनी सभ्यता के इतिहास में दासता के उल्लेख अत्यन्त प्राचीन काल से ही मिलने लगते हैं । इक्कीसवीं शताब्दी ई0 पू0 से स्थापित ज़िया राजवंश (XIA DYNASTY) के काल से लेकर आधुनिक काल तक चीन में दासश्रम मौजूद था । यद्यपि कतिपय इतिहासकारों की अवधारणा है कि चीन में दासता का ह्रास 770 ई0पू0 से 476 ई0पू0 के बीच पश्चिमी झाऊ राजवंश के काल में हो गया था और 475 ई0पू0 से लेकर बारहवीं शताब्दी ई0 तक के बीच सामन्तवादी व्यवस्था के अभ्युदय एवं उत्कर्ष के दिनों में दासता का स्वरूप परिवर्तित हो गया और उसका स्थान अर्धदासता अथवा कृषि दासता ने ले लिया [207] लेकिन उपर्युक्त अवधारणा चीनी दासता का केवल एकांगी स्वरूप ही प्रस्तुत करती है । वस्तुतः चीनी इतिहास में दासता इस समूचे आलोच्यकाल में दिखायी पड़ती है । चीन में दासों को घरेलू कार्यों[208] के अतिरिक्त प्रशासनिक कार्यों[209], कृषि[210] तथा उद्योग धन्धों[211] में बहुत बड़े पैमाने पर नियोजित किया जाता था और उनका महत्व पारिवारिक अंग के साथ-साथ सम्पत्ति [212] के रूप में भी था । इतने विशाल पैमाने पर चीनी दासता के प्रचलन के बावजूद दासता की चीनी अवधारणा पर अलग से सम्भवतः कोई कार्य आज तक नहीं किया गया है इसलिये चीनी दासता का

राज्य एवं समाज से सम्बन्ध भी बहुत अधिक स्पष्ट नहीं हो सका है और न ही चीनी मूल्यबोध के सन्दर्भ में दासता को जाँचा-परखा ही गया है। अतएव यह आवश्यक है कि दासता की चीनी अवधारणा को स्पष्ट किया जाय और उसके तुलनात्मक आधार पर दासता की भारतीय अवधारणा की खोज की जाय।

चीनी इतिहास-दर्शन में जिन महान विचारकों, दार्शनिकों एवं प्रतिनिधियों का नाम आता है उनमें सर्व प्रथम कन्फ्यूशियस की गणना की जाती है क्योंकि कन्फ्यूशियस, सम्भवतः, चीनी दर्शन, राज्य एवं समाज के लिए आधार भूमि तैयार करने वाला दार्शनिक विचारक था। कन्फ्यूशियस ने सबसे पहली बार व्यक्ति की महानता को उसके जन्म के बजाय उसके सद्गुणों के आधार पर उचित बताया।[213] उसकी अवधारणा में मनुष्य ही समस्त उत्तम मार्गों का सृजन कर सकता है। उसने तीन सार्वभौमिक गुणों- प्रज्ञा (Wisdom), मानवता (Humanity) और साहस (Courage) से युक्त मनुष्य को 'उत्कृष्ट व्यक्ति' बताया और इसके विपरीत जो लोभ के वशीभूत होता है, उसे वह निकृष्ट व्यक्ति बताता है।[214] इसी क्रम में कन्फ्यूशियस ने आदर्श समाज के लिए एक जैविक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।[215] जिसमें शासक-मंत्री, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई तथा मित्र-मित्र के पारस्परिक अन्तर्सम्बन्ध निर्धारित किया। इस जैविक सिद्धान्त के अनुसार शासक एवं मंत्री के मध्य सदाचारिता अथवा धर्म परायणता, पिता एवं पुत्र के बीच प्रेम, पति तथा पत्नी के बीच स्पष्ट कार्य विभाजन, भाई-भाई के बीच छोटे बड़े का अन्तर तथा मित्र-मित्र के बीच पारस्परिक

मैत्री सम्बन्धों में विश्वास का होना परमावश्यक है । कन्फ्यूशियस की दृष्टि में सम्पूर्ण परिवार एक ही शरीर का अंग होता है । इस प्रकार वह समाज में परिवार को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान करता है।[216] जहाँ तक कन्फ्यूशियस की राज्य की अवधारणा का प्रश्न है, उसे वह एक ऐसे अभिजाततन्त्रीय व्यवस्था के रूप में स्वीकार करता है जिसमें सम्पूर्ण राज्य एक परिवार की तरह होता है और सम्प्रभु राजा उसका मुखिया; जो विनम्रता एवं पितृतुल्य गुणों से युक्त सदैव प्रजा के कल्याण के लिये समर्पित रहता है ।[217] उसकी दृष्टि में जिस प्रकार पूरे आकाश में एक ही सूर्य का अस्तित्व होता है उसी प्रकार राज्य में एक ही राजा का शासन होना चाहिए ।[218] उस राजा को दैवीय आज्ञाओं के अनुरूप कार्य भी करना चाहिए ।[219] इस प्रकार कन्फ्यूशियस अभिजाततन्त्रीय राज्य व्यवस्था के दैवी स्वरूप को प्रतिष्ठित करना चाहता है। ऐसे अभिजाततन्त्रीय शासन के लिए वह दासता को आवश्यक मानता है। उसे आशा थी कि दास-आधारित अभिजाततन्त्र पुनर्स्थापित होगा ।[220] इस प्रकार कन्फ्यूशियस दासता को राज्य का एक आवश्यक अंग मानता है ।

कन्फ्यूशियस की दृष्टि में यदि दासता राज्य का एक आवश्यक अंग थी तो दास परिवार का एक आवश्यक अंग था। इस प्रकार वह राज्य, समाज एवं दास में एक पारस्परिक अन्तर्सम्बन्ध सिद्ध करता है। चीन में राजकीय दासता का प्रधान स्रोत दण्ड था और परिवार के एक व्यक्ति के द्वारा किये गये अपराध के दण्डस्वरूप समूचे परिवार को दासता में जकड़ दिया जाता था।[221] दासता का एकअन्य स्रोत विशिष्ट परिस्थितियों में उन मनुष्यों का भी दास बनना या बनाया जाना था जिन्होंने कोई अपराध नहीं किया था और

इसीलिए जो दण्डदास नहीं थे। ऐसी परिस्थितियाँ भुखमरी की अवस्था में अपने को बेंच देने, निश्चित अवधि में ऋण की अदायगी न कर पाने तथा परिवार के स्वामी द्वारा किसी सदस्य को बेंचकर दाह संस्कार जैसे कुछ सामाजिक कार्यों को सम्पन्न करने की विवशता आदि थीं। इन दोनों स्रोतों से उपलब्ध दास चीनी राज्य और समाज में प्रारम्भ से ही दासता को स्थापित कर देते हैं। कन्फ्यूशियस इनमें से दण्ड दासता को स्वाभाविक तथा सहज बताता है और विशिष्ट परिस्थितियों से उत्पन्न होने वाली दासता को उससे पृथक करते हुये उसके प्रति भिन्न रूख अपनाता हुआ प्रतीत होता है।

कन्फ्यूशियस यद्यपि अरस्तू की भाँति प्राकृतिक दासता की बात तो नहीं करता लेकिन जैविक सिद्धान्त के आधार पर वह दासों को परिवार का एक विशिष्ट अंग मानता है और जब सम्पूर्ण परिवार राजकीय दासता में डाल दिया जाता था, जो कि उस परिवार को दण्डस्वरूप प्राप्त हुयी है और प्रकृति का आवश्यक विधान है कि अपराध करने पर उसका दण्ड मिलेगा, इसलिये दण्ड दासता प्राकृतिक हुयी और दण्डदासता के प्राकृतिक होने के कारण राजकीय दासता कास्वरूप स्वयमेव प्राकृतिक हो गया। ऐसी दासता का कन्फ्यूशियस अनुमोदन करता है। इसलिए यह कहनाअसमीचीन न होगा कि कन्फ्यूशियस की दासता की चीनी अवधारणा में प्राकृतिक दासता का आंशिक अनुमोदन मिलता है और वह केवल दण्ड दासता तक ही सीमित है। विशिष्ट परिस्थितियों में उत्पन्न दासता को यद्यपि कन्फ्यूशियस सहज नहीं बताता किन्तु इस प्रकार के दासों को वह स्वामी केप्राकृतिक अंगों का विस्तार मानता है। इसीलिए इस प्रकार की दासता एक पृथक सामाजिक सम्बन्ध के रूप

में बिना किसी स्वतन्त्र उल्लेख के उपर्युक्त पाँच प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों में आत्मसात् हो जाती है । इसी सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि कन्फ्यूशियस जैसा महान नैतिक विचारक भी दास-आधारित आभिजाततन्त्रीय व्यवस्था के वापसी का स्वप्न देखता है ।[222] अर्थात् उसकी दृष्टि में दासता राज्य की संरचना का एक आवश्यक अंग प्रतीत होती है क्योंकि राजकीय उत्पादन व्यवस्था बिना दासों के सम्भव नहीं थी और वह सामाजिक संरचना का आवश्यक अंग इसलिए स्वतः सिद्ध है क्योंकि समाज के जैविक सिद्धान्त के अन्तर्गत उपर्युक्त पाँच प्रकार के सम्बन्धों के अतिरिक्त और किसी सम्बन्ध का कोइ अस्तित्व ही नहीं है और दास अपने स्वामी के अंगों का विस्तार मात्र है ।

कन्फ्यूशियस के बाद चीनी इतिहास-दर्शन में मो-ती (मो०-त्सि) का उल्लेख मिलता है जिसने मोवाद चलाया । इसके अनुसार" प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य सदैव लाभ होना चाहिए"।[223] वह युद्ध एवं हिंसा के विपरीत था और पारस्परिक प्रेम एवं सौहार्द्र पर वह जोर देता था । लाभों की चर्चा करते हुये वह कहता है कि राजनैतिक दृष्टि से सबसे बड़ा सामाजिक हित वह है जिसमें व्यक्ति अपने से उच्च व्यक्ति (अर्थात् राजा) की अधीनता को स्वीकार करता हो ।[224] इस प्रकार मो-ती भी कन्फ्यूशियस की तरह राजा की सर्वोच्चता का समर्थन करता है। इसी तर्क से दास का हित स्वामी की आज्ञाकारिता में और स्वामी का लाभ अहिंसक प्रकार से बनाये गये दास में देखना मो-ती की दासता सम्बन्धी अवधारणा प्रतीत होती है । लेकिन मो-ती के पश्चात् चीनी दर्शन में प्रमुख विचारक मेन्शियस का युग उसके कुछ

विपरीत जाता है । मेन्शियस की दृष्टि में निरंकुशता का मार्ग शक्ति एवं लाभ से ही होकर जाता है ।[225] वह कन्फ्यूशियस का अनुयायी होने के बावजूद कन्फ्यूशियस के दर्शन में प्रत्ययवाद का समावेश कर देता है और प्रत्ययवाद के ढांचे में ही वह कन्फ्यूशियस के प्रकृतिवाद को स्वीकार करता है [226] जिसका समर्थन मेन्शियस के पश्चात तो जुन-जे़ [Hsün Tzu] भी करता है [227] लेकिन वह कन्फ्यूशियस के प्रकृतिवादी सिद्धान्तों की ओर ज्यादा झुका हुआ है ।

कन्फ्यूशियस की विचारधारा के विपरीत ताओवादका जन्म हुआ जिसके अनुसार जीवन की अवधारणा व्यक्ति केन्द्रित नहीं बल्कि प्रकृति केन्द्रित होनी चाहिये । ऐसी अवधारणा में जीवन की प्रत्येक गति-विधियाँ व्यक्ति के परिधिवर्ती एवं प्रकृति के केन्द्रस्थ होने से ही सम्पन्न होती है जबकि कन्फ्यूशियस की अवधारणा थी कि प्रकृति की परिधि के भीतर व्यक्ति केन्द्रस्थ होकर प्रकृति को नियंत्रित करता है।[228] इन सभी विचारधाराओं में दासता को कभी भी अनौचित्यपूर्ण नहीं सिद्ध किया गया । अर्थात् उपर्युक्त प्रत्येक युग में दासता अस्तित्व में थी और वह राज्य की संरचना का संयोजक तत्व बनी रही । जैसा कि मेन्शियस के विचारों को देखने से स्पष्ट होता है कि व्यक्ति कभी बुरा नहीं होता, परिस्थितियाँ उसे बुरा बनाती हैं[229] और हितैषी सरकार सदैव व्यक्ति की उस सहज सदाशयता को बनाये रखने में मदद करती है ।[230] अपराधी व्यक्ति को सपरिवार दास बनाकर राज्य उसकी परिस्थिति जन्य अपराध प्रवृत्ति का दमन करके उसे सदाशयी होने का अवसर देता है और इसी प्रकार अतीव

विवशता को विशिष्ट परिस्थितियों में दासता का विकल्प प्रदान करके समाज के समर्थ लोग असहाय व्यक्ति को सदाशयता से च्युत होकर अपराधी प्रवृत्ति का शिकार होने से बचाते हैं । दासता का औचित्य इस प्रकार मेन्शियस के दर्शन में भी देखा जा सकता है । मेन्शियस की यह अवधारणा उसके समय की चीनी अर्थव्यवस्था में दासों की भूमिका के अनुकूल थी । दासता का आर्थिक औचित्य तो स्वयं सिद्ध ही था । यह बात दूसरी है कि मेन्शियस का दर्शन अयथार्थवादी था और अपने समय की वास्तविकताओं से हटकर कन्फ्यूशियस के सिद्धान्तों को उनकी तार्किक परिणति तक पहुँचाने का प्रयास करता है । इस चीनी अवधारणा में व्यक्ति सदैव सामाजिक रिश्तों में ही बंधा रहता है, जैसा कि कन्फ्यूशियस ने इसे स्पष्टतया दिखाया है,[231] और ये सामाजिक रिश्ते, चाहे जैसी भी राज्यव्यवस्था रही हो, उस राज्य व्यवस्था के आवश्यक अंग थे । इस प्रकार कन्फ्यूशियस के बाद भी दासता का सैद्धान्तिक अनुमोदन बना रहा ।

चीनी समाज एवं राज्य में दासों की दो प्रधान कोटियों के निदर्शन मिलते हैं । एक तो वे दास थे जिन्हें 'निम्न दास'[232] कहा जा सकता जिनके लिए 'राजकीय दास'[233] का सम्बोधन भी मिलता है और दूसरे के दास थे जो परिस्थिति जन्य विवशताओं के फलस्वरूप दासता में पड़े हुए थे जिन्हें 'सामान्य दास' अथवा 'व्यक्तिगतदास' कहा जाता था। निम्न कोटि के दासों में ऐसे दासों की गणना की जाती थी जो किसी अपराध के कारण दण्ड स्वरूप दासता में आबद्ध कर लिये गये थे । यही दण्ड दासता राजकीय दासता के रूप में चीन में व्याख्यायित[234] थी जो चीनी अर्थव्यवस्था

का प्रधान आधार थी । इस दासता में पड़ा व्यक्ति अपने अपराध के दण्ड-स्वरूप अपने समस्त परिवार को दासता को बेड़ियों में जकड़वाने के लिये विवश था[235] क्योंकि इसके पीछे कन्फ्यूशियस का उदारवादी दर्शन कार्य कर रहा था जिसमें समाज के जैविक सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुये उससे युक्त समाज को आदर्श समाज घोषित किया गया था जिसमें केवल पाँच प्रकार के ही पारस्परिक अन्तर्सम्बन्ध निर्दिष्ट थे (जिनका विस्तार से उल्लेख ऊपर किया जा चुका है) अतएव अपराध भले ही किसी व्यक्ति विशेष द्वारा क्यों न किया गया हो लेकिन मानवीय समाज में वह परिवार का जैविक अंग होने के कारण उसके द्वारा किये गये अपराध के दण्ड को समूचे परिवार को भुगतना पड़ता था । और यही कारण है कि उस अपराधी व्यक्ति के साथ-साथ उसके सभी पारिवारिक सदस्यों को राजकीय दासता में आबद्ध होना पड़ता था । इसे देखकर तो ऐसा लगता है कि राजकीय दासता की यह चीनी व्यवस्था दासता की ईसाई अवधारणा के अधिक सन्निकट थी क्योंकि यदि दासता की ईसाई अवधारणा में एक व्यक्ति के मौलिक पाप से सम्पूर्ण मानव जाति उस मौलिक पाप से कलंकित हो जाती थी।[236] तो चीनी समाज एक व्यक्ति के अपराध पर कम से कम उसके पूरे परिवार को उस अपराध का दण्ड भोगने के लिए दण्ड दासता का विधान करता है । दोनों अवधारणाओं में अन्तर केवल इतना है कि ईसाई अवधारणा के शिकार सारी मानव जाति हुयी लेकिन चीनी अवधारणा का शिकार केवल परिवार । परन्तु जब चीनी समाज एवं राज्य का सबसे प्रमुख तत्व परिवार ही था तो यह कहा जा सकता है कि दासता की चीनी अवधारणा में समस्त पारिवारिक सदस्यों को दासता ईसाई

दर्शन की सम्पूर्ण मानव जाति के मूल पातक की अवधारणा से कुछ-कुछ मेल अवश्य खाती है ।

दण्डदासता अथवा राजकीय दासता के अतिरिक्त चीनी समाज व्यक्तिगत दासता से भी खूब परिचित था लेकिन यहाँ की राजकीय तथा व्यक्तिगत दासता में पर्याप्त अन्तर दिखायी पड़ता है। राजकीय दासता में दासमुक्ति की कोई व्यवस्था नहीं थी, सिवा इसके कि राजा की अनुकम्पा न हो जाय जबकि व्यक्तिगत दासता की स्वीकृति ही अनेक कड़े विधिक प्रावधानों के साथ दी गयी है । ऐसी व्यक्तिगत दासता के प्रधान स्रोत ऋण, अकाल, निर्धनता इत्यादि थे । चीनी समाज में यदि कोई व्यक्ति लिये हुए कर्ज की अदायगी निश्चित अवधि के भीतर नहीं कर देता था तो उसे उस ऋणदाता की दासता स्वीकार करनी पड़ती थी[237] और कर्ज अदायगी पर मालिक उसे मुक्त कर देता था ।[238] हन राजवंश में पिता को यह अधिकार प्रदान कर दिया गया कि निर्धनता के कारण वह अपनी पुत्री को भी बेंच सकता है ।[239] लेकिन जब भी ऐसे क्रय-विक्रय किये जाते थे तो उन पर यह प्रतिबन्ध होता था कि विक्रेता क्रेता को दासता के वास्तविक कारण से अवश्य अवगत करा दें [240] अन्यथा वह यदि दुबारा किसी तीसरे व्यक्ति को बेंच दी जायेगी तो वास्तविक कारण के अभाव में उसे निम्नकोटि की दासी माना जा सकता है और इन परिस्थितियों में दासता से उसकी मुक्ति अत्यन्त कठिन हो जायेगी ।[241] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि निम्नकोटि की दासता केवल दण्ड दासता से ही नहीं बल्कि दासता के वास्तविक कारण के लुप्त हो जाने से भी होती थी । यद्यपि चीनी विधिवेत्ता साधारण दासता और निम्नकोटि

की दासता के बीच अन्तर बनाये रखने के उद्देश्य से साधारण दासों के दास बनने के कारण को यथासम्भव लुप्त नहीं होने देना चाहते थे किन्तु सामान्यतया निम्न कोटि के दास दण्डदास ही हुआ करते थे और उन पर राज्य का एकाधिकार हुआ करता था। राजा की असाधारण कृपा के बिना उनकी मुक्ति का कोई उपाय नहीं था।

व्यक्तिगत दासता राजकीय दासता से भिन्न थी जिसमें राज्य का हस्तक्षेप केवल उसी सीमा तक था कि समाज में नियम विरुद्ध दासता न पनपने पाये।[242] तांग राजवंश में यह व्यवस्था थी कि जब भी दासों का क्रय-विक्रय हो तो उन्हें व्यक्तिगत रूप से स्थानीय मजिस्ट्रेट के समक्ष प्रस्तुत किया जाय जो दासता की उत्पत्ति का मूल कारण, उनकी स्थिति तथा आवश्यक चीजों की जाँच करेगा।[243] यदि कोई व्यक्ति अवैधानिक रूप से दास बना लिया जाता था तो उसे मुक्त किया जा सकता था।[244] लेकिन व्यक्तिगत स्वामित्व में भी दास-मुक्ति के लिए राज्य की सहमति होना आवश्यक थी।[245] इस प्रकार व्यक्तिगत दासता राज्य की देख-रेख में समाज में विद्यमान थी। चीनी समाज में सुखोपभोग की सारी सुविधाएं होने तथा संस्कृति एवं साम्राज्यवादी प्रशासन में सुधार होने के बावजूद सामान्य लोगों की विपन्नावस्था के कारण उनकी दासता में अभिवृद्धि ही हुयी। किराये के कृषक एवं कृषि श्रमिकों की सिद्धान्ततः तो मुक्त कर देने के व्यवस्था विद्यमान थी (जो बड़े-बड़े निजी भू-स्वामित्व वाले भूखण्डों पर कार्य करते थे) लेकिन व्यवहारतः वे अपने मालिक की (भू स्वामी) दया पर ही निर्भर

थे । वे खरीदे एवं बेंचे जा सकते थे, मनमाने ढंग से दण्डित किये जा सकते थे और मूलतः उन्हें विधि के समक्ष कोई न्यायिक अधिकार भी नहीं प्राप्त थे ।[246]

चीनी दासता के उपर्युक्त विवरणों से दासता की चीनी अवधारणा का जो स्वरूप उभरकर सामने आता है उसमें सबसे प्रमुख तथ्य यह है कि चीनी अवधारणा के अनुसार दण्ड दासता का मौलिक आधार है । चूँकि अपराध के लिये दण्ड की व्यवस्था एक प्राकृतिक नियम है इसलिए दण्ड के सहारे दासता के प्राकृतिक स्वरूप की अभिपुष्टि हो जाती है । चीनी अवधारणा इससे एक कदम और आगे बढ़कर एक व्यक्ति के अपराध के दण्ड भोग के लिए सम्पूर्ण परिवार को उस दण्ड का भागीदार बना देती है और इस प्रकार सम्पर्ण परिवार को दण्ड दासता से बांध देती है । और यही चीनी राज्य की अर्थव्यवस्था का प्रधान आधार भी थी । चूँकि समाज का जैविक ढाँचा कन्फ्यू-शियस ने खड़ा कर दिया था जिसमें व्यक्ति परिवार का जैविक अंग होता है, अतः यदि शरीर का कोई अंग गलत कार्य करेगा तो सम्पर्ण शरीर को उसका कष्ट भोगना पड़ेगा । इसलिए इस जैविक ढांचे में अपराध करने के लिए किसी व्यक्ति विशेष को उत्तरदायी सिद्ध किया भी नहीं जा सकता । इसीलिए चीनी समाज सम्पर्ण परिवार को ही दासता में डाल देने की बात करता है और चूँकि अपराध के लिए दण्ड का विधान एक प्राकृतिक व्यवस्था है इसलिए दासता भी प्राकृतिक है। अतएव उसके अनौचित्य का प्रश्न ही समुपस्थित नहीं होता । इसके लिए चाहे व्यक्ति केन्द्र में हो और प्रकृति उसकी परिधि पर हो अथवा प्रकृति केन्द्रस्थ हो और व्यक्ति परिधि पर; दोनों ही स्थितियों में

दासता राज्य की अर्थव्यवस्था का संयोजक तत्व थी ।

यहाँ पर दासता की यह चीनी अवधारणा दासता की ईसाई अवधारणा के काफी निकट खड़ी दिखायी पड़ती है और लगभग उसी रूप में दासता के औचित्य का आंशिक अनुमोदन भी करती हुयी प्रतीत होती है । अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ ईसाईयत समूची मानव जाति की उसके मौलिक पाप से उद्धार के लिए दासता को उचित ठहराती हैं वहीं चीनी दर्शन परिवार को राज्य का आवश्यक अंग मानकर पारिवारिक दायरे में दासता को उचित बताता है । कन्फ्यूशियस के दर्शन में व्यक्ति की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता का कोई प्रश्न ही नहीं है जब वह परिवार, समाज एवं राज्य की एक इकाई मात्र है । उसकी स्वतन्त्रता सदैव सापेक्ष स्वतन्त्रता होती है । सापेक्ष स्वतन्त्रता के पैमाने पर दास की स्वतन्त्रता निम्नतम हो सकती है लेकिन एक व्यक्ति होने के नाते है तो वह भी स्वतन्त्र ही । इस वैयक्तिक स्वतन्त्रता के होते हुये दासता के अनौचित्य को मानव स्वतन्त्रता के अपहारक के रूप में कैसे प्रतिपादित किया जा सकता है ? कन्फ्यूशियस उस तथा कथित दास-आधारित राज्य एवं समाज की पुनर्स्थापना की इच्छा जाहिर करके यह सिद्ध कर देता है कि वह राजकीय दासता के औचित्य का अनुमोदन कर रहा है । अर्थात् पारिवारिक दासता के विपरीत वह राजकीय दासता को वरीयता प्रदान करता है क्योंकि पारिवारिक दासता में तो दास-मुक्ति कतिपय विशिष्ट परिस्थितियों पर निर्भर थी लेकिन राजकीय दासता में यह राजा की असाधारण अनुकम्पा पर ही निर्भर थी । चूँकि दास उत्पादन व्यवस्था से जुड़े होने के कारण राज्य की अर्थव्यवस्था

से जुड़े हुये थे इसलिए राजा सामान्य परिस्थितियों में इन्हें मुक्त करना भी नहीं चाहेगा । इसलिए एक तरफ तो कन्फ्यूशियस दण्ड दासता को स्पष्टतया स्वीकार कर लेता है और दूसरी तरफ मानवीय दृष्टिकोण को अपनाते हुए दासों को परिवार का अंग मानकर पारिवारिक दायरे में दासता के औचित्य का अनुमोदन भी कर देता है । लेकिन उसने व्यक्तिगत दण्ड दासता को सैद्धान्तिक स्वीकृति नहीं प्रदान की क्योंकि राज्य धर्माचरण को लागू करने की प्राकृतिक संस्था है इसलिए राज्य प्रकृति की ओर से अथवा उसका प्रतिनिधि बनकर तो किसी को दण्डित कर सकता है लेकिन कोई व्यक्ति प्रकृति की ओर से अथवा उसके प्रतिनिधि के रूप में किसी व्यक्ति को दण्डित नहीं कर सकता । इसीलिए वह किसी को दण्ड दास के रूप में रख भी नहीं सकता । यह अधिकार केवल राजा का ही है ।

दासता की भारतीय अवधारणा -

भारतीय समाज में अत्यन्त प्राचीन काल से दास प्रथा का अस्तित्व दिखाई पड़ता है । दासों पर अनेकों शोध एवं सर्वेक्षण होने के बावजूद दासता की भारतीय अवधारणा को स्पष्ट करने का कोई प्रयास नहीं किया गया । एक तरफ जहाँ विश्व की अनेकानेक सभ्यताओं में दासता की अलग-अलग अवधारणाओं का बोध होता है वहीं भारतीय दासता की अवधारणा की सैद्धान्तिक विवेचना कौटिल्य, मनु, याज्ञवल्क्य, नारद तथा देवण्ण भट्ट जैसे प्राचीन भारतीय मनीषियों ने भी नहीं की । अतएव दासता की भारतीय अवधारणा को समझने के लिए मौलिक ग्रन्थों में प्राप्त भारतीय दासों से सम्बन्धित

अनेक नियमों के अनुशीलन के साथ-साथ प्राचीन विश्व की अन्य सभ्यताओं में उपलब्ध दासता की उपर्युक्त अनेक अवधारणाओं से उसे सन्दर्भित भी करना होगा तभी दासता की भारतीय अवधारणा स्पष्ट हो सकती है।

भारत में दास प्रथा पर सर्वप्रथम 'दास कल्प' नामक अलग से एक अध्याय लिखने वाले व्यवस्थाकार के रूप में आचार्य कौटिल्य का नाम लिया जा सकता है यद्यपि इससे पहले बौद्ध ग्रन्थों में दासता के अस्तित्व के प्रभूत प्रमाण उपलब्ध है लेकिन उनसे इसका क्रमबद्ध विवरण नहीं उपलब्ध होता। कौटिल्य ने दासों की 9 कोटियों की चर्चा की है जिनमें ध्वजाहृत, उदरदास गृहजात, क्रीत, लब्ध दायागत, दण्डप्रणीत, आहितक तथा आत्म विक्रयी कोटियाँ हैं।[247] लेकिन कौटिल्य उदरदास को छोड़कर अन्य प्रकार के दासों के क्रय-विक्रय पर राज्य द्वारा कठोर दण्ड का विधान करता है।[248] वह दासों को सम्पत्ति रखने का अधिकार प्रदान करता है। दास अपने मालिक की सहमति से निजी सम्पत्ति भी रख सकते हैं।[249] दासों को राज्य द्वारा विष्टि, कर्मकरों, तथा दण्ड प्रकृतियों के साथ कृषि कार्य में लगाने के उल्लेख भी वह करता है [250] किन्तु अर्थशास्त्र में स्पार्टा के हेलोटों की तरह राज्य द्वारा सामूहिक रूप से रखे गये दासों की एकाधिकारिक अवधारणा नहीं मिलती। अर्थशास्त्र में राजकीय दासों के अतिरिक्त व्यक्तिगत रूप से रखे गये विभिन्न प्रकार के दासों के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं।[251] उस समय राज्य न केवल दास श्रम का नियोजन विभिन्न कार्यों के लिये करता था बल्कि उनके साथ कर्मकर एवं दण्ड प्रकृतियों के श्रम का भी उपयोग करता था। अर्थशास्त्र दासों को न केवल वेतन देने की बात करता है [252] अपितु

दासता से मुक्ति प्राप्त करने के अनेकों रास्ते भी बताता है ।[253] भारतीय दार्शनिक एवं सामाजिक चिन्तन में जो दास जिन विशिष्ट परिस्थितियों में पड़कर दासता में आबद्ध होता था उन परिस्थितियों को दूर कर देने से उसे दास जीवन से मुक्ति प्राप्त हो जाती थी । कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दास को जन्मना एक हीन कोटि का मनुष्य नहीं बताया गया है और इस प्रकार का मनुष्य -मनुष्य के बीच कोई विभेद कौटिल्य नहीं करता । कौटिलीय अर्थशास्त्र में विवृत दासता विषयक प्रमाणों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में दासता किसी नैसर्गिक गुण के अभाव का परिणाम नहीं थी बल्कि कतिपय विशिष्ट परिस्थितियों का परिणाममात्र थी । चाहे वह युद्ध की विभीषिका रही हो अथवा किसी दण्ड को भोगने की स्थिति रही हो; भोजन की समस्या रही हो अथवा दान की अवस्था, चाहे आत्म विक्रयी की अवस्था हो, प्रत्येक अवस्थाओं में कोई न कोई विशिष्ट परिस्थिति का ही दर्शन मिलता है। इस प्रकार कौटिल्य की दासता की अवधारणा का अलग स्वरूप ही दिखाई पड़ता है। कौटिल्य के राज्य की अवधारणा राज्य को मनुष्य की चरम उपलब्धि नहीं मानती जिसके लिए इस उपलब्धि की अर्हता न रखने वाले व्यक्ति अर्थात् दास को उस उपलब्धि का अनिवार्यतया एक साधन बनाया जा सके । राज्य तो कौटिल्य की दृष्टि में मनुष्यवती भूमि एवं लाभ एवं पालन के माध्यम से मनुष्य को जीविका उपलब्ध कराने का साधन मात्र है । उसकी अनिवार्यता उसके साध्य, जीविका की अनिवार्यता, से जुड़ी हुयी है । मनुष्यवती भूमि

के लाभ में बल प्रयोग की अनुमति देते हुये कौटिल्य युद्ध का अनुमोदन करता है और राज्य के गठन एवं संचालन में शक्ति और शक्तिशाली की भूमिका को अनिवार्य समझता है।[254] शासकत्व की अर्हता, कौटिल्य की दृष्टि में, इस प्रकार बाहुबल और बुद्धिबल से उपार्जित शक्ति और संगठन की क्षमता है[255] न कि ऐसी कोई नैसर्गिक विशिष्टता जो स्वतन्त्र नागरिक में तो प्राप्त होती है परन्तु दास में नहीं। यह बात दूसरी है कि दास भी उस विशिष्टता का विकास कर लेने के पश्चात् नागरिक हो सकता है। इस प्रकार कौटिल्य की दृष्टि में दासता राज्य का संयोजक तत्त्व नहीं है और राज्य के विकास के लिए दासता की आधारशिला होना कदापि आवश्यक नहीं है।

कौटिल्य के बाद भारतीय व्यवस्थाकारों एवं विचारकों मे मनु का नाम आता है। कौटिल्य की उपर्युक्त दासता विषयक अवधारणा बाद के इन विचारकों मे भी थोड़े बहुत बदलाव के साथ दिखायी पड़ती है और ऐसा प्रतीत होता है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उपलब्ध दासता की भारतीय अवधारणा भारतीय चिन्तन की प्रतिनिधि अवधारणा की आधार भूमि है। कौटिल्य के पश्चात् मनु, ने कोई दासकल्प जैसा अलग अध्याय तो नहीं लिखा किन्तु छिटपुट उल्लेखों के रूप में दासता की चर्चा कई स्थलों[256] पर की है लेकिन मनु के विवरणों में दासता सम्बन्धी विधियाँ अदृष्टार्थक उद्देश्यों से अनुप्राणित थी जबकि अर्थशास्त्र के पीछे दृष्टार्थक उद्देश्य शास्त्रीय मान्यताओं के अनुसार उपस्थित थे। धर्मशास्त्रीय विधियों के

अतिरिक्त मनु में बहुत कुछ सामग्री ऐसी है जो विधि की कोटि में न आकर अर्थवाद की कोटि में आती है । यही कारण है कि मनु के दासता सम्बन्धी विवरणों में अति व्याप्ति, एकांगी दृष्टिकोण एवं अस्पष्टता सी दिखायी पड़ती है । मनु ने दासों 6 कोटियों[257] की चर्चा की है जिनमें ध्वजाहृत, भक्तदास, गृहजात, क्रीत, दत्रिम, पैतृक एवं दण्डदास शामिल हैं लेकिन मनु के दासता विषयक विवरण अधिकांशतः शूद्र वर्ण के सन्दर्भ में मिलते हैं जिससे यह भ्रम होना स्वाभाविक है कि मनु ने दासता को शूद्रों के लिए प्राकृतिक, नैसर्गिक एवं सहज मान लिया है। वस्तुतः मनु के विवरण ही स्वयमेव कुछ ऐसी भ्रान्तियों के जनक हैं । इन समस्याओं का निराकरण करने का कतिपय इतिहासकारों ने मनुस्मृति पर लिखी गई टीकाओं के आलोक में,यथासम्भव प्रयास किया है ।[258]

मनु दासों को सम्पत्ति रखने के अधिकार के सम्बन्ध में दुहरा मानदण्ड अपनाते हुए दिखाई पड़ते हैं । एक तरफ तो उनका कथन है कि दास पुत्र को उसके वास्तविक पिता की अनुमति से पैतृक सम्पत्ति में हिस्सा प्राप्त हो सकता है [259] और दूसरी तरफ वे स्त्री, पुत्र तथा दास के किसी भी प्रकार की सम्पत्ति रखने का पूर्ण निषेध करते हैं ।[260] इसी प्रकार दासता में आबद्ध होने और दास जीवन में न फँसने की व्यवस्थाएं भी मनु देते हैं । एक स्थल पर तो मनु का यह कथन है कि आर्य माँ बाप से उत्पन्न शूद्र पुत्र भी दास नहीं बनाया जा सकता [261] और दूसरे स्थान पर वे स्वयं कहते है कि कोई भी द्विज दास नहीं

बनाया जा सकता ।[262] लेकिन दासता को शूद्रों के जीवन में सहज बताकर[263] उपर्युक्त तथ्य का निषेध प्रस्तुत करते हुए दिखायी पड़ते हैं । इसी प्रकार एक ओर तो मनु दासों को मालिक की प्रतिछाया बताते हुये दास द्वारा अनादर कर देने पर भी उसको तिरस्कृत न करने की सलाह देकर एक उदार दृष्टिकोण का आदर्श प्रस्तुत करते हैं[264] और दूसरी ओर शूद्रों की दासता को ईश्वर प्रदत्त करार देते हुए उन्हें दासता से मुक्त कर देने के बाद भी मनु शूद्रों को स्वाभावगत या नैसर्गिक दासत्व के बाहर न निकल पाने की स्थिति पर बल देते हैं ।[265]

मनु दासों को शारीरिक दण्ड देते समय उन्हें पुत्रों की कोटि में खड़ा करते हैं ।[266] यही नहीं, वे दासों को गवाही जैसे महत्वपूर्ण अधिकार[267] देने के साथ ही साथ विशिष्ट परिस्थितियों में दासों को लेन-देन का अधिकार भी देते हुए दिखायी पड़ते हैं । मनु ने एक स्थान पर लिखा है[269] कि जब दास का मालिक विदेश चला गया हो तो मालिक की अनुपस्थिति में वह दास उसके कारोबार सम्बन्धी लेन-देन में पारिवारिक प्रतिनिधित्व की जिम्मेदारी भी निभा सकता था जिसे विदेश से वापस लौटकर आने पर वह मालिक रद्द घोषित नहीं कर सकता । लेकिन अन्यत्र एक स्थल पर मनु ने इसे अस्वीकृत करते हुए लिखा है कि वास्तविक स्वामी से भिन्न किसी व्यक्ति द्वारा की गयी बिक्री अमान्य घोषित कर दी जाती थी ।[270] ऐसा प्रतीत होता है कि मनु ने दासों की मुक्ति की भी बात की होगी क्योंकि वह शूद्रों की दासता से मुक्ति प्राप्ति के पश्चात् भी

दासता में ही पड़े रहने की बात करता है ।[271] यद्यपि अलग से मनु ने दास मुक्ति के विधान नहीं बताये हैं लेकिन वह दूसरी तरफ यह भी कहता है कि यदि कोई ब्राह्म्मण किसी द्विज को लोभवश दास बना ले तो उसे तत्काल मुक्त कर देना चाहिए अन्यथा राज्य की ओर से उसे 600 पण का दण्ड का भागी बनना पड़ेगा ।[272] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मनु के काल में भी दासता से मुक्ति की कोई न कोई व्यवस्था अवश्य रही होगी । इस प्रकार दासों को सम्पत्ति का अधिकार, उनकी मुक्ति की व्यवस्था, गवाही जैसे विधिक कृत्य, दण्ड में पुत्रों की तरह की दण्डविधान यदि एक ओर दासों के प्रति उदार दृष्टिकोण की परिचायक है तो दूसरी ओर शूद्रदासता के प्रति मनु का दृष्टिकोण अत्यन्त कठोर एवं एकांगी दिखायी पड़ता है । वस्तुतः मनु के उपर्युक्त दासता विषयक कोई ठोस निष्कर्ष तो नहीं प्रदानकरते लेकिन जो भी अवधारणाएं इससे निकाली जा सकती हैं उससे ऐसा प्रतीत होता है कि मनु के न चाहते हुए भी तत्कालीन समाणार्थिक परिस्थितियों का ऐसादबाव उनके ऊपर था जिनसे वे छुटकारा नहीं पा सकते थे । सम्भवतः यही कारण है किएक तरफ तो वे दासों की मुक्ति की अलग से कोई व्यवस्था नहीं देते और दूसरी ओर द्विजों को दास बनाने के वे घोर विरोधी हैं । मनु के पूर्व कौटिल्य ने दासों की मुक्ति की अनेक व्यवस्थाएं दी हैं लेकिन मनु ने ऐसा नहीं किया ।

ऐसालगता है कि कौटिल्य द्वारा दासों की मुक्ति का विधान प्रस्तुत कर देने के कारण दास मुक्ति एक प्रचलित रिवाज बन गयी होगी ।

प्रचलित रिवाजों के समक्ष धर्मशास्त्रीय व्यवस्थाएं, यदि वे उनके विरूद्ध जाती हैं। तो, स्वतः निरस्त समझी जाती हैं। अतः मनु ने यदि इस प्रचलित रिवाज के विरूद्ध नियम प्रदान किये होते तो उनका अनुपालन नहीं होता और यदि उनका मनु अनुमोदन करते तो वह अनावश्यक था और सम्भवतः वह मनुसुलभ वैदिक कट्टरता के विपरीत भी होती। दास मुक्ति पर मनु के मौन का शायद यही कारण रहा होगा। इसलिए यह कहा जा सकता है कि मनु की दासता विषयक उपर्युक्त अवधारणा देश एवं काल की सापेक्षता में बदलती रही तभी तो वे किसी की दासता को तो नैसर्गिकता की चादर से ढंकने की कोशिश करते हैं और किसी दास को न्यायिक प्रक्रिया का एक आवश्यक अंग बनाकर उससे लेन-देन जैसे आर्थिक कृत्यों के सम्पादन को भी बात दबे मन से स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं। इनसे ऐसा लगता है कि मनुकालीन भारतीय दासता कौटिल्ययुगीन दासता की अवधारणा के ही अनुरूप थी। मनु की परिस्थिति जन्य विवशता तथा दृष्टार्थक एवं अदृष्टार्थक के विभेद आदि ने उसे उस रूप में मुखरित नहीं होने दिया। मनु के काल में प्राप्त दासता राज्य एवं समाज का कोई आवश्यक अंग नहीं प्रतीत होती जैसा कि इसके पूर्व कौटिल्य की दासता विषयक अवधारणा में भी स्पष्टतया परिलक्षित होती है। मनु चाहे जितना अधिक वैदिक कट्टरता से युक्त क्यों न दिखायी पड़ते हों लेकिन वे दासता के औचित्य का अनुमोदन करते हुए भी नहीं प्रतीत होते।

मनु के बाद भारतीय विचारकों में याज्ञवल्क्य, नारद एवं देवण्णभट्ट का नामोल्लेख किया जा सकता है जिन्होंने अपनी कृतियों में दासता विषयक विवरण भी प्रस्तुत किया है । याज्ञवल्क्य ने आधारकाण्ड में दासों के साथ विवाद न करके किसी भी गृहस्थ व्यक्ति को तीनों लोकों को प्राप्त करने का अधिकारी घोषित किया है ।[273] यहाँ पर याज्ञवल्क्य दासों के साथ-साथ माता, पिता, अतिथि, भाई, सुहागिन स्त्री, सम्बन्धी मामा, वृद्ध बालक, रोगी, आचार्य, वैद्य, आश्रित जन, बान्धव, ऋत्विज, पुरोहित, पुत्रवधु और सहोदर भाईयों का उल्लेख करते हैं । यही नहीं, याज्ञवल्क्य ने दासों यहाँ तक कि शूद्र दासों, के अन्न को भोज्यान्न के रूप में मान्यता प्रदान की है ।[274] दास उस समय पारिवारिक सदस्य की तरह होता था । यद्यपि एकाध स्थलों पर याज्ञवल्क्य ने भी मनु का अनुकरण करते हुये श्राद्ध में भूमि पर गिरे हुये अन्न को दासों के खाने योग्य बताया है[275] लेकिन सामान्यतया दासों के प्रति याज्ञवल्क्य का दृष्टिकोण अमानवीय नहीं था बल्कि एक उदार दृष्टिकोण ही परिलक्षित होता है ।

याज्ञवल्क्य ने वर्णानुक्रम के हिसाब से ही दासता को स्वीकृति प्रदान की है अर्थात् कोई भी ब्राह्मण दास नहीं बनाया जा सकता ।[276] क्षत्रिय केवल ब्राह्मण का ही दास हो सकता है । वैश्य केवल क्षत्रिय एवं ब्राह्मणों की दासता में आबद्ध किया जा सकता है और शूद्रों के लिए ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं था । दूसरी तरफ याज्ञवल्क्य ने सम्भवतः पहली बार ब्राह्मण को दासता में आबद्ध करने की बात भी एक स्थल पर किया है । उनके अनुसार संयास पतित ब्राह्मण को राजा के दास के रूप में डाल देना

चाहिए ।[277] इस प्रकार याज्ञवल्क्य दासों के प्रति अधिक उदार दिखायी पड़ते हैं । याज्ञवल्क्य ने दासों के मुक्ति का भी विधान किया है। जब कोई दास अपने मालिक के प्राण किसी घोर विपत्ति अथवा आसन्न हमले से बचा लेता था तो उसे मुक्ति प्राप्त कर देने की बात याज्ञवल्क्य ने की है ।[278]

याज्ञवल्क्य की ही तरह नारद ने भी दासों की मुक्ति की बात की है जबकि यह वह मालिक था जब दासों की कोटियाँ 15 तक पहुँच गयी थी । नारद स्मृति में 15 प्रकार के दासों की चर्चा है जिसमें युद्ध प्राप्त, भक्तदास, गृहजात, क्रीत , लब्ध, दायादुपागत, ऋणदास, आहितक, आत्मविक्रेता पणजित प्रव्रज्यावसित, अनाकालभृत, वडवाहृत तथा कृतदास सम्मिलित हैं ।[279] जहाँ याज्ञवल्क्य जोर जबरदस्ती से दासता में ढकेलने को एक ऐसा गम्भीर अपराध मानते हैं कि यह अपराध सोने की चोरी के समान है [280] वहीं नारद दासी के अपहरण पर उस व्यक्ति आधे पैर काट लेने की बात करते हैं ।[281] इस प्रकार इन स्मृतियों दासियों की सुरक्षा प्रदान करने की भावना अत्यन्त प्रबल थी । याज्ञवल्क्य किसी दासी के गर्भ में पलने वाले भ्रूण की हत्या पर उस व्यक्ति 100 पण के दण्ड का भागी बताते हैं और ऐसी स्त्रियों पर अतिक्रमण करने पर कतिपय अन्य दण्डों की भी व्यवस्था याज्ञवल्क्य ने दी है [282] इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने दासों के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाकर नारद के लिए उसे सहज बना दिया तभी तो इतनी अधिक दास-कोटियों के बावजूद दासोंके मुक्ति की परम्परागत चली आ रही व्यवस्था में कोई अवरोध नहीं खड़ा करता बल्कि उनका अनुमोदन ही करता है ।

याज्ञवल्क्य एवं नारद की उपर्युक्त व्यवस्था में कात्यायन ने एक छूट का समावेश और कर दिया कि यदि कोई ब्राह्म्मण किसी का दास होना चाहता है तो वह केवल ब्राह्म्मण का ही दास हो सकता है और उस पर भी किसी चरित्रवान एवं वैदिक ब्राह्म्मण का ही तथा किसी पवित्र कार्य के लिए ही दास बन सकता है ।[283] कात्यायन का यह विवरण निश्चितया मनु के उस विवरण से पूर्णतया अलग एवं उसके विपरीत है जिसमें मनु ने किसी भी ब्राह्म्मण को किसी भी परिस्थिति में दासत्व में न डालने की व्यवस्था दी है ।[284] यही नहीं, सम्भवतः याज्ञवल्क्य की उस व्यवस्था में, जिसमें सन्यासपतित ब्राह्म्मण को राजा का दास बना देना चाहिए, कात्यायन ने सम्भवतः यह छूट प्रदान कर दी होगी । अथवा एक कदम और आगे बढ़ गये होंगे । ये स्थितियाँ एक सामाजिक परिवर्तन का भी संकेत देती हैं क्योंकि जो द्विज किसी भी दशा में पहले दास नहीं बनाया जा सकता था उसे अब दास बनाने की बातें मिलने लगीं । ऐसा लगता है कि कात्यायन के काल तक आते-आते दासता से मुक्ति का विधान ज्यादा प्रचलित हो गया था तभी तो ब्राह्म्मणों को भी दासता में फँस जाने से कोई विशेष खतरा नहीं दिखायी पड़ रहा था क्योंकि दास जीवन से मुक्त तो मिल ही जाती थी । अर्थात् भारतीय सन्दर्भों में किसी नैसर्गिक दासता का यह पूर्ण निषेध प्रस्तुत करती हैं ।

कात्यायन के पश्चात् दासता की अवधारणा देवण्णभट्ट की स्मृति चन्द्रिका में और अधिक स्पष्ट होती दिखायी पड़ती है। स्मृति

चन्द्रिका के व्यवहार काण्ड में दास निरूपण पर बहुत अधिक विस्तार से लिया गया है।[285] किसी विप्र को दास न बनाने की सलाह स्मृतिकार ने दी है और उत्तम वर्ण के व्यक्ति को दास बनाने पर उत्तम साहस दण्ड की व्यवस्था भी की गयी है।[286] स्मृति चन्द्रिका दास जीवन से मुक्ति का विधान भी प्रस्तुत करती है जिसमें दास एवं दासी दोनों के लिए तरह-तरह के विधान बताए गये हैं। यदि कोई दास अपने स्वामी की जान किसी घोर संकट से बचा लेता है तो ऐसे दास को मुक्त कर दिया जाना चाहिए।[287] यदि स्वामी ने किसी दासी के गर्भ से सन्तान उत्पन्न कर दी तो दासी समेत उस सन्तान को मुक्त कर देने [288] की व्यवस्था भी दी गयी। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि स्मृतियों में ऐसी व्यवस्थाएं एक ऐसे युग में दी जा रही थीं जबकि भारतीय उपमाहद्वीप में युद्धों की बहुलता एवं भयावहता से दासों की संख्या में अभूतपूर्ण वृद्धि हो रही थी। यही नहीं भारत से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर दासों का व्यापार भी किया जा रहा था जिससे दासों की संख्या में अभिवृद्धि हो रही थी।[289] यह स्थिति कात्यायन के बाद बहुत अधिक दिखायी पड़ती है क्योंकि समराइच्चकहा, कथा सरित सागर उपमितिभव प्रपंचाकथा, लेखपद्धति तथा लिखनावली आदि अनेक ग्रन्थों में दासो के व्यापार के प्रमाण [290] उपलब्ध हैं। अतः भारत में एक ओर तो दास मुक्ति के लिए तरह-तरह की व्यवस्थाएं दी जा रही थीं और दूसरी तरफ दास व्यापार में अतिशय वृद्धि हो रही थी। ऐसा लगता है कि अर्थशास्त्र के काल से लेकर लिखनावली तक दासों के सम्बन्ध में

कुछ ऐसे ही लक्षण दिखायी पड़ते हैं कि एक तरफ तो दासता समाज एवं राज्य का आवश्यक अंग कभी भी नहीं बनी लेकिन दूसरी तरफ परिस्थिति जन्य दासता सदैव वृद्धि की ओर अग्रसर रही ।

भारतीय दासता के उपर्युक्त विवरणों के तुलनात्मक अध्ययन से भारतीय दासता की अवधारणा को स्पष्ट करने में काफी सुगमता हो गयी जिससे कम से कम यह तथ्य उभरकर सामने आया कि भारत में दासता राज्य एवं समाज की एक आवश्यक आवश्यकता कदापि नहीं थी । इस प्रकार यह दासता यूनानी नगर-राज्य की दासता से पूर्णतया पृथक थी क्योंकि दासता से मुक्ति के लिए जहाँ यूनानी समाज केवल एक ही अवसर देता है कि दासों में शासन क्षमता के विकास के उपरान्त ही उनकी मुक्ति सम्भव है वहीं भारतीय समाज में दास जीवन से मुक्ति के अनेक रास्ते बनाए गये हैं । भारतीय सन्दर्भों में दासता कीउस यूनानी अवधारणा का अभाव भी मिलता है जिसके अनुसार दास जन्मना एक हीन कोटि का मनुष्य होता है और उसमें स्वतन्त्र नागरिक अथवा शासक बनने की अर्हता ही नहीं होती । यहाँ तो दासों की पैतृकसम्पत्ति में अधिकार विधिक क्षेत्रों में उनकी विश्वसनीयता के आधार पर उनका उपयोग, एवं लेन-देन जैसे महत्वपूर्ण कारोबार में उनकी हिस्सेदारी तो दिखायी ही पड़ती है बाद में बारहवीं शताब्दी ई0 के बाद ये शासक वर्ग में भी अपना स्थान सुरक्षित करा लेने लगे । भारतीय दासता यूनानी दासता के विपरीत किसी नैसर्गिक गुण के अभाव के कारण नहीं थी अपितु वह व्यक्ति का कतिपय विशिष्ट परिस्थितियों कीउपज थी । यहाँ पर राज्य मनुष्य की चरम उपलब्धि नहीं थी बल्कि आध्यात्मिक उपलब्धि

ही चरम लक्ष्य थी इसलिए यूनानी चिन्तन की वह अवधारणा भौइन सन्दर्भों में लागू नहीं हो सकती जिसमें वह राज्य की मनुष्य की चरम उपलब्धि मानकर इस उपलब्धि की अर्हता न रखने वाले को, अर्थात् दास को, इस उपलब्धि का अनिवार्यतया साधन बनाया है । जहाँ यूनानी समाज दर्शन में राज्य का विकास बिना दासों के सम्भव ही नहीं है वहीं भारतीय चिन्तन में इसका पूर्णतया निषेध दिखायी पड़ता है क्योंकि यहाँ दासता राज्य का संयोजक तत्व कभी भी नहीं रही ।

जहाँ तक दासता की ईसाई अवधारणा से भारतीय दासता के उपर्युक्त सन्दर्भों की तुलना करने का प्रश्न है, भारतीय दासता की अवधारणा उससे पूर्णतया पृथक दिखायी पड़ती है जिसका सम्भवतः सबसे प्रधान कारण यह है कि ईसाई दर्शन में मनुष्य पर मनुष्य की प्रभुता ,शासन तथा आज्ञापालन, प्रभुता तथा दासता के प्रचलित सम्बन्धों में प्रकट होती है । ऐसी अवस्था को वहाँ मानव जीवन की स्वाभाविक एवं सहज अवस्था का एक अंग माना गया है और इस परिकल्पना में ईसाई दर्शन दासता को एक सहज प्राकृतिक अवस्था मानता है जबकि उपर्युक्त भारतीय सन्दर्भों में ऐसा कुछ नहीं दिखायी पड़ता । न तो कौटिल्य ने और न उसके बाद के किसी विचारक ने दासता को नैसर्गिक माना है। यद्यपि कुछ इतिहासकार मनुस्मृति के कतिपय विवरणों के आधार पर दासता को शूद्रों के लिए नैसर्गिक अवस्था बताया है लेकिन वह सम्भवतः मनु की अदृष्टार्थक उद्देश्यों से अनुप्राणित एक ऐसी विधि थी जो व्यावहारिक जगत् में निषेधात्मक अर्थ वाली ही थी क्योंकि दासमुक्ति उस समय तक प्रचलन में आ गयी थी और रिवाजों के विपरीत धर्मशास्त्रीय मान्यताएं निरस्त समझी जाती है। ईसाई दर्शन में दासता को मौलिक पाप

से भी जोड़ा गया है। आगस्टिन कहता है कि पाप दासता का आदि कारण है जिससे मनुष्य अपनी पापमयता के परिणामस्वरूप दूसरे मनुष्य के अधीन हो जाता है । यह सब उस परम सत्ता के निर्देश में होहोता है जो अन्याय से परे हैं और केवल उसी को इस बात का सर्वोत्तम ज्ञान है कि मनुष्य को उसके अपराध के अनुरूप दण्ड कैसे दिया जाय । ईश्वरीय करूणा दासता के माध्यम से उसे अपने पातक से मुक्त होने का अवसर प्रदान करती है जो कि साथ-साथ उसके पापों का दण्ड भी है लेकिन भारतीय दर्शन में पाप की यह अवधारणा दासों के सन्दर्भ में नहीं है । यहाँ तो धर्मशास्त्रीय मान्यताओं के विरूद्ध जाने पर किसी भी वर्ण का व्यक्ति पाप का भागी बन सकता है और उस पाप से छुटकारा पाने के लिए दासता में पड़ने की आवश्यकता नहीं होती बल्कि उसके लिए अनेकों को प्रायश्चित एवं धर्मशास्त्रीय विधान प्रस्तुत किये गये हैं । जहाँ ईसाई दर्शन में प्रभुता एवं दासता के आदिकरण के रूप में पाप को उत्तरदायी बताता है वहीं भारतीय दर्शन इसके लिए विशिष्ट परिस्थितियों की चर्चा करता है जिसमें पाप और पुण्य का कोई स्थान नहीं होता । इसलिए चूँकि भारत में मौलिक पाप की कोई अवधारणा नहीं है इसलिए उससे जुड़ी हुई दासता की उपर्युक्त ईसाई अवधारणा भारत में लागू नहीं हो सकती । यहाँ तो व्यक्ति स्वयं में एक परम तत्व ही है इसलिए यहाँ पर ईसाई अवधारणा के उपर्युक्त सन्दर्भ को कोई औचित्य ही नहीं है । भारत में ईसाई दर्शन के विपरीत दासता से मुक्ति की अनेकों व्यवस्थाएं दी गयी हैं जबकि ईसाई दर्शन में दासता में

पड़े रहना ही दासों के लिए लाभकारी बताया गया है क्योंकि ईसाई दर्शन में नैसर्गिक पापों का दण्ड भोग लेने के उपरान्त ही कोई भी दास अपने मालिक की तरह स्वर्ग का अधिकारी हो सकता है। बिना पाप का भोग किये हुए ऐसा सम्भव नहीं है। इसलिए दासों के लिए, उनकी दृष्टि में, दास जीवन ही लाभकारी है क्योंकि इसमें रहकर उन्हें पापों को भोगकर उनसे मुक्त होने का तथा दैवी अनुकम्पा का अधिकारी बनने का अवसर सुलभ होता है।

जिस प्रकार दासता की ईसाई अवधारणा भारतीय दासता के इस विशिष्ट परिप्रेक्ष्य में लागू नहीं हो पाती उसी प्रकार दासता की इस्लामी अवधारणा भी यहाँ लागू नहीं हो सकती। इसके कई कारण हैं। जैसा कि सर्वविदित है कि इस्लामी अवधारणा अपेक्षाकृत बाद की अवधारणा है क्योंकि यदि भारतीय सन्दर्भों से इसका तादात्म्य स्थापित किया जाय तो भारत में इस्लाम के अभ्युदय के सदियों पूर्व दासता के प्रमाण मिलने लगते हैं। इसलिए दासता की भारतीय अवधारणा पर इस्लामी दर्शन के प्रभाव पड़ने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। दोनों दर्शनों में इस सम्बन्ध में एक समानता यही दिखायी पड़ती है कि यदि दासता की इस्लामी अवधारणा दासों को अपने मालिक के शरीर का अगला विस्तार मानते हुए उसके शरीर का आवश्यक अंग बताया है तो भारत में मनु ने भी दासों का अपने मालिक की प्रतिछाया बताया है लेकिन मनु के विचार और इस्लामी विचारों में यह एक तलवर्ती समानता है। यदि इसका गंभीरता से अध्ययन

किया जाय तो इसका विपर्यय ही दिखायी पड़ता है क्योंकि भारत में दासों को मालिक के साथ इतनी अन्तरंगता से कभी भी नहीं जोड़ा गया कि दासों के बिना समाज एवं राज्य का कोई अस्तित्व ही नहीं रह वैसे भी भारत में इस्लामिक जगत की तरह का कोई पद दासों को नहीं दिया गया था और यदि कालान्तर में ऐसी स्थिति आयी भी तो उस समय भारत में इस्लामी ध्वज फहरा रहा था जबकि दासता सम्बन्धी धर्मशास्त्रीय मान्यताएं उससे बहुत पहले स्थापित हो चुकी थीं । इस सन्दर्भ में एक बात और महत्वपूर्ण है कि मनु का उपर्युक्त विवरण केवल अर्थवाद था वह वास्तविकता के धरातल पर कुछ और ही था ।

दासता की चीनी अवधारणा भी भारतीय अवधारणा से अलग थी । चीनी अवधारणा में दास एक चल सम्पत्ति के रूप में हुआ करते थे । बड़े-बड़े कृषि फर्मों पर उनका नियोजन होता था और ये दास उस कृषि फार्म के साथ मजबूती से बंधे हुआ करते थे जबकि भारत में दासों की ऐसी स्थिति नहीं दिखायी पड़ती । न तो भारत में दास चल सम्पत्ति के रूप में ही थे और न ही कृषि के क्षेत्र से उनकी ऐसी सम्बद्धता ही थी । यह सही है कि भारत में भूमिदान के साथ साथ गाँव, पशु-पक्षी , तालाब, नौकर एवं दास तक दान ग्रहीता को प्रदान कर दिये जाते थे लेकिन ऐसे दास अन्य दासों की तुलना में अधिक नहीं थे । चीनी व्यवस्था में दास अर्थ व्यवस्था एवं राज्यव्यवस्था के एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में थे जब कि भारत में इनकी ऐसी कोई भूमिका नहीं दिखायी पड़ती । चीनी दर्शन

में दास जीवन से मुक्ति ईसाई दर्शन की दास मुक्ति की ही तरह है जबकि भारतीय सन्दर्भों में उसका निषेध ऊपर प्रस्तुत किया जा चुका है। इसलिए दासता की चीनी अवधारणा भी यहाँ लागू नहीं हो सकती। चीनी दासता में दण्डदासता, जो उसका प्रधान आधार थी, से मुक्ति केवल राजा ही वह भी विशिष्ट परिस्थितियों में ही, प्रदान कर सकता है जबकि भारतीय सन्दर्भों में दण्डदासता दासता की अन्य कोटियों की ही तरह है और उससे मुक्ति सम्भव है। इसके लिए राजा की अनुकम्पा आवश्यक नहीं है बल्कि कतिपय विधानों की चर्चा की गयी है जिसके परिपालन पर एक निश्चित अवधि व्यतीत हो जाने पर दण्ड दासों को मुक्तकर दिया जाता था।

विश्व की अनेकानेक सभ्यताओं में प्राप्त दासता की विभिन्न अवधारणाओं के अलग-अलग विस्तृत अध्ययन एवं दासता के भारतीय मौलिक ग्रन्थों में प्राप्त विवरणों से उनके तुलनात्मक अध्ययन के बाद अब दासता की भारतीय अवधारणा को रेखांकित करना आवश्यक है। शायद उपर्युक्त प्रयास के परिणामस्वरूप भारतीय अवधारणा के अनेक सम्भावित गवाक्ष खोलने में सुगमता भी हुयी है। उपर्युक्त अध्ययन से दासता की भारतीय अवधारणा का एक पक्ष जो सबसे अधिक उभरा है वह यह है कि यहाँ दासता राज्य एवं समाज की संरचना का आवश्यक अंग नहीं थी। क्योंकि यहाँ पर जैसा यूनानी राज्य में दासों की भूमिका है वैसी नहीं है। यूनानी दर्शन में यदि व्यक्ति की चरम परिणति राज्य है तो भारतीय दर्शन में उसकी

चरम परिणति आध्यात्मिक सुख है । यदि ईसाई दर्शन में मौलिक पाप से मुक्ति का माध्यम दासता है तो भारतीय दर्शन में मौलिक पाप जैसी कोई अवधारणा ही नहीं है। यदि इस्लामी दर्शन में दास मालिक के शरीर का विस्तार होकर दासता की जैविक अवधारणा प्रस्तुत करता है तो भारतीय दर्शन ऐसी अन्योन्याश्रिता से सदैव इनकार करता है। इसलिए भारतीय दासता कभी भी राज्य का संयोजक तत्व नहीं थी । भारत में राज्य व्यवस्थाओं की व्यवस्था है कोई दैवी व्यवस्था नहीं । यहाँ की राज्य व्यवस्था में दण्ड उसका प्रतीक है । एक तरह से दण्ड धर्म का पुत्र होता है। यहां पर राज्य का जो औचित्य है वह दण्ड धारण के निमित्त है और वह दण्ड धारणा इसलिए करता है क्योंकि उसे धर्म की रक्षा करनी है । धर्म स्वयं की रक्षा नहीं कर सकता और धर्म के विनष्ट हो जाने की स्थिति में 'मात्स्य न्याय' का वातावरण उत्पन्न हो जायेगा । अतएव राज्य की आवश्यकता इन पवित्र उद्देश्यों से अनुप्राणित थी और इस व्यवस्था में दासों की अनिवार्यता या सहभागिता के लिए कोई स्थान नहीं था जबकि यूनानी समाज एवं राज्य में ऐसी व्यवस्थाएं मूलबद्ध थीं ।

यहाँ अर्थ की व्यवस्था में पृथ्वी के लाभ और पालन में दासों की जो भूमिका थी वह भी अन्य सभ्यताओं से मेल नहीं खाती । भारत में दास उत्पादन के एक कारक तो थे लेकिन अन्य सभ्यताओं की तरह यहाँ दास उत्पादन के महत्त्वपूर्ण प्रधान कारक के रूप में कभी भी नहीं थे । भारतीय दासों की हालत यूनानी हैलोतों अथवा चीनी चल साम्पत्तिक

दासता की तरह कभी भी नहीं थी । कोई भी धर्मशास्त्रीय मान्यता दासों को राज्य के एकाधिकार में नहीं रखती । दासत्व व्यक्तियों का भी अधिकार है केवल राज्य की ही नहीं । इसीलिए भारत में राज्य के निर्माण में दासों की कोई भूमिका नहीं है । भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में दासों की भूमिका से इन्कार तो नहीं किया जा सकता लेकिन यहाँ इनकी भूमिका अनुषंगी है इसीलिए भारत में दासतामूलक अर्थव्यवस्था की बात भी नहीं की जा सकती । ऐसा इसलिए भी है क्योंकि यहाँ की अर्थव्यवस्था में कर्मकर, विष्टि आदि का भी दासों के साथ उल्लेख किया गया है । यहाँ पर दास एक श्रमिक के रूप में तो दिखायी पड़ते हैं भले ही कुछ सीमा तक वे अवैतनिक रहे हों लेकिन उत्पादन के प्रधान कारक तत्व के रूप में वे कभी नहीं थे । अर्थात् भारतीय राज्य व्यवस्था के लिए दासता कोई कारक तत्व नहीं थी ।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1- सैबाइन, जार्ज एच0, ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थ्योरी, चतुर्थ संस्करण (पुनर्मुद्रित), आक्सफोर्ड प्रेस, दिल्ली, 1973 ।

2- डनिंग, डब्ल्यू0ए0, ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थ्योरीज, ऐन्शियण्ट एण्ड मेडिवल, चौदहवाँ संस्करण, न्यूयार्क, 1962 ।

3- बार्कर, सर अर्नेस्ट, द पोलिटिकल थाट ऑफ प्लेटो एण्ड अरिस्टाटिल, न्यूयार्क, 1959 तथा ग्रीक पोलिटिकल थ्योरी, भाग 1 का हिन्दी अनुवाद, अनुवादक-विश्व प्रकाश गुप्त, दिल्ली, 1988 (पुनर्मुद्रित) ।

4- बार्कर, सर अर्नेस्ट, ग्रीक पोलिटिकल थ्योरी (हिन्दी अनुवाद), पृ0 46 ।

5- वही ।

6- वही ।

7- वही, पृ0 396 ।

8- वही ।

9- बार्कर ने प्लेटो के राज्य में दासता की गुंजाइश को अप्रत्यक्ष रूप से इनकार करने की कोशिश की है। उसके अनुसार " उसने (प्लेटो ने) परोक्ष रूप से एक सामान्य यूनानी समाज का अस्तित्व स्वीकार किया है । " (वही, पृ0 396), लेकिन टिप्पणी में एडम की उस विचारधारा का हवाला भी दिया है जहाँ एडम ने लिखा है कि

सामूहिक भोजन व्यवस्थामें सेवा कार्य के लिये रखे जा सकते थे।
उसने यह भी कहा है कि "जहा परिवार न हो, जैसे कि वह प्लेटो के नगर में नहीं है, वहाँ दास नहीं हो सकते। प्लेटो के साम्यवाद में घरेलू दासता का भी अन्त हो जाता है और पारिवारिक बंधनों का भी।" (पृ0 397) पर तीसरे वर्ग में परिवार रहेंगे और शायद दास भी।

10- सेबाइन, जार्ज, एच० पूर्वोद्धृत, पृ0 66

11- द्वारा उद्धृत - सेबाइन, जार्ज, एच० पूर्वो0।

12- प्लेटो दासों को स्वतन्त्र नागरिकों के साथ कृषि कार्य मे संलग्न होने की बात स्वयं स्वीकार करता है और दासों के लिए कृषि कार्य उनके विशिष्ट कार्यों मे से एक बताता है। विस्तृत अध्ययन के लिए द्रष्टव्य, सेबाइन, जार्ज, एच, पूर्वो0, पृ0 88।

13- प्लेटो श्रम विभाजन के सिद्धान्त के माध्यम से इस बात की पुष्टि करता है और उसी के आधार पर दासता के औचित्य का प्रतिपादन भी करता है। विस्तृत विवरण के लिये देखें - सेबाइन, जार्ज, एच0, पूर्वो0, पृ0 59-64 ।

14- बार्कर, सर अर्नेस्ट, पूर्वो0, पृ0 45।

15- बार्कर, सर अर्नेस्ट, दि पोलिटिकल थाट ऑफ प्लेटो एण्ड अरिस्टाटिल, पृ0 359-73 ।

16- देखिए सैबाइन , जार्ज,एच0 पूर्वो., पृ0 98-106, तथा डनिंग, डब्ल्यू0 ए0, पूर्वो0, पृ0 78-84 ।

17- बार्कर, सर अर्नेस्ट, पूर्वो0, पृ0 359 और 364 ।

18- सैबाइन, जार्ज एच0, पूर्वो0, पृ0 20 ।

19- ग्रात्सियान्स्की, पी0एस0 ए हिस्ट्री आफ पोलिटिकल डाक्ट्रिन्स (हिन्दी अनुवाद, अनु0 बुद्धि प्रसाद भट्ट), प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1985, पृ0 177-78 ।

20- वही, पृ0 177 ।

21- बार्कर, सर अर्नेस्ट, पूर्वो0 पृ0 364 ।

22- अरस्तू, की 'पालिटिक्स' का मूलग्रीक से अनुवाद, देखिए-शर्मा, भोलनाथ, अरिस्तू की राजनीति, लखनऊ, 1968, पृ0 44 ।

23- डनिंग, डब्ल्यू0 ए0, पूर्वो0, पृ0 58-59 ।

24- वही, पृ0 58 ।

25- डनिंग, डब्ल्यू0ए0, पूर्वो0, पृ0 64 ।

26- वही ।

27- इसका अप्रत्यक्ष समर्थन अरस्तू की इस विचारधारा में दिखायी पड़ता है जहाँ वह कुछ दासों को उनके मालिकों सेबुद्धिमत्ता में कहीं आगे दिखाया है। ऐसे दासों को ही शासन में स्थान मिल जाता रहा होगा ।

28- ग्रात्सियान्स्की, पी0एस0, पूर्वो0, पृ0 189 ।

29- वही । बार्कर ने भी उनके मुक्ति की बात की है । देखिए बार्कर, सर अर्नेस्ट, पूर्वो0 पृ0 365-66 ।

30- बार्कर, सर अर्नेस्ट, पूर्वो0 पृ0 36।

31- शर्मा, भोलानाथ, पूर्वो0, पृ0 92 ।

32- वही, पृ0 92-93 ।

33- ग्रात्सियान्स्की, पी0एस0, पूर्वो0, पृ0 90 तथा शर्मा, भोलानाथ, पूर्वो0, पृ0 45 । अरस्तू ने युद्ध दासता को तभी न्यायसंगत बताया है जब उच्च कोटि की साधुता से युक्त किसी व्यक्ति ने किसी को जीतकर उसे अपना दास बनाया हो । अरस्तू ने स्पष्ट रूप से कहा है कि शक्ति और साधुता का साथ होना अत्यन्त आवश्यक है । विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य, शर्मा, भोलानाथ, पूर्वो0 पृ0 100-101 ।

34- बार्कर, सर अर्नेस्ट, पूर्वो0, पृ0 366 ।

35- वही, पृ0 364-65 ।

36- वही, पृ0 360 ।

37- वही ।

38- ग्रात्सियान्स्की, पी0एस0, पूर्वो0, पृ0 144 ।

39- वही ।

40- वही ।

41- सैबाइन, जार्ज एच0, पूर्वो0, पृ0 51-54 तथा पृ0 56-61 ।

42- वही, पृ0 64-66 ।

43- वही ।

44- ग्रात्स्यान्स्की, पी0एस0, पूर्वो0, पृ0 206-7 ।

45- राय, यू0 एन0, विश्व सभ्यता का इतिहास, इलाहाबाद, 1982, पृ0 88 ।

46- वही, पृ088-89 ।

47- वही, पृ0 88-93 ।

48- रोम मे बड़े-बड़े कृषि फार्मों में दासों का नियोजन एक सामान्य घटना थी । देखिए- इनसाक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, जिल्द 16, 1977, पृ0 854 ।

49- डब्ल्यू0 जे0 वुडहाउस का दास प्रथा पर लेख इसे प्रमाणित करता है देखिए- इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स, जिल्द2, 1974 पृ0 621 पर रोमन दासता से सम्बन्धित इस लेखक का लेख ।

50- लान्सपैच, सी, डब्ल्यू0 एल0, स्टेट एण्ड फेमिली इन अर्ली रोम, लन्दन, 1908, पृ0 63 ।

51- देखिए फिनले, एम0 आई0 का 'दि इक्सटेन्ट आफ स्लेवरी,' नामक लेख जो राबिन विन्क्स द्वारा सम्पादिक पुस्तक "स्लेवरी, ए कम्परेटिव पर्सपेक्टिव, न्यूयार्क, 1972, में पृ0 1-15 में मुद्रित है ।

52- द्वितीय शताब्दी ई0पू0 के उत्तरार्ध में रोम में दासों के व्यापार में वृद्धिकारक महत्वपूर्ण कारण यह भी था कि सस्ते श्रम की मांग अत्यधिक बढ़ गयी थी जिसकी आपूर्ति सम्भवत: दासों से बेहतर और कहीं से नहीं हो सकती थी । विस्तृत अध्ययन के लिए द्रष्टव्य, वुडहाउस, डब्ल्यू, जे0 का 'रोमन स्लेवरी' पर लेख, जो इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलिजन ऐण्ड एथिक्स के जिल्द 2, पृ0 621 पर मुद्रित है। और विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य, विन्क्स राविन्स, पूर्वो0 ।

53- इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स, जिल्द 2, पृ0 621 ।

54- राय, यू0 एन0 , पूर्वो0, पृ0 107 ।

55- विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए बर्न्स, ई0 एम0, वेस्टर्न सिविलीजेशन देयर हिस्ट्री एण्ड देयर कल्चर, जिल्द 1, 1980, पृ0 167-206 ।

56- डनिंग, डब्ल्यू0 ए0, पूर्वो0, पृ0 125-29 ।

57- वही ।

58- इस प्रकरण पर और अधिक जानकारी के लिए द्रष्टव्य, बर्न्स, ई0 एम0, पूर्वो0 ।

59- सैबाइन, जार्ज एच0, पूर्वो0, पृ0 165-69 ।

60- वही, पृ0 166 ।

61- दासों के प्रति ऐसे उदात्त दृष्टिकोणों की झलक हमें मिसेट्री एवं मेनेका की दासता की अवधारणा में स्पष्टतया दिखायी पड़ती है ।

62- ग्रात्सियान्स्को, पी०एस० , पूर्वो०, पृ० 222 ।

63- वही, पृ० 229-30 ।

64- वही, पृ० 222 तथा डनिंग, डब्ल्यू०ए० , पूर्वो० पृ० 118-29 ।

65- बार्कर, सर अर्नेस्ट, ग्रीक पोलिटिकल थ्योरी, जिल्द 1, अध्याय 8, तथा सैबाइन, जार्ज एच० , पूर्वो० पृ० 64-66 ।

66- इसके विस्तृत विवरण हेतु द्रष्टव्य, सैबाइन, जार्ज, एच० पूर्वो० पृ० 157-69 ।

67- ग्रात्सियास्को, पी०एस०, पूर्वो०, पृ० 222 ।

68- वही, पृ० 229-30 ।

69- वही ।

70- वही ।

71- सैबाइन, जार्ज एच०, पूर्वो०, पृ० 171-76 ।

72- वही, पृ० 172 ।

73- कोरपोकिनों, जे०, डेली लाइफ इन ऐंशियन्ट रोम, पेंगुइन बुक्स, कनाडा, 1956, पृ० 64 ।

74- वही, पृ० 56-76 ।

75- बैरो, आर०एच०, दि रोमन्स, लन्दन, 1961, पृ० 95-96 ।

76- कोरपोकिनों, जे०, पूर्वो०, पृ० 76 ।

77- ऐसा सम्भवतः इसलिए हो गया था क्योंकि अधिक से अधिक संख्या में दासोंका रखना तत्कालीन समाज में उच्च सामाजिक हैसियत का प्रतीक बन गया था । जैसा कि जेरोम कोरपोकिनो ने स्पष्टतया यह दर्शाया है कि किसी व्यक्ति को कम से कम 8 दासों के समूह के साथ चलना एक आम चलन था । उस समय दासों का अभिज्ञान नामों से हो पाने के कारण उनको संख्यागत पहचान का तरीका ज्यादा सटीक ढंग से प्रचलित था यथा- दसवां दास, बारहवाँ या चौदहवा दास आदि । इस सम्बन्ध में और अधिक विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य कोरपोकिनो, जे०, पूर्वो०, पृ० 76 ।

78- बर्न्स, ई०एम०, वेस्टर्न सिविलाइजेशन्स, देअर हिस्ट्री एण्ड देअर कल्चर, जिल्द 1, लन्दन, 1980, पृ० 230-239 तथा सैबाइन, जो०एच०, पूर्वो०, पृ० 184-185 ।

79- सैबाईन, जो०एच०, पूर्वो०, पृ० 184 -185 ।

80- वही, पृ० 236-243 ।

81- वही, पृ० 184-185 ।

82- वही ।

83- वही ।

84- फॉस्टर, माइकेल बी०, राजनीतिक चिंतन के आचार्य (अनु०- ओमप्रकाश गाबा), जिल्द 1, दिल्ली, 1977, पृ० 229-232 ।

85- फॉस्टर ने आगस्टिन को दासता सम्बन्धी अवधारणा की समीक्षा करते हुए दिखाया है कि आगस्टिन के सिद्वान्त के महत्व का निषेध नहीं किया जा सकता। आगस्टिन दास प्रथा की निंदा नहीं करते, ऐसी विचारधारा फॉस्टर ने व्यक्त की है जबकि वे आगस्टिन की दासता सम्बन्धी अवधारणा से सहमत नहीं दिखाई पड़ते। विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य-फॉस्टर, एम0बी0,पूर्वो0,पृ0 231-232 ।

86- वही, पृ0 230 ।

87- वही ।

88- वही ।

89- वही ।

90- वही ।

91- वही, पृ0 231 ।

92- वही ।

93- बर्न्स, ई0एम0 ,पूर्वो0,पृ0 232-233 ।

94- फॉस्टर, एम0बी0,पूर्वो0,पृ0 231 ।

95- वही ।

96- वही ।

97- सैबाइन, जे0एच0,पूर्वो0,पृ0 184-185 ।

98- वही, पृ0 182-183 ।

99- वही, पृ0 186-188 ।

100- वही, पृ० 234-236 ।

101- फॉस्टर, एम०बी०, पूर्वो०, पृ० 255-257 ।

102- बर्न्स, ई०एम०, पूर्वो० पृ० 359-361 और आगे ।

103- सैबाईन, जी० एच० , पूर्वो० , पृ० 150-153 ।

104- फॉस्टर, एम०बी० पूर्वो० ।

105- वही, पृ० 231 ।

106- थॉमस एक्विनास ने मध्ययुगीन मिश्रण में एक नये और महत्वपूर्ण तत्व का समावेश किया । उसे जो सबसे बड़ा काम करना था, वह था अरस्तू के दर्शन और मसीही इलहाम के सत्य में सामंजस्य स्थापित करना । इसके लिए उसने यह तरीका नहीं अपनाया कि अरस्तू की बनी-बनाई प्रणाली को ढहा दिया जाए और उसके टुकडों से नया ढाँचा खड़ा करने का काम लिया जाय । उसने सर्वत्र यही सिद्धान्त अपनाया है कि अरस्तूवाद सच है, परन्तु पूरा सच नहीं । विस्तृत अध्ययन के लिए द्रष्टव्य- फॉस्टर, एम०बी० पूर्वो० पृ० 252-255 ।

107- वही, पृ० 252 ।

108- वही, पृ० 253 ।

109- वही, पृ० 266 ।

110- वही ।

111- ग्रात्स्यान्सकी, पी0एस0, पूर्वो0, पृ0 268 ।

112- वही, पृ0 269 ।

113- वही, पृ0 190-191 ।

114- वही ।

115- देखिए- शेरवानी, हारून खान, मुस्लिम पोलिटिकल थॉट ऐण्ड ऐडमिनिस्ट्रेशन, नई दिल्ली, 1981, पृ0 39-40 ।

116- वही, पृ0 62 ।

117- वही, प0 118-119 ।

118- बर्न्स, ई0एम0, पूर्वो0, पृ0 265 ।

119- विस्तृत अध्ययन के लिए द्रष्टव्य- हुसैन, यूसुफ, इण्डो मुस्लिम पॉलिटी {तुर्को-अफगान पीरियड}, शिमला, 1971, पृ0 1-47 ।

120- वही ।

121- बर्न्स, ई0एम0, पूर्वो0, पृ0 263-265 ।

122- द न्यू इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, जिल्द 16, यू0एस0ए0, 1977, पृ0 854 ।

123- बर्न्स, ई0एम0, पूर्वो0 ।

124- वही, पृ0 263-64 ।

125- वही, पृ0 264 ।

126- वही, पृ0 265 ।

127- द्रष्टव्य- विंक, आन्द्रे, अल-हिन्द द मेकिंग ऑफ द इण्डो-इस्लामिक वर्ल्ड, जिल्द I, अर्ली मेडिवल इण्डिया ऐण्ड द एक्सपैंशन ऑफ इस्लाम, सेविन्थ टू इलेविन्थ सेन्चुरी, आक्सफोर्ड प्रेस, 1990, पृ0 1-24 ।

128- वही ।

129- वही ।

130- वही ।

131- वही ।

132- वही ।

133- वही, पृ0 13-16 ।

134- वही ।

135- विस्तृत अध्ययन के लिए देखिये- हुसैन, यूसुफ, पूर्वो0 ।

136- वही ।

137- वही ।

138- वही, पृ0 21 ।

139- वही, पृ0 21-23 ।

140- वही ।

141= विंक, आन्द्रे, पूर्वो0 ।

142- वही ।

143- वही ।

144- बर्न्स, ई0एम0 , पूर्वो0, पृ0 259-288 ।

145- इस्लामी चिन्तकों की अवधारणाओं से ये बातें और स्पष्ट हो जाती हैं। देखिए- शेरवानी, हारून खान, पूर्वो0 ।

146- वही ।

147- वही ।

148- वही ।

149- इलियट ऐण्ड डाउसन, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स, जिल्द 1, पृ0 43-57 तथा जिल्द 2, पृ0 156, 172 -175 ।

150- वही ।

151- विंक, आन्द्रे, पूर्वो0 , पृ0 32 ।

152- वही ।

153- हुसैन, यूसुफ , पूर्वो0, पृ0 3 ।

154- वही, पृ0 16-17 ।

155- वही ।

156- शेरवानी, हारून खान, पूर्वो0, पृ0 39-40 ।

157- वही, पृ0 62 ।

158- वही ।

159- वही, पृ0 118-119 ।

160- वही ।

161- वही ।

162- वही ।

163- वही ।

164- वही ।

165- वही ।

166- यह मुस्लिम दासों को कोई अपवाद स्वरूप घटना नहीं थी ।

167- विंक, आन्द्रे, पूर्वो०, पृ० 31 ।

168- मार्क ब्लाख, फ्यूडल सोसाइटी, लन्दन, 1965, पृ० 3 ।

169- विंक, आन्द्रे, पूर्वो० ।

170- वही ।

171- वही, पृ० 32 ।

172- वही ।

173- वही ।

174- वही ।

175- वही ।

176- अहमद, एस०एम०, इण्डो-अरब रिलेशंस, नई दिल्ली, 1978, पृ० 80 ।

177- विंक, आन्द्रे, पूर्वो, पृ० 14 ।

178- वही ।

179- डेविस, डी०बी०, स्लेवरी ऐण्ड ह्यूमन प्रोगेस, न्यूयार्क, 1984, पृ० 45-46 ।

180- बुलन्वा, एल0, द सिल्क रोड, लन्दन, 1966, पृ0 196 ।

181- विंक, आन्द्रे, पूर्वो0, पृ0 32 ।

182- वही ।

183- वही ।

184- वही, पृ0 14 ।

185- वही ।

186- वही ।

187- वही, पृ0 30 ।

188- वही, पृ0 31 ।

189- वही, पृ0 33

190- वही ।

191- बुलन्वा, एल0, पूर्वो0, पृ0 196 ।

192- वही ।

193- विंक, आन्द्रे, पूर्वो0, पृ0 34-35 ।

194- वही, पृ0 35 ।

195- वही ।

196- हुसैन, यूसुफ, पूर्वो0 ।

197- वही ।

198- वही, पृ0 16-17 ।

199- देखिए- ग्रोनिज, सी0डब्ल्यू0/ स्लेवरी, लन्दन, 1958 द्वारा लिखा गया "द एटीट्यूड ऑफ इस्लाम" (पृ0 58-65) नामक अध्याय

200- वही ।

201- वही ।

202- वही, पृ0 60-61 ।

203- वही ।

204- वही ।

205- वही, पृ0 61 ।

206- वही, पृ0 64 ।

207- ऐसी विचारधारा प्रस्तुत करने वाले इतिहासकार मार्क्सवादी अवधारणा की परिधि के भीतर ही खड़े होकर राज्य एवं समाज की प्रत्येक गतिविधियों को उसी रूप में व्याख्यायित करने का प्रयास करते हैं । देखिए- चाइना हैण्डबुक सीरीज "हिस्ट्री, द्वारा संकलित, दि चाइना हैण्डबुक एडीटोरियल कमेटी, अनुवादित- इन जे0 ली0 फारेन लैंग्वेजेस प्रेस, बीजिंग, प्रथम संस्करण, 1982, पृ0 1-8 ।

208- दि न्यू इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, जिल्द 16, यू0एस0 ए0, 1977, पृ0 858 ।

209- वही ।

220- वही ।

211- वही

212- वही ।

213- इन साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, जिल्द 5, पृ0 650 ।

214- वही ।

215- वही, जिल्द 6, पृ0 307 ।

216- वही ।

217- वही, पृ0 308 ।

218- वही ।

219- वही ।

220- हिस्ट्री, पूर्वो0 पृ0 7 ।

221- पुलोब्लैंक, ई0जी0, "दि ओरिजिन्स ऐण्ड नेचर ऑफ चैटिल स्लेवरी इनचाइना,' जर्नल ऑफ इकोनॉमिक ऐण्ड सोशल हिस्ट्री ऑफ ओरियण्ट, जिल्द 1 (1958), पृ0 197 ।

222- 'हिस्ट्री,' पूर्वो0 ।

223- इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, जिल्द 5, पृ0 650 ए ।

224- वही ।

225- इन्टरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया आफ दि सोशल साइन्सेज, जिल्द 2, सम्पादक डेविट एल0 सिल्स, पृ0 398-399 ।

226- वही ।

227- इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, जिल्द 5, पृ0 650ए ।

228- इन्टरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया ऑफ दि सोशल साइन्सेज, पूर्वो0, पृ0 394-398 ।

229- वही, पृ0 399 ।

230- वही ।

231- चॉन, विंग-त्सित, "दि कान्सेप्ट ऑफ मैन इन चाइनीज थॉट' राधाकृष्णनन्, एस0 तथा राजू0,पी0टी0 {संपा.}, द कान्सेप्ट ऑफ मैन, ए स्टडी इन कम्परेटिव फिलासफी, लन्दन, 1966, पृ0 206 ।

232- पुलीब्लैंक, ई0जी0, पूर्वो0,पृ0 207 ।

233- वही, पृ0 207-209 ।

234- चीन में दोनों प्रकार की यह दासता इन राजवंश में अर्थव्यवस्था की वृद्धि में सहायक थीं । विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए- विल्बर, सी0 मार्टिन, इन्डस्ट्रियल स्लेवरी इन चाइना, ड्यूरिंग दि फार्मर हन-डायनेस्ट्री {206ई0पू0-25ई0} जर्नल आफ इकोनॉमिक हिस्ट्री, जिल्द 3, भाग1, 1943।

235- वही, पृ0 205।

236- विस्तृत विवरण के लिए इसी अध्याय का दासता की ईसाई अवधारणा वाला अंश देखा जा सकता है जिसमें इस महत्वपूर्ण विषय पर विस्तार से लिखा गया है ।

237- दि न्यू इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, पूर्वो0 ।

238- वही ।

239- ग्रीनिज, सी0डब्ल्यू0,डब्ल्यू0-स्लेवरी, प्रथम संस्करण, लन्दन, 1958, पृ0 106 ।

240- पुलीब्लैंक, ई0जी0,पूर्वो0,पृ0 208-209 ।

241- वही ।

242- वही ।

243- वही ।

244- वही ।

245- वही ।

246- दि न्यू इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, पूर्वो0 ।

247- अर्थशास्त्र, 3. 13 ।

248- वही ।

249- द्विवेदी, लवकुश, " कौटिलीय अर्थशास्त्र में दास, कर्मकर, विष्टि और शूद्र," जर्नल ऑफ गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जिल्द 41, भाग 1-4, इलाहाबाद, 1985, पृ0 11 ।

250- अर्थशास्त्र, 2.24, 1-3 ।

251- द्विवेदी, लवकुश, पूर्वो0 ।

252- वही, 2. 24, 102-3, 2. 25, 2. 27 ।

253- देखिए- द्विवेदी, लवकुश 'अर्थशास्त्र में राज्य और दासता की अवधारणा : यूनानी चिन्तन के तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में,' (पृ0 4) यह लेख 'प्राचीन भारतीय समाज नामक शीर्षक पर बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी के प्राचीन इतिहास विभाग द्वारा आयोजित राष्ट्रीय कार्यशाला में प्रस्तुत किया गया । तुलनीय- अर्थशास्त्र, 3.13 2.1)

254- अर्थशास्त्र, 2.1) विस्तृत विवरण के लिए
द्रष्टव्य- द्विवेदी, लवकुश, पूर्वो0 , पृ0 4-5 ।

255- वही ।

256- मनु0, 2.32; 3.116; 3.246; 4.180; 4.185; 7.125-126; 8.167; 8.299; 8.412-417; 9.179; 10.86;आदि अनेकों स्थलों पर दासों के भिन्न-भिन्न रूपों में उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

257- वही, 8.415 ।

258- ऐसे इतिहासकारों में डी0आर0 चानना, आर0एस0 शर्मा, आर0पी0 कांग्ले, बी0एन0 एस0 यादव, लल्लन जी गोपाल, शरदपाटिल एवं उमा चक्रवर्ती के नाम लिए जा सकते हैं जिन्होंने अपने-अपने तरीके से मनुस्मृति के इन उल्लेखों एवं उन पर मिलने वाली विभिन्न टीकाओं का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।

259- मनु0, 9.179 ।

260- वही, 8.416 ।

261- यद्यपि इसका स्पष्ट उल्लेख तो कौटिल्य करता है लेकिन मनु का दासों को सहोदर भाई, पत्नी, पुत्र, अतिथि आदि की भाँति रखने का उल्लेख तथा ब्राह्मणदासों का उल्लेख इसे अप्रत्यक्ष समर्थन देता हुआ प्रतीत होता है\देखिए- मनु0 9.179 ।

262- वही, 8.412 ।

263- वही, 8.413 ।

264- वही, 4.185 ।

265- वही, 8.414 ।

266- वही. 8.167

267- वही, 8.70

268- वही, 8.167 ।

269- वही ।

270- वही, 8.199 ।

271- वही, 8.414 ।

272- वही, 8.412 ।

273- याज्ञवल्क्य स्मृति, आचाराध्यायः, श्लोक 157-158

274- वही, श्लोक 166 ।

275- वही, श्लोक 240 पर मिताक्षरा टीका ।

276- वही, श्लोक 183 ।

277- वही ।

278- वही, श्लोक 182 ।

279- नारदस्मृति, 5.26-28 ।

280- द्वारा उद्धृत- चानना, डी0आर0 , स्लेवरी इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, दिल्ली, 1960, पृ0 115 ।

281- वही ।

282- वही, पृ0 116 ।

283- द्वारा उद्धृत- काणे, पी0वी0, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, लखनऊ, 1980, पृ0 174 ।

284- मनु0, 8.412-413 ।

285- स्मृति चन्द्रिका, देवण्णभट्ट, (सं0) एल0 श्रीनिवासाचार्य द्वितीय भाग, मैसूर, 1916 तृतीय खण्ड, (व्यवहार काण्ड), पृ0 460-469 ।

286- वही, पृ0 461-462 ।

287- वही, पृ0 463- 468 ।

288- वही ।

289- विंक आन्द्रे, पूर्वो0, पृ0 30-34 ।

290- द्विवेदी, लवकुश, 'पूर्वमध्यकालीन भारत में दासी', 'प्रोसीडिंग्स, आफ द पोजीशन ऐण्ड स्टेटस ऑफ वीमेन इन ऐंशयेण्ट इण्डिया,' जिल्द 1, वाराणसी, 1988, पृ0 300 ।

तृतीय अध्याय

दासों की आपूर्ति के स्रोत, दासों के प्रकार एवं कार्य

दासों की आपूर्ति के स्रोत, दासों के प्रकार एवं कार्य

भारतीय स्रोतों ने दासता की अवधारणा का क्रमबद्ध विवरण तो नहीं प्रस्तुत किया है किन्तु उनमें दासों के प्रकार, उनके कार्य और उनके साथ होने वाले व्यवहार पर पर्याप्त सामग्री मिलती है । इस सामग्री का उपयोग इतिहासकारों ने एक तथ्य के रूप में दासता की स्थिति का विवरण देने के लिए अधिकांशतया किया है । भारतीय इतिहास के प्राचीन तथा पूर्वमध्यकालीन युग की समाजार्थिक संरचनाओं के निर्धारण तथा उनमें दासता की भूमिका की खोज करने के उद्देश्य से भी इस सामग्री का उपयोग कतिपय इतिहासकारों ने किया है । पहले प्रकार के अध्ययन से दासता के उत्थान-पतन पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ पाता और दासता प्राचीन भारतीय समाज की केवल एक गतिहीन विशेषता मात्र बनकर रह जाती है जबकि दूसरे प्रयास में दासता की आवश्यकता, उसके विकास, ह्रास और पतन की परिस्थितियों को भी स्पष्ट करने का अवसर मिलता है। दासता के इतिहास के चित्रण के लिये इस प्रकार दासता के स्रोत, दासों के प्रकार और कार्य तथा विभिन्न समाजार्थिक सन्दर्भों में उसकी भूमिकायें इत्यादि महत्वपूर्ण हो जाती है । अर्थ व्यवस्था और उत्पादन पद्धति के साथ दासता को जोड़कर देखने के पूर्व दासों के कार्यों, प्रकारों, उनके विभिन्न उपयोगों तथा उनके प्रति किये गये व्यवहारों से सम्बन्धित उपलब्ध मूल सामग्री का विवेचन एतद् विषयक विद्वानों की अवधारणाओं के सन्दर्भ में करना आवश्यक

है । प्रस्तुत अध्याय में हम इसी दृष्टि से पूर्वमध्यकालीन दासता की विवेचना करना चाहते हैं ।

<u>दासों की आपूर्ति के स्रोत एवं दासों के प्रकार -</u>

प्राचीन काल से ही दासों की आपूर्ति का प्रधान स्रोत युद्ध था ।[1] विश्व कीउन अनेकानेक सभ्यताओं में जहां पर दासता के प्रभूत प्रमाण मिलते हैं, दासों की आपूर्ति के लिए "युद्ध" एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्रोत था ।[2] लेकिन यहाँ यह उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक है कि युद्ध सम्भवतः दासता की अपेक्षा प्राचीन है ।[3] शुक्ल यजुर्वेद संहिता के अनुसार आर्य लोग बृहस्पति स्वयं अनार्यों पर विजय प्राप्त करके उन्हें आर्यों का दास बनने के लिए विवश कर देता था ।[4] युद्ध यद्यपि पूर्व वैदिक काल में भी बहुत अधिक होते थे लेकिन इस प्रकार युद्ध में शत्रुओं को दास बनाये जाने के उल्लेख वहाँ नहीं प्राप्त होते ।[5] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि दासों की आपूर्ति के एक महत्वपूर्ण स्रोत के रूप में युद्धों का महत्व सर्वप्रथम उत्तरवैदिक काल में बढ़ा । तबसे निरन्तर युद्धों की संख्या में अभिवृद्धि के ही संकेत मिलते हैं । जब एक बार दासों की आवश्यकता एवं उनका महत्त्व लोगों की समझ में आ गया तब मानव-समूह को दासता में आबद्ध करने के लिए भी युद्धों का क्रम प्रारम्भ हो गया ।[6] धीरे-धीरे ऐसे अभियान और अपहरण दासों को प्राप्त करने के प्रधान माध्यम बन गये ।[7] भारत में उत्तर वैदिक काल के बाद युद्धों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुयी । अतः युद्ध के मूल से उत्पन्न दासता में भी उत्तरोत्तर वृद्धि ही हुयी होगी और

यह प्रक्रिया पूर्व मध्यकाल में भी अवरूद्ध नहीं हुयी होगी क्योंकि न तो इस काल में युद्धों की संख्या में कोई कमी आयी और न ही ऐसा कोई महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन ही हुआ कि दासता एक सामाजिक संस्था अथवा यथार्थ के रूप में बिल्कुल ही निर्मूल हो जाती । पूर्वमध्यकालीन भारत में वैदेशिक आक्रमण, युद्धों की निरन्तरता एवं बहुलता प्रादेशिक शासकों एवं अभिजात्यवर्गीय लोगों की एक विशिष्ट पहिचान थी । इस युग में सम्पूर्ण देश ऊहा-पोह, राजनीतिक विकेन्द्रीकरण, युद्धों की भयावहता, अराजकता एवं षडयन्त्र का अखाड़ा बन चुका था।[8] विदेशी आक्रमणों के नैरन्तर्य की भयावहता के कारण युद्ध अब कोई आकस्मिक घटना न होकर, तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति की अनिवार्यता बन चुके थे । यद्यपि कतिपय इतिहासकारों की दृष्टि में पूर्व मध्यकाल में शौर्योदारता तथा धर्मयुद्ध के आदर्शों पर जोर दिया जाने लगा था ।[9] लेकिन ये आदर्श प्रचलन में नहीं दिखायी पड़ते अन्यथा यह समूचा युग अधिकांशतया साम्राज्यवादी लिप्सा हेतु लड़े जाने वाले त्रिपक्षीय संघर्ष के इतिहास का युद्ध बनकर न रह जाता ।

आठवीं शताब्दी ई0 के प्रथमार्द्ध में सिन्ध पर अरबों ने आक्रमण करके एक प्रकार से भारत में मुस्लिम आक्रमणों की नींव डाल दी जिसकी परिणति अन्ततः भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना के रूप में ही कालान्तर में दिखायी पड़ी । 725 ई0 में भारत आये कोरियाई बौद्ध यात्री हुई-चु-आओ ने लिखा है कि वर्तमान समयमें यह देश अरबों के

आक्रमण से संत्रस्त है और लगभग आधा देश इनके द्वारा रौंदा जा चुका है।[10] उत्तर में हर्ष की मृत्यु के पश्चात् कन्नौज में चीनी राजदूत वांग-ह्यान-त्से के आक्रमण ने अन्धकार एवं संक्रमण की विषम परिस्थिति उत्पन्न कर दी।[11] उत्तरी भारत आगे चलकर महमूद गजनवी, मुहम्मद गोरी एवं कुतुबुद्दीन ऐबक के भीषण आक्रमणों का शिकार बना। दक्षिण भारतीय राजा सोलीन के राजाओं से, अपनी सम्प्रभुता की स्थापित करने के उद्देश्य से, युद्ध में उलझे हुए थे और भारतीय उपमहाद्वीप तो स्वयं ही त्रिपक्षीय संघर्ष के तूफानों को झेल रहा था। इस प्रकार समस्त पूर्वमध्यकालीन भारतीय इतिहास युद्धों से अपरिचित नहीं था बल्कि अस्थिरता एवं उपद्रव के युग में सांस लेने के लिए विवश था। युद्धों की यह बहुलता पराजितों को दास जीवन में फंसने के लिए विवश कर देती थी। इन युद्धों में बड़ी संख्या में लोग बन्दी बनाये जाते थे। यहाँ तक कि कभी-कभी एक ही युद्ध में 20000 से 50000 लोगों को दास बना लेने के प्रमाण मिलते हैं।[12] ऐसे में कतिपय इतिहासकारों का यह तर्क देना, कि पूर्व मध्यकाल में युद्ध भी दास उपलब्ध कराने के समृद्ध स्रोत नहीं रह गये थे,[13] उचित नहीं प्रतीत होता। ऐसे इतिहासकारों में ध्वजाहृत दासों के प्रति अभिव्यक्त मेधातिथि के उस दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है जिसमें वह युद्ध में पराजित क्षत्रियों को दास बनाने की स्वीकृति देने वाली पूर्ववर्ती सम्मति को अस्वीकार करता है और मनुस्मृति में मिलने वाले ध्वजाहृत दासों के उल्लेख को केवल पराजित स्वामी के दास कार्मिकों पर कब्जा कर लेने मात्र तक सीमित कर देता है।[14]

लेकिन मेधातिथि की उपर्युक्त व्याख्या अदृष्टार्थक विधान से प्रेरित प्रतीत होती है क्योंकि इसी युग में स्त्रियों को पकड़कर दासी बना लेने तथा बेचने तथा पाश्चात्य आक्रमणों में बन्दी लोगों को दास बनाकर बेचने के साक्ष्य अपवाद स्वरूप नहीं है बल्कि अकेले कालिंजर के दुर्ग से ही 50000 लोगों को युद्ध में बन्दी बनाकर दासता में आबद्ध कर देने के साक्ष्य मौजूद है ।[15] ऐसे हमलों एवं युद्ध बन्दियों के कारण दास व्यापार में वृद्धि की बात इन इतिहासकासकारों ने भी स्वीकार की है ।[16]

पूर्वमध्यकाल में भारत का व्यापारिक इतिहास दासों के क्रय-विक्रय से अपरिचित नहीं था । अन्तर्राष्ट्रीय जगत में दासों के व्यापारिक केन्द्रों के रूप में प्रतिष्ठित बसरा एवं बगदाद जैसे केन्द्र तो भारत में नहीं थे लेकिन लेखपद्धति[17] दासों को नगर के प्रमुख चौराहों पर बेचने का प्रमपण प्रस्तुत करके भारत में दास व्यापार का साक्ष्य प्रस्तुत कर देती है । लेखपद्धति के अतिरिक्त ग्वालियर से प्राप्त राउलबेल अभिलेख में दास व्यापार का संकेत मिलता है ।[18] ग्यारहवीं शती ई0 के एक अन्य अभिलेख में दासों के व्यापार की चर्चा है जिसमें मध्य प्रदेश के मालवा क्षेत्र से सुन्दर नवयुवतियों को 'दासमंडी' में ले जाकर बेचने की चर्चा है ।[19] दासों के व्यापार के लिए गुजरात, कन्नौज, टक्क, गौण तथा मालवा प्रतिष्ठित थे । [20] लेखपद्धति दासों के निर्यात का साक्ष्य प्रस्तुत करती है[21] और आन्द्रे विंक ने भारत में दासों के आयात का भी साक्ष्य प्रस्तुत किया है।[22]

पूर्व मध्यकालीन भारत में युद्धबन्दी दासों की संख्या बहुत अधिक मिलती है क्योंकि इस युग में युद्धों की बहुलता के स्पष्ट प्रमाण मिलने के कारण इन युद्धों में युद्ध बन्दियों की अनुपस्थिति से इनकार नहीं किया जा सकता । कतिपय इतिहासकारों ने युद्धों की बहुलता से दासों की संख्या में अभिवृद्धि होना स्वीकार किया है ।[23] प्राचीन काल से ही भारत में ध्वजाहृत दासों के प्रमाण मिलते हैं । चाहे कौटिल्य का अर्थशास्त्र हो [24] अथवा मनु की मनुस्मृति[25] अथवा नारद की नारद स्मृति [26] प्रत्येक स्रोत में ऐसे दासों का विवरण मिल जाता है । ऐसे दासों में सामान्य वर्गों के लोगों के साथ कभी-कभी आभिजात्यवर्गीय दासता के प्रमाण भी मिलते हैं । हर्षचरित पत्रलेखा नामक एक ऐसी ही राजपुत्री का विवरण प्रस्तुत करता है जो दासी बना ली गई थी ।[27] आठवीं शताब्दी ई0 में लिखे गये गौडवहो में ऐसे युद्धबन्दी दासों के प्रमाण मिलते हैं । जब राजा यशोवर्मा मगधराज को परास्त करके अपनी राजधानी वापस लौट रहा था तो वह उस राजा की विधवा रानियों को उनके पूर्व स्तर से च्युत करके तथा दासी बनाकर के अपने घर ले आया जहाँ पर उनसे चँवर डुलाने का कार्य लिया जाता था ।[28] युद्धों में परम्परया यह सिद्धान्त प्रचलित था कि उच्च से उच्च कुल की रानियों को युद्ध में बन्दी बनाकर दासी के रूप में रखा जा सकता था और यदि वे इसका विरोध करती थीं तो हत्या की धमकी देकर उन्हें मजबूर कर दिया जाता था। पउमचरिय में शत्रुपक्ष की बन्दिनी स्त्रियों से सामन्तों द्वारा पानी डुलवाने के लिए विवश करने के साक्ष्य मिलते है ।[29] युद्धबन्दी

दासों को सैनिक कार्यों में नियोजित करने के प्रमाण मानसोल्लास में मिलते हैं जिसमें ऐसा विवरण है कि शत्रु पक्ष के पराजित लोगों को पहले युद्धबन्दी दासों की श्रेणी में रखा जाता था और फिर उन्हें आवश्यकता पड़ने पर सैनिक कार्यों में नियोजित किया जाता था ।[30] ऐसी सेना को वह "अभित्रबल" की संज्ञा प्रदान करता है । ऐसे नियोजन में यह सतर्कता अवश्य बरती जाती थी कि उनके समक्ष न तो कोई "गुप्तवार्ता" का रहस्योद्घाटन किया जाता था और न कोई गम्भीर योजना ही बनायी जाती थी । ऐसे युद्धबन्दी दासों को सदैव अग्रिम पंक्ति में लड़ाई के लिए नियोजित किया जाता था ।[31] ध्वजाहृतों के सन्दर्भ में मेधातिथि का कथन इन प्रमाणों के आलोक में असंगत प्रतीत होता है। मेधातिथि का यह कथन कि ऐसे दासों में केवल पराजित राजा के दास ही होते हैं,[32] युद्धदासों को सैनिक कार्यों में लगाने और पराजित राजाओं को रानियों को बन्दी बनाए जाने के उपर्युक्त उल्लेखों से पुष्ट नहीं होता । अतः मेधातिथि का यह कथन धर्मशास्त्र सुलभ अदृष्टार्थक उद्देश्य से प्रेरित प्रतीत होता है।

पूर्वमध्यकालीन भारत में तुर्कों का आक्रमण भारतीय इतिहास की एक परिवर्तनकारी घटना है। इन तुर्क आक्रमणों में हजारों की संख्या में हिन्दुओं को दास बनाया गया। महमूद गजनवी ने भारत पर कुल 17 बार आक्रमण किया और अपने अधिकांश हमलों में वह भारत से कुछ न कुछ ले जाता था जिनमें हिन्दू लोगों को दास के रूपमें गजनी ले जाना[32] अपवाद स्वरूप न रहा होगा। गजनवी ने अधिसंख्य हिन्दू मन्दिरों एवं

मूर्तियों को तोड़ा तथा हिन्दुओं को जबरदस्ती पकड़कर दास बनाया और वह इन दासों को गजनी में ले जाकर बेचता था तथा जबरन इनसे इस्लाम धर्म कबूल करवाता था ।[33] एक ही युद्ध में हजारों की संख्या में लोगों को युद्धबन्दी बनाकर दासता में आबद्ध करने के पीछे केवल यही भावना रही होगी कि इससे दास बाजार में बेचकर अधिकाधिक धन प्राप्त किया जा सकता है । इतने बड़े पैमाने पर दास बनाने का उद्देश्य दास बाजार में विक्रय के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता । भारत पर तुर्क आक्रमणों का यह सिलसिला मुहम्मद गोरी के समय में दासता के इतिहास में और अधिक महत्वपूर्ण बना जब अकेले कालिंजर से लगभग 50,000 हिन्दू भारतीयों को पकड़कर दासता में ढकेल दिया गया ।[34] यद्यपि यह सही है कि इन युद्धबन्दियों में से कुछ को वापस भारत खदेड़ दिया जाता था लेकिन भारत आकर इनकी और भी दुर्दशा होती थी । अलबेरूनी लिखता है कि ऐसे युद्धबन्दी लोग जो मुस्लिम देशों से वापस आ जाते थे या किसी तरह बच निकलते थे, उनको अपने ही देश में अत्यन्त कठोर प्रायश्चित्त करने पड़ते थे ।[35] ये लोग इस प्रायश्चित को सुनकर ही सम्भवतः काँप जाते रहे होंगे जिसमें ऐसे लौटे हुए व्यक्ति को सड़े हुए गोबर के गड्ढे में तब तक आकण्ठ डूबे रहना पड़ता था जब तक कि उनमें कीड़े पड़ने की स्थिति न आ जाय ।[36] तभी उस अशुद्धि से मुक्ति सम्भव थी । भारतीय धर्म-शास्त्रीय विधानों में इतने कठोर प्रायश्चित्तों की व्यवस्था होने के कारण यह अधिकांश हिन्दुओं के लिए संभव भी न हो पाता रहा होगा

और वे भारतीय मुसलमानों की दासता में ही पड़े रहना बेहतर समझते रहे होंगे। 1192 ई० में मुहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज को परास्त करके बन्दी बनाने के पश्चात् असहाय अजमेर निवासियों को पकड़कर दास बना लिया और उन्हें दासों के बाजार मे ले जाकर बेंच दिया।[37] 1197 ई० गुजरात से लगभग 20,000 हिन्दुओं को दास के रूप में मुस्लिमों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी।[38] एक विवरण के अनुसार 39 महमूद गजनवी ने अपने सम्पूर्ण गंगा घाटी के मैदानी अभियानों से लगभग 55000 हिन्दुओं को दास बनाया।[40]

भारत ही नहीं विश्व की उन सभ्यताओं में, जहाँ पर दासता के प्रमाण मिलते हैं, भी दासों की आपूर्ति के युद्ध महान स्रोत थे। सिसली में 262 ई०पू० में एकरेन्जों के अधिग्रहण के पश्चात् लगभग 2500 युद्धबन्दियों को बेचा गया।[41] 209 ई०पू० में इटली में टारेन्टेम के दुबारा अधिग्रहण के पश्चात् 30000 युद्धबन्दी दास बेचे गये।[42] सातवीं शताब्दी ई० में चीन द्वारा उत्तर भारतीय तुर्कों पर आक्रमण करने के पश्चात् समस्त पराजितों को दास बना लिया गया।[43] पांचवी शताब्दी ई० में हून तथा जर्मन आक्रमणों के समक्ष पश्चिमी रोमन साम्राज्य का पतन होता है।[44] बाइजेण्टाइन साम्राज्य छठीं तथा सातवीं शताब्दी ई० में अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत था।[45]

सातवी शताब्दी में इस्लाम के अभ्युदय के पश्चात् अनेक भीषण युद्धों का क्रम प्रारम्भ हो गया। प्रायः प्रत्येक हमले में बहुत अधिक संख्या में लोगों को

युद्ध दास बनाया जाता था ।[46] सुमेरियन सभ्यता में लोग युद्ध के माध्यम से अधिकांश लोगों को दासता की बेड़ियाँ पहना देते थे ।[47] मिस्रीदासता का सबसे प्रधान मूल युद्ध ही था। उन्होंने बड़े पैमाने पर पराजित हिब्रुओं को दासता में जकड़ दिया।[48] चूँकि व्यक्ति के लिये युद्ध का सबसे घातक परिणाम उसकी हत्या हो सकती थी इसलिए उसके प्राणों को इस संकट से मुक्ति दिलाने के बदले में व्यक्ति की सभी स्वतन्त्रताओं का अपहरण किया जा सकता था । युद्ध के मूल से उत्पन्न दासता का सम्भवतः यही औचित्य-मूलक अर्थ भी था ।

युद्धबन्दी दासों के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापारिक सम्बन्ध कायम करने में भी आसानी हुयी होगी । इसका सबसे अच्छा उदाहरण अरब आक्रमणों में देखा जा सकता है जिन्होंने दास व्यापार के बल पर अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में अपनी एक अलग पहचान बनायी ।[49] युद्ध और सैनिक विजय के माध्यम से इस्लाम का प्रचार एवं साम्राज्य विस्तार करने वाले अरब व्यापारियों ने युद्ध में पकड़े गये दासों का व्यापारिक विनिमय का एक साधन बनाया और व्यापारिक संतुलन को अपने पक्ष में किया ।[50] अरबों ने इन दासों को एक व्यापारिक माल के रूपमें प्रयोग किया ।[51] पूर्वी अफ्रीका, से सोने के लिए दासों को वि निमय का माध्यम बनाना, भारत से मसाले, सूती कपड़े तथा रंगों के बदले दासों को भारत में बेचना तथा इसी प्रकार लाल सागर, यूरोप एवं मध्येशिया के साथ दास व्यापार कायम करना अरबों का प्रमुख उद्देश्य बन गया ।[52] इसी दास व्यापार के

माध्यम से उन्हें अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध सुधारने में मदद मिली होगी। ऐसा अनुमान है कि 900-1100 ई0 के बीच अरबों ने लगभग 1,74,0000 दासों का व्यापार केवल ट्रांस-सहारा मार्ग से किया।[53] यही नहीं, 850-1000 ई0 के बीच अरब लोग लाल सागर के पार एवं हिन्द महासागर के मार्गों से मुस्लिम एशिया एवं भारत को लगभग 1000 दास प्रतिवर्ष भेजते थे।[54]

युद्धबन्दी दासों के अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापार एवं उनकी खपत कोकतिपय पाश्चात्य विद्वानों न स्पष्टतया दिखाया है।[55] इन्होंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार बाइजेण्टाइन साम्राज्य दासों की खपत का एक अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र था और इस व्यापारिक माल की आपूर्ति के लिए वोल्खोव और वोल्गा के जलमार्गों को जोड़कर बाल्टिक सागर से कालासागर तक आर्थिक गतिविधियों का मार्ग प्रशस्त किया गया था।[56] कीव में केन्द्रित वरैंगियन साम्राज्य की स्थापना स्कैण्डीनेविया और कालासागर के बीच के व्यापारिक मार्गों के नियन्त्रण की दृष्टि से हुयी थी और उसके निर्यात के प्रमुख मालों में इस्लामिक जगत् अथवा बाइजेण्टाइन साम्राज्य के लिए भेजे गये दास ही थे। जिनमें युद्धबन्दियों की संख्या अत्याधिक थी।[57]इस प्रकार यह स्पष्ट दिखायी पड़ता है कि विश्व कीउन तमाम सभ्यताओं के साथ भारत का पूर्वमध्यकालीन युग युद्धबन्दी दासों से खूब परिचित था और राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ऐसे दासों का व्यापार भी यहाँ पर होता था। इससे यह धारणा

बलवती होती प्रतीत होती है कि पूर्वमध्यकालीन भारत में भी दासों की आपूर्ति के लिए युद्ध एक प्रमुख स्रोत था।

युद्ध के बाद दासता के दूसरे स्रोत के रूप में अकाल, महामारी, आर्थिक विपन्नता एवं अन्य दैवीय आपदाओं कोदेखा जा सकता है जिनके कारण व्यक्ति न चाहते हुये भी विवशता में किसी दूसरे व्यक्ति की पराधीनता स्वीकार करता था। आर्थिक विपन्नतावश दास बनने के प्रमाण प्रायः प्रत्येक युग में दिखाई पड़ते हैं। नारद ऐसे दासों को 'अनाकालभृत दास'[58] कहता है तथा कौटिल्य इन दासों को 'उदरदास' से सम्बोधित करता है।[59] पूर्णमध्यकालीन भारत में अनेक स्थलों पर ऐसे प्रमाण विद्यमान हैं जिससे प्राकृतिक आपदाओं से दुर्भिक्ष के संकट उत्पन्न हो जाने का प्रमाण मिल जाता है। कल्हण राजतरंगिणी में ऐसी ही दशा का वर्णन करते हुए लिखता है कि कश्मीर में अवन्तिवर्मा के शासनकाल में बाढ़ का प्रकोप आ गयाजिससे बाद में अकाल पड़ गया [60] तथा पार्थ के शासनकाल में अतिवृष्टि से खरीफ की सम्पूर्ण सफल नष्ट हो गयी। लोक भूख-प्यास से मरने लगे।[61] अकाल की विषम परिस्थिति में बहुत से लोगों ने अपनी क्षुधा-पिपासा की शान्ति के लिए किसी समृद्ध व्यक्ति की दासता को स्वीकार कर लिया। लेखपद्धति के एक विवरण में एक लड़की, जो भूख से व्याकुल थी, दरवाजे - दरवाजे पर स्वयं को किसी भी कीमत में किसी भी कार्य के लिए, बेचने के लिए दस्तक देती है।[62] अन्त में वह एक धनी व्यक्ति द्वारा खरीद ली जाती है।

साथ ही उससे यह शर्त भी जोर-जोर से चिल्लाकर स्वीकार करवाई गई कि यदि मेरे मालिक ने मेरे साथ गर्भधारण करने की अवस्था में यौनाचार किया अथवा मेरी हत्या कर दी तो उसके सिर्फ पवित्र नदी में एक बार स्नान कर लेने पर इसका प्रायश्चित हो जायेगा और मालिक पूर्णतः दोषमुक्त हो जायेगा ।[63] किसी के प्राणों की कीमत इससे सस्ती और क्या हो सकती है। पबोध चन्द्रोदय में कुछ इसी रह का उल्लेख है जिसमें दो व्यक्तियों की इसी तरह आर्थिक विपन्नतावश दास बन जाने का प्रमाण मिलता है । श्रीकृष्ण मिश्र ने इन्हें बिना किसी भुगतान के दासता में पड़ते हुये दिखाया है ।[64] इस सम्बन्ध में उन इतिहासकारों की बात में काफी बल दिखायी पड़ता है जिसमें उन्होंने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि पूर्वमध्यकालीन भारत में अकाल एवं युद्ध की विभीषिकाएं साधारण बाते थी जिसमें लोग अपने जीवन को सुरक्षित करने के उद्देश्य से किसी की भी दासता को स्वीकार कर लेते थे ।[65]

दासता का अन्य स्रोत कर्ज था ।[66] अकाल की स्थिति में बहुत से लोग ऋणग्रस्त हो जाते थे । भरणपोषण एवं जीवन की सुरक्षा के लिये धन आवश्यक था जो ऋण के माध्यम से सुलभ होजाता था। दैवी आपदाओं की आत्यधिक विषम परिस्थिति में कभी-कभी ऋण अदायगी सम्भव नही हो पाती थी । दूसरी तरफ महाजनों का व्याज उन पर बढ़ता जाता था । बढ़ते हुए व्याज के कारण न केवल उनकी सारी सम्पत्ति बिक जाती थी बल्कि एक समय ऐसा भी आता था जबकि उन्हें स्वयं

को भी बेचना पड़ता था । राजतरंगिणी ऋणग्रस्तता के कारण स्वयं को दास के रूप में बेंचने का प्रमाण प्रस्तुत करती है ।[67] वैसेभी ऋणदासता भारत में कोई पूर्वमध्यकालीन घटना नहीं थी । पूर्वकालीन समाज में भी ऐसे प्रमाण बहुत मिलते हैं । कौटिल्य दासों की एक कोटि "आत्म विक्रयी" बताता है [68] जिनमें ऐसे दासों की गणना की जा सकती है। नारद[69] में भी ऐसे दासों का उल्लेख मिलता है । कौटिल्य ने ऐसे दासों की दो कोटियां बतायी हैं – एक तो वे दास होते थे जो किसी निश्चित अवधि के लिये होते थे और दूसरे वे दास थे जो इसी शर्त पर सम्भवत: खरीदे हो जाते थे जिन्हें दासता से मुक्ति नहीं प्रदान की जा सकती थी ।[70] लेकिन यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ऐसी व्यवस्था स्पष्ट थी कि मुक्ति की शर्त पर खरीदे गये दासों को ऋणअदायगी के बाद भी मुक्त न करना एक दण्डनीय अपराध था ।[71] और यह परम्परा पूर्वमध्यकाल के धर्मशास्त्रों मे भीमिलती है। इस सन्दर्भ में इस सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि कभी भी मुक्त न होने के लिये खरीदे जाने वाले उदर दासों को भी भी अपने मूल्य में चुकायी गई रकम अदा कर पाने की आशा न रही होगी और वे अदायगी का कोई प्रयास भी न करते रहे होंगे । यद्यपि आगे चलकर भारूचि [72] और मेधातिथि[73] ने एक तरफ तो यह विधान किया कि कर्ज अदायगी न होने पर असमर्थ तथा गरीब लोगों से मूल तथा व्याज की अदायगी के लिये ऋणदास के रूप में शारीरिक श्रम करवाया जाय लेकिन दूसरी तरफ यह व्यवस्था भी दी कि कर्ज की अदायगी के लिये अपने को किसी दूसरे का दास बना देना शास्त्रादेश के विरूद्ध है। वृहदारण्यक उपनिषद् पर भाष्य लिखते हुए शंकराचार्य

जंजीरों में जकड़ गये होंगें और स्वार्थ प्रेरित महाजनो को उन्हें मुक्त करने की अनिच्छा के कारण यह बंधन और भी अधिक मजबूत हो गया होगा।[74] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है ऋणग्रस्तता से दासों की संख्या में वृद्धि प्राचीन काल सेलेकर पूर्वमध्यकाल तक सभी युगों में हुई होगी और "ऋण" दासों की आपूर्ति का एक दूसरा प्रमुख स्रोत बना होगा।

युद्ध दासता की तरह ऋणदासता केवल भारतीय परिवेश तक ही सीमित नहीं थी अपितु विश्व की अन्य सभ्यताओं में भी ऋणदासों के निदर्शन होते हैं। प्राचीन रोम एवं यूनान में तो कर्ज अदायगी न कर पाने की वजह से दासता में पड़ने के ढेर सारे प्रमाण मिलते है।[75] यद्यपि एथेन्स में छठी शताब्दी ई०पू०[76] तथा रोम में चतुर्थ शताब्दी ई०पू० में ऐसी दासता पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया गया था[77] लेकिन सैद्धान्तिक प्रतिबन्धों के बावजूद व्यावहारिक जगत में ऋणदासता काफी दिनों तक चलती रही। बाद में रोमन विधि की स्थापना के बाद यह सैधान्तिकता की परिधि के भीतर आयी और तब जाकर इस प्रथा पर अंकुश लगाया जा सका।[78] मिस्र में गरीब माँ-बाप कर्ज के बदले अपनी सन्तानो को बेंचते हुये दिखाई पड़ते हैं। इसे भी रोमन विधि द्वारा नियत्रित किया गया लेकिन इस पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाना सम्भव न हो सका।[79] बाईबिल में इस प्रकार के उदाहरण मिल जाते हैं जिसमें ऋणदासों को एक निश्चित अवधि के बाद मुक्त करने का विधान किया गया है।[80] यहूदियों के मध्य यह प्रथा प्रचलित थी और इसे वे अपने कानूनों एवं नियमों द्वारा संचालित करते थे। कर्जदार

एवं उसके अन्य पारिवारिक सदस्य ऋण बन्धक के रूपमें बेचे जा सकते थे, जबकि हिब्रुओं को स्थायी दासता विधि सम्मत नहीं थी ।[81] एक हिब्रू को ऋण-बन्धक के रूप में दास बनाकर केवल 6 वर्षों के लिए ही रखा जा सकता था और इस अवधि के पूरा होने पर उसे मुक्त करना पड़ता था, चाहे उसके द्वारा लिये गयेकर्ज की पूर्ण अदायगी हुयी हो अथवा न हो पायी हो ।[81] यदि इस अवधि के बाद भी वह दास अपने मालिक की अधीनता में किन्हीं कारणों से रहना चाहता था तो उसे मालिक सहित एक न्यायाधीश के समक्ष उपस्थित होना पड़ता था जो इस आशय का आदेश पारित करता था। तत्पश्चात् वह मालिक उस दास के कान को लोलको {LOBE} में एक छेद बनाता था और उसके बाद उस दास को सदा सर्वदा के लिए अपने पास रख लेता था ।[82] कान में छेद करना सम्भवतः अन्य दासों से उनकी अलग पहचान कायम करने के उद्देश्य से प्रेरित लगता है। नव्यप्रसूत अनाथ बच्चे को दास के रूप में बेच देने की प्रथा कांस्टैण्टाइन महान के समय में प्रचलित थी जो विधि सम्मत भी थी ।[83] इसी प्रकार चीनी सभ्यता में कर्ज के बदले दास बनाने का प्रमाण मिलता है ।[84] एक निश्चित अवधि के भीतर कर्ज का भुगतान न होने पर ऋणदाता द्वारा कर्जदार को दास बना लिया जाता था और उसे दासता से मुक्ति तभी मिल पाती थी जब वह ब्याज सहित सम्पूर्ण कर्ज की अदायगी कर दे ।[85]

जुएबाजी द्वारा दासों की प्राप्ति एक दूसरा महत्वपूर्ण एवं मनोरंजक पहलू है जो अधीतकालीन साक्ष्यों में तो दिखाई ही पड़ता है लेकिन पूर्वकालीन समाज में भी ऐसे प्रमाण मिल जाते हैं । जुआ दासों की आपूर्ति का एक सहज एवं शालीन साधन बना । भारत में जुआ खेलने की प्रथा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। ऋग्वेद [86] में जुए में पत्नी को दाँव पर लगा देने का प्रमाण मिलता है। कतिपय इतिहासकारों की दृष्टि में यद्यपि जुए में पत्नी को दाँव पर लगाना एक अत्यन्त घृणित कार्य था ।[87] लेकिन फिर भी यह प्रथा भारत में प्रचलित थी । महाभारत का कौरवों एवं पाण्डवों के बीच खेला गया जुआ प्रसंग, जिसमें पाण्डवों को अपनी एकमात्र पत्नी द्रौपदी को दाँव पर लगाते हुए दिखाया गया है,[88] दासता को स्वीकृति प्रदान करने का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। इसमें पराजित व्यक्ति को विजेता द्वारा दास बना लिया जाता था जिसका वे कोई भी उपयोग कर सकते थे । यहाँ तक कि दासी को भरी सभा में अपने आक्रोश एवं पुरानी रंजिश का बदला चुकाने के लिए नंगा करने का उपक्रम करना कोई अनैतिक कृत्य नहीं था। भले ही उस रंजिश में उस भुक्त-भोगी दासी की कोई भूमिका न रही हो । कभी-कभी मंत्रियों को भी दासता में आबद्ध होना पड़ता था जिसका कारण उसके राजा का जुए में हारना होता था।[89] नारद[90] तथा विष्णु[91] ने ऐसे दासों को 'पणयजित' दासों की कोटि में रखा है । द्यूतक्रीडा में पत्नी को दाँव पर लगा देने की प्रथा तो भारत में प्रचलित थी लेकिन पूर्वमध्यकालीन साक्ष्यों में स्वयं को भी

दाँव पर लगा देने की घटनाएं मिल जाती हैं ।[92] कथा सरित्सागर में एक ऐसी ही रोचक कथा का जिक्र किया गया है ।[93] पेशे से व्यापारी, एक ऐसे व्यक्ति को जुए में बाजी जीतते हुए दिखाया गया है। यह व्यापारी शय्या बेंचने का व्यापार करता था। उसने अपने ग्राहक को एक कहानी इस शर्त पर सुनाई कि यदि वह ग्राहक उस कहानी का अर्थ निरूपण कर देगा तो व्यापारी उसे मुफ्त में एक चारपाई प्रदान कर देगा । यदि उसका अर्थ बताने में वह असफल हुआ तो बदले में उस व्यापारी की दासता ग्राहक को स्वीकार करनी पड़ेगी । अत्यन्त भीड़युक्त उस बाजार में उस ग्राहक ने सबके समक्ष व्यापारी की शर्त स्वीकार कर ली और दुर्भाग्यवंश वह कहानी का अर्थ न समझा सका । शर्त के मुताबिक अन्तत: उस ग्राहक को व्यापारी की दासता स्वीकार करनी पड़ी।[94] निस्संदेह शर्त में हारने के पश्चात् दासत्व में आबद्ध होने की यह विवशता पूर्वमध्यकालीन भारत में लोगों को दास बनाने की उस सहज प्रक्रिया कीओर संकेत करती है जिसके परिणाम स्वरूप निश्चित रूप में दासता की जंजीरें अत्यन्त सस्ती होगई होंगी । इससे यह आभासित होता है कि पण्यदासता युद्ध दासता की तरह पराजय का परिणाम थी और जुआ मार-काट के बिना हार-जीत के फैसले का एक शान्तिपूर्ण तरीका था। यह सही है कि पूर्वमध्यकाल में दास मुक्ति कीअनेक सैद्धान्तिक व्यवस्थाएं बनायी गई लेकिन व्यावहारिक जगत में दासमुक्ति के इस नियमों के बावजूद दासता में वृद्धि ही हुयी होगी ।

वासुदेव हिण्डी में दो सम्पन्न घरानो के लड़को में आपस में शर्त लगाते हुए देखा गया है जिसमें एककिसी को, हारने के पश्चात् दासता

में बंधने को शर्त थी ।[95] दो सम्पन्न घराने के युवक विदेश जाने के पहले यह शर्त लगाते है कि जो व्यक्ति विदेश से अधिक धन कमाकर लौटेगा उसका दास दूसरे व्यक्ति को, जो उससे अपेक्षाकृत कम धनोपार्जन किये होगा, बनना पड़ेगा । इस शर्त के अनुसार दोनो में से किसी एक के पास तो अपेक्षाकृत धन कम होगा ही । अर्थात् किसी न किसी को दासता में फंसना भी पड़ेगा । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अधीतकाल में दास बनना या दासता स्वीकार करना एक असाधारण घटना नहीं रह गयी थी अन्यथा छोटी-छोटी शर्तों और बातो को आन पर दास बनाने और दास बनने की चर्चा पूर्वमध्यकालीन कथा-कहानियों में नहीं आती । पूर्व-मध्यकाल में ऐसी और कथाएं भी मिलती है जिनसे जुए में हारने के बाद विजेता द्वारा पराजित व्यक्ति/ व्यक्तियों को दासता में घसीट लिया जाता था । कथा सरित्सागर में सम्पन्न घराने के लोगों को दासता में बंधते हुए दिखाया गया है ।[96] यहाँ शिवदत्त नामक एक ब्राह्मण द्वारा जुए में जीत लेने के पश्चात् अपने समस्त हारेहुए खिलाड़ियों को दास बनाते हुए चित्रित किया गया है। कथा सरित्सागर में उनके लिए स्पष्ट रूप से "सकुलोत्पन्न "शब्द प्रयुक्त हुआ है ।[97] इससे ऐसा लगता है कि दासता किसी विशिष्ट वर्ण अथवा रंग पर नहीं बल्कि परिस्थितियों पर निर्भर करती थी । यद्यपि दासता सिद्धान्ततः उच्च वर्णों के लिए नहीं थी परन्तु कतिपय विशिष्ट परिस्थितियों में उच्च वर्ण के लोगों को भी दासता स्वीकार करनी पड़ती थी । रामायण में ऐसे उल्लेख मिल जाते हैं ।[98]

स्वयं महाभारत का प्रसिद्ध जुआ-प्रसंग इसकी पुष्टि कर देता है ।[99] ऐसा लगता है कि दास-दासियों के ऊपर घोर अत्याचार एवं अनाचार भी उस युग की आचार संहिता की सूक्ष्म तकनीकी अवधारणा के अनुरूप ही था अन्यथा द्रौपदी की चीर खींची जाने के समय धर्मराज युधिष्ठर, शास्त्रज्ञ द्रोण एवं नैतिकता की प्रतिमूर्ति भीष्म पितामह आदि सभी चुप बैठकर असहाय परिस्थिति का परिचय न देते । दासता की ऐसी ही अवधारणा आलोच्य काल में भी दिखाई पड़ती है ।

दासों की आपूर्ति के अन्य साधनों में दान, प्रेम सम्बन्ध एवं परम्परागत रूप से चले आ रहे उत्तराधिकार तथा कतिपय अन्य नियम भी थे । भारत में दान की परम्परा उसके मूल से बंधी हुयी है जो वैदिक यज्ञों की दक्षिणा से प्रारम्भ होकर पूर्वमध्यकाल में भूमिदानों एवं ग्रामदानो के रूप में विकसित हुयी और यह दान पूर्वमध्यकालीन भारतीय समाजार्थिक संरचना में निर्णायक भूमिका अदा करने वाला कारक सिद्ध हुआ । पूर्वमध्यकालीन दान की अवधारणा में एक ओर यदि असन्तुलन और एकांगी रूझान की प्रवृत्ति का निदर्शन मिलता है तो दूसरी ओर दान आध्यात्मिक उद्देश्यों की ऊँचाई से गिरकर भौतिक लाभ के उद्देश्य से होने वाले आदान-प्रदान अत्यन्त सतही धरातल पर भी उतरता हुआ दिखाई पड़ता है । दान की अवधारणा में दास-दासी के दान की प्रथाएं अभिलेखों में मिलती है ।[100] दासी, जो जन जातीय और पशुपालन प्रधान अर्थव्यवस्था में एक प्रधान देय वस्तु के रूप में मिलती है,[101] अर्थव्यवस्था के उस नगरीय चरण में अर्थात्

पूर्वमध्यकाल में, जिसमें उत्पादन के क्षेत्र में दासों की प्रधान भूमिका को कतिपय इतिहासकारों द्वारा रेखांकित किया जाता है, देय वस्तुओं के रूप में नहीं दिखायी देती फिर भी दास-दासियों के कतिपय दान सम्बन्धी विवरण मिलते हैं।[102] इस युग में पुरुष दासों का देय वस्तुओं की सूची में अपेक्षाकृत अभाव दिखाई पड़ता है। इन विसंगतियों को देखने से ऐसा लगता है कि कुछ देय वस्तुओं के आधार पर किसी अर्थव्यवस्था का ढांचा नहीं खड़ा किया जा सकता। फिर भी बल्लालसेन ने देय वस्तुओं की सूची में दास-दासियों की चर्चा की है।[103]

भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से ही दास-दासियों के दान करने का प्रमाण मिलता है। ऋग्वेद, उत्तरवैदिक साहित्य की दानस्तुतियों,[104] रामायण[105] महाभारत[106] अर्थशास्त्र[107] अग्निपुराण[108] मानसोल्लास,[109] कथासरित्सागर[110] आदि अनेक स्रोतों में दास-दासियों के दान की चर्चा है। कतिपय अभिलेखीय साक्ष्य भी दास-दासियों के दान की चर्चा करते हैं।[111] ऐसे दासों को 'लब्ध दास" की श्रेणी में रखा गया है। पूर्वमध्यकाल में दासों को उपहार स्वरूप देना एक आम बात थी। कथासरित्सागर में ऐसा वर्णन मिलता है कि राज्यधरनामक व्यक्ति ने अपने बड़े भाई प्राणधर को इसलिए दासकन्याएं अर्पित की क्योंकि उसके पास कोई दासी नहीं थी।[112] दास-दासियों को दान में देने की प्रथा का एक कारण यह भी था कि तत्कालीन समाज में यह विश्वासफैल चुका था कि ऐसे दानों के माध्यम से दानदाता का मोक्ष का मार्ग सुगम हो जाता है। सम्भवतः यह विश्वास प्राचीन भारतीय दान की उस महत्ता की ओर संकेत देता है जिसमें मानव जीवन

का शायद ही कोई पक्ष ऐसा बचा था जो दान की परिधि से बाहर रहा हो । अर्थात् जिसका स्पर्श दान किसी न किसी रूप में न करता रहा हो । समाजार्थिक जीवन की भौतिक प्रक्रियाओं से लेकर आध्यात्मिक जीवन की परमता की उड़ानों तक पाप और पुण्य की अन्ध विश्वासात्मक मान्यताओं से मनोविज्ञान और सामाजिक विज्ञान की तर्कपूर्ण समझ तक दान के जितने भी विश्लेषण किये गये है, अथवा किये जा सकते है वे सभी भारतीय दान की इस विशालता एवं बहुआयामी परम्परा में किसी न किसी सन्दर्भ में सार्थक प्रतीत होते हैं ।

अग्नि पुराण[113] में दास दान के प्रमाणों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अप्सरालोक की प्राप्ति का एक माध्यम दास-दान भी था । सम्भवतः यह व्यवस्था धर्मशास्त्रों की उस अदृष्टार्थक विधान की ओर संकेत करती है जिससे दृश्य जगत् में दासों की आपूर्ति भी सरल हो जाती रही होगी । कुछ ऐसे अभिलेखीय साक्ष्य मिले हैं जिनमें जनता को दान ग्रहीता के आदेशों का पालन करने का निर्देश दिया गया है ।[114] साथ ही उपहार आदि देने के लिए राज्य की ओर से आदेश निर्गत किये गये हैं ।[115] सम्भवतः ऐसे आदेशों को जनता द्वारा अनुपालनीय बनाने के लिए ही ऐसी शास्त्रीय मान्यताएं निर्दिष्ट की गयी होगी जिससे कि कालान्तर में मन्दिरों में दास-दासियों के दान करने की प्रथा में भी तेजी आई होगी । मन्दिर में दास दान का यह औचित्य बताया जाता रहा होगा कि इस लोक में दान दाता को आर्थिक समृद्धि मिलेगी और मृत्यु के उपरान्त सीधे स्वर्ग की प्राप्ति हो जायेगी । सम्भवतः इसीलिए यह भी विधान किया गया होगा

कि दान में दिये हुए दास को वापस लेना सोने की चोरी के बराबर का अपराध है ।[116] धीरे-धीरे दासों को दान में देने की प्रथा का विकास होता गया और एक समय ऐसा आया जबकि अधिक से अधिक संख्या में दासों का दान जहाँ एक ओर शीघ्रातिशीघ्र मोक्ष प्रदायक बना होगा वही दूसरी ओर अधिक से अधिक संख्या में दासों का रखना सामाजिक हैसियत का प्रतीक भी बन गया होगा ।

मन्दिरों में बढ़ती हुई देवदासी प्रथा सम्भवतः इसके एक पक्ष का उद्घाटन करती है जिनको कालान्तर में वेश्या तक के कार्यों के लिए विवश कर दिया गया होगा । पूर्वमध्यकाल में तीर्थों एवं धार्मिक केन्द्रों का विकास इतना अधिक हुआ कि उनमें व्यापारिक गतिविधियां भी सम्पादित होने लगीं और वे नगरों का रूप धारण करने लगे । इससे मन्दिरों और धार्मिक केन्द्रों को बड़ी मात्रा में व्यापारियों एवं श्रद्धालुओं का सहयोग मिला और मन्दिर समृद्धिशाली होने लगे । समृद्धशाली परदेशियों तथा शासकवर्गीय लोगों की लिप्सा के परिणामस्वरूप देवदासियों को वेश्यावृत्ति तक के लिए मजबूर किया गया होगा । धार्मिक संस्थाओं के अन्दर ऐसी परिस्थितियों के पीछे सम्भवतः इन देवदासियों की वह विवशता रही होगी जिनमें इन्हें मन्दिरों में रहने के कारण जन्म जन्मांतर भूमि दान मिलते रहने[117] वेतन मिलने[118] तथा उत्तराधिकार स्वरूप अपनी सन्तानों के भरण पोषण के लिए[119] उन्हें भी देवदासी बनाने की कामना रहती रही होगी । अनेक ऐसे अभिलेखीय साक्ष्य ऐसे मिले हैं जिनमें उनके वेश्यावृत्ति

में तो लिप्त होने की बात तो नहीं की गयी है लेकिन उक्त अन्य विवशताओं एवं कामनाओं की ओर इंगित किया गया है।[120] कभी-कभी निस्संतान देवदासियों को गोद लेने या किसी भी साधन से (खरीदने तक से) कन्या प्राप्त करने के प्रमाण भी मिले हैं जिन्हें देवदासी के रूप में प्रतिष्ठित करने की उसकी भावना निहित थी ।[121] यह भावना उन परिस्थितियों में भी विद्यमान थी जहाँ कि सदा सर्वदा उसे देवदासी के रूप में ही जीवन व्यतीत करना पड़ता था। तन्जौर से प्राप्त एक लेख से इसकी पुष्टि हो जाती है।[122] देवदासियों को वासना के शिकार बनने के अप्रत्यक्ष प्रमाण उन अभिलेखीय साक्ष्यों से भी परिपुष्ट होते दिखायी पड़ते हैं जिसमें उनके कार्य के अनुरूप इन देवदासियों का स्तर निर्धारित किया गया है।[123] कोप्परम के कोइण्डरमस्वामी मन्दिर के सेवकों एवं देवदासियों के निमित्त एक कन्नड़ राजा द्वारा दिये गये दान में देवदासियों की 4 कोटियाँ दिखाई पड़ती हैं- नर्तकी, गायकी, चामरिकया तथा सेवा विलासिनी।[124] इनको क्रमशः 12 ख 6 ख, 5 ख तथा जमीन प्रति व्यक्ति की दर से प्रदान की गई।[125] निश्चित रूप से इन देवदासियों की सेवा विलासिनी कोटि की देवदासियों को दासी सदृश वासनात्मक पूर्ति का साधन भी बनाया जाता रहा होगा। इसी प्रकार त्रैलोक्यवर्मन सोमेश्वर प्रथम के सुदी अभिलेख से देवदासियों की 6 विभिन्न कोटियों की चर्चा मिलती है जिन्हें उनके स्तर एवं कार्य के अनुपात में भूमिदान दिया गया।[126] इनमें अन्य प्रयोगों में प्रयुक्त देवदासियों को सबसे कम जमीन प्रदान की गई।[127] जिसमें ऐसी देवदासियों

को भी संख्या सम्भावित है जिन्हे शारीरिक सुखोपभोग के लिए भी प्रयोग किया जाता रहा होगा। उच्च वर्ग की देवदासियों से उच्च कार्य तथा निम्न वर्ग की दासियों से निम्नकार्य लिए जाने के अन्य प्रमाण भी अभिलेखों में मिलते हैं।[128] कभी-कभी देवदासियों को उनकी जाति के हिसाब से भी कार्य में लगाया जाता था जिनमें शूद्र वर्ग की वलंगई तथा इदंगई जातियों की चर्चा मिलती है।[129] निश्चित रूप से देवदासियों का जाति एवं कार्य के हिसाब से विभाजन एवं स्तर के क्रमानुसार भूमिदान की व्यवस्था उनकी अशुभ कर्मों में नियोजन की संभावना को संबल प्रदान करती है जिनमें शारीरिक सुख की शान्ति अपवाद स्वरूप न रही होगी। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि दानों की बढ़ती हुई लोकप्रियता, धार्मिक केन्द्रों एवं मन्दिरों की सम्पन्नता एवं उसके प्रति बढ़ता हुआ आकर्षण इत्यादि से दासों की संख्या में अभिवृद्धि हुयी होगी। अतः यह कहा जा सकता है कि "दान" दासों की आपूर्ति का एक माध्यम भी बना होगा।

वासनात्मक प्रेम के वशीभूत होकर किसी की गुलामी स्वीकार करना एक ऐसी प्रवृत्ति का परिचायक है जिसे प्रायः प्रत्येक युग में देखा जा सकता है और इससे दासता में बढ़ोत्तरी ही हुयी होगी और प्रणय सम्बन्ध, तथा शारीरिक सम्बन्ध भी दासों को प्राप्त करने के माध्यम रहे होंगें। दासी के साथ प्रेम-पाश में बंधकर स्वयं को दास के रूप में प्रस्तुत कर देने के उदाहरण यद्यपि संख्यात्मक दृष्टि से अधिक नहीं मिलते लेकिन पूर्वमध्यकालीन भारत के सन्दर्भ में यह एक महत्वपूर्ण बात लगती है क्योंकि ऐसे युग में जब दास मुक्ति

के प्रावधानों की बढ़ती हुई सरलता के कारण दासता के ह्रास की बात की जाती है ।[130] तो स्वतन्त्र व्यक्ति का दासी के साथ प्रेमपाश में बंधना दासी की मुक्ति का कारण बनने के बजाय उस व्यक्ति को ही दासता के पाश में क्यों जकड़ देता था ?

दासों को प्राप्त करने के कतिपय अन्य प्रमुख स्रोतों में क्रय-विक्रय दण्ड तथा उत्तराधिकार के परम्परागत नियम इत्यादि भी शामिल थे । पूर्वमध्यकालीन भारत दासों के अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर क्रय-विक्रय का प्रमाण प्रस्तुत करता है। कौटिलीय अर्थशास्त्र से लेकर लेखपद्धति तक प्रायः सभी ग्रन्थों में जहाँ, दासों की चर्चा है, दासों के क्रय-विक्रय की चर्चा अवश्य है । राउलवेल अभिलेख में दास विक्रय एवं उनके बाजार[131] तथा लेखपद्धति से दासों को चौराहों परबिक्री,[132] धारअभिलेख से प्राप्त अन्तर्क्षेत्रीय दासी मण्डी[133] तथा उपमितिभव प्रपं चाक था[134] व राजतरंगिणी[135] के दास व्यापारियों के प्रमाण इत्यादि दासों के क्रय-विक्रय के प्रमाण के लिए पर्याप्त है । व्यावहारिक स्तर पर दासों के आयात-निर्यात तथा बड़े पैमाने पर उनके क्रय-विक्रय के केन्द्रों के उदय के साथ-साथ दासता के नवीन आयाम अवश्य हीविकसित हुए होंगे । भोग विलास के साधनो के रूप में उनका उपयोग तथा शासन के कार्यों में उनका हस्तक्षेप निश्चित रूप से विदेशी प्रेरणा पर विकसित दासता की भारतीय प्रवृत्तियाँ रही होंगी किन्तु इस नवीन आयाम के साथ पुराने आयाम भी चलते रहे होंगें । दासों के व्यापार में भारत की भूमिका को अगले अध्यायों में और अधिक स्पष्ट किया जायेगा ।

यहाँ पर प्रसंगतः इतना कहना पर्याप्त होगा कि क्रय-विक्रय भी दासों की आपूर्ति का एक सशक्त माध्यम रहा होगा ।

दण्ड के फलस्वरूप दासता की बेड़ियाँ पहनाने एवं उसके औचित्य को सिद्ध करने का सबसे अच्छा उदाहरण तो चीनी सभ्यता में दिखाई पड़ता है [136] लेकिन भारतीय सभ्यता भी ऐसे दासों से अपरिचित नहीं थी । न्यायिक दण्ड के फलस्वरूप मिलने वाले दण्ड का भोग दास श्रम के माध्यम से चुकाना भारतीय दण्डदासता की विशेषता थी । यहाँ पर दासता एक सजा के रूप में भी देखी जा सकती है । लेकिन कभी-कभी रजवाड़ों में तनिक सी बात पर गुस्सा आ जाने के परिणामस्वरूप राजा के नौकरों को दासता में डाल दिया जाता था ।[137] पारिवारिक जीवन में पुरुषों की स्वेच्छा-चारिता तथा स्त्रियों के प्रति उनकी क्रूरता आदि ने अनेकों स्त्रियों को दासी जीवन व्यतीत करने के लिए मजबूर कर दिया ।[138]कथा सरित्सागर में एक ऐसी ही सभ्य महिला का वर्णन मिलता है जो अपने पति द्वारा प्रताड़ित किये जाने पर तथा उसके द्वारा दी गई हत्या की धमकी से डरकर एक अत्यन्त शक्तिशाली क्षत्रिय की दासी बनने के लिए तैयार हो जाती है ।[139]प्राचीन काल में एक पिता को यह अधिकार होता था कि वह अपनी पत्नी तथा संतानों को अपनी सुविधानुसार किसी भी दशा में, दास-दासी की अवस्था भी इसमें शामिल है, रख सकता था ।

दण्डदासों की चर्चा कौटिल्य ने "दण्ड प्रणीत" [140] तथा मनु ने "दण्डदास"[141] के रूप में की है । इसके अतिरिक्त कतिपय अन्य धर्मशास्त्र

ग्रन्थों एवं साहित्यिक स्रोतों से ऐसे दासों के प्रचलन के प्रमाण मिल जाते हैं। निश्चित रूप से सम्भ्रान्त परिवारों को इस स्रोत से दासों की आपूर्ति अवश्य हो जाती रही होगी क्योंकि दास मुक्ति के विधान धर्मशास्त्र ग्रन्थों में अर्थशास्त्र की अपेक्षा अधिक लचीले नहीं थे। इस अन्तर का कारण यह प्रतीत होता है कि धर्मशास्त्रों के विधान अदृष्टार्थक लाभ की दृष्टि से बनाये गये थे जिनका अतिक्रमण करने से केवल पाप लगता है किन्तु अर्थशास्त्र के विधान व्यावहारिक जीवन के दृष्टार्थक तथ्यों को ध्यान में रखते हुये बनाये गये थे और इसीलिये वे अधिक न्यायिक और उदार लगते हैं। धर्मशास्त्रों ने दासमुक्ति के उन विधानों की जान बूझकर अवहेलना भी की होगी जो उनकी दृष्टि में अर्थशास्त्र के विषय माने जाते थे। धर्मशास्त्रीय ग्रंथ अपनी परम्परागत प्रतिबद्धताओं के कारण दासों के प्रति उस प्रकार उदारता का रवैया अपनाने में सक्षम न रहे होंगे जिस प्रकार की अर्थशास्त्रीय ग्रन्थ। इस काल के साहित्यिक ग्रन्थ दासों के प्रति उदारता के रवैये में कभी-कभी अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण को भी पछाड़ देते हैं। वे मनुष्य की स्वतन्त्रता के अपहरण को घोर पाप बताते हुये भी यथार्थ जीवन की उन विसंगतियों को चित्रित करते हैं जिनके परिणामस्वरूप एक ही युद्ध में कई हजार लोग बन्दी बनाये जाते थे और दूसरों की दासता में सड़ते रहने के लिए विवश किये जाते थे। वे सामाजिक यथार्थ के चित्रण में अभिजात्यवर्गीय परिवारों के लोगों को भी, कतिपय विषम परिस्थितियों में पड़कर, दासता में जकड़ दिये जाने के विवरण उपस्थित करते हैं और धर्मशास्त्रों की उस मान्यता का भी पर्दाफाश करते हैं जिनके अनुसार किसी द्विज को दास

नहीं बनाया जा सकता ।

कौटिल्य,[142] मनु [143] तथा नारद[144] ने दासों को जितनी कोटियाँ गिनायी हैं वे प्रायः उपर्युक्त विषम परिस्थितियों की ही परिणाम थीं । उपर्युक्त दासता के स्रोतों के सूक्ष्मावलोकन से दासो की जो कोटियाँ उभरकर सामने आती हैं उनमे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कौटिल्य की परम्परा काआगे के युग में विकास दिखायी पड़ता है जो नारद के काल में 15 प्रकार के दासों के रूपमें समुपस्थित होता है। नारद के बाद यद्यपि दासों की कोटियों की स्पष्टतया कोई चर्चा तो नहीं मिलती लेकिन उन विवरणों को देखने से यह बिल्कुल स्पष्ट होता है कि दासता में उत्तरोत्तर वृद्धि ही हो रही थी ।

दासों के कार्य -

कतिपय इतिहासकारों द्वारा पूर्वमध्यकालीन भारत में दासों के कार्य को दासता की स्थिति में परिवर्तन प्रदर्शित करने का आधार बनाया गया । उनके विचार में दासता का स्वरूप पूर्वमध्यकाल तक आते-आते घरेलू दासता में बदल चुका था क्योंकि दासों से जो कार्य पूर्वकाल में लिये जाते थे वे उत्पादन प्रक्रिया से सम्बन्धित थे जबकि पूर्वमध्यकाल में उनसे केवल घरेलू कार्य ही अधिक लिये जाते थे । [145] यह परिवर्तन इन विद्वानों की मान्यतानुसार दासता की निवर्तमान स्थिति का परिचायक है। दासों के कार्य तथा दासता की स्थिति में आने वाले ये पूर्वमध्यकालीन परिवर्तन इस युग के अन्य आधारिक परिवर्तनो के परिणाम माने गये हैं ।[146] इन आधारिक परिवर्तनों

की प्रक्रिया पूर्वमध्यकाल में सामन्तों के उदय के रूप में देखी जा सकती है। जमीन पर व्यक्तिगत रूप से सामन्तों का अधिकार हो जाने पर व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने की प्रथा का प्रचलन हो गया और इस युग में अधिकांश कृषकों को अर्धदासता का जीवन व्यतीत करना पड़ा।[147] अर्थात् इस युग में दासों का कृषि कार्य में नियोजन कृषक अर्धदासों के नियोजन की अपेक्षा लाभकारी नहीं रह गया। इसी आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया कि चूँकि दास इस युग में अर्थव्यवस्था के अंग नहीं रह गये थे और प्राचीन काल की अर्थव्यवस्था दासों पर अधिकांशतया आधारित थी, इसीलिए पूर्वमध्य युग में दासता में ह्रास की स्थिति दिखाई पड़ती है।[148]

दासता में ह्रास का यह उपर्युक्त निष्कर्ष उत्पादन में दासता की भूमिका के पूर्वमध्यकालीन उल्लेखों के तथा कथित अभाव के आधार पर निकाला गया है और पूर्वकाल के सन्दर्भ में अर्थशास्त्र और बौद्ध जातकों के उल्लेखों को समूचे पूर्वकाल का परिचायक मान लिया गया है। इस बात पर ध्यान ही नहीं दिया गया कि पूर्वकाल के भी धर्मशास्त्र ग्रन्थ उसी प्रकार दासों के उत्पादन कार्यों में नियोजन नहीं करते जिस प्रकार कि पूर्वमध्यकालीन धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ। अर्थशास्त्र जैसा कोई ग्रन्थ चूँकि पूर्वमध्यकाल के सन्दर्भ में नही मिलता इसीलिए दासों की अर्थव्यवस्था में भूमिका का अभाव तो शायद नहीं था लेकिन उनके उत्पादन कार्यों में नियोजन को दिखाने वाली अर्थशास्त्र की परम्परा ही नहीं थी। अर्थशास्त्र जैसे स्रोत के अभाव को उत्पादन प्रक्रिया में दासों की भूमिका का अभाव मान लिया गया है। जहाँ तक बौद्ध

जातकों का प्रश्न है, इस प्रकार के फुटकर उल्लेखों का अभाव पूर्वमध्यकालीन स्रोतों में भी नहीं है। पूर्वमध्यकाल के यथार्थ जीवन की उपलब्ध झलकियों में दासों के उत्पादन कार्यों में नियोजन की भूमिका के पर्याप्त संकेत मिलते हैं। दासों की पूर्वमध्यकालीन स्थिति को समझने के लिये उनके कार्यों को समग्रता में देखने की आवश्यकता है और इसके साथ ही इस सम्बन्ध में अदृष्टार्थक अर्थशास्त्रीय विधानों से उसे पृथक करके भी देखने की आवश्यकता है। पूर्वमध्यकाल में चूँकि अर्थशास्त्र जैसा ग्रन्थ नहीं मिलता इसलिये दृष्टार्थक विधि- विधानों का अनुमान प्रचलित यथार्थ के उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर लगाया जा सकता है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हमने इस पूरे प्रकरण को एक ही अध्याय का विषय न बनाकर दो अध्यायों का विषय बनाया है। प्रस्तुत अध्याय में हम केवल दासों के कार्यों की समग्रता में विवेचना करेंगे और उनके सम्बन्ध में प्रस्तावित शास्त्रीय कोटियों की अवधारणा पर भी विचार करेंगे।

पूर्वमध्यकालीन भारतीय दासता पर प्रकाश डालने वाले स्रोत अधिकांशतः साहित्यिक साक्ष्यों से ही सम्बद्ध है लेकिन कतिपय अभि-लेखीय स्रोतों से भी दासों के कार्यों की महत्वपूर्ण जानकारी मिल जाती है। दासों के सम्बन्ध में व्यक्त की गई यदि धर्मशास्त्रीय मान्यताओं की चर्चा की जाय तो दासों के कार्य की दो प्रकार की शास्त्रीय अवधारणाएं दिखायी पड़ती है। शुभ कार्यों की अवधारणा एवं अशुभ कार्यों की अवधारणा। और यदि इसे सामान्यीकरण के धरातल पर कार्य विभाजन का आकार प्रदान किया जाय तो दासों के कार्यों का वर्गीकरण तीन रूपों में किया

कार्यों में नियोजित दास तथा इतर घरेलू कार्यों में नियोजित दास । यहां यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि पूर्वमध्यकालीन सन्दर्भों में दासों के दो प्रकार के कार्यों का ही वर्गीकरण अधिकांश इतिहासकारों द्वारा किया गया है – घरेलू कार्य एवं कृषि कार्य । यही वर्गीकरण ज्यादा प्रचलित हुआ । जो वर्गीकरण उनके उत्पादन कार्यों से सम्बन्धित था उसके आधार पर घरेलू कार्यों से दासों को पृथक देखने की ज्यादा कोशिशें नहीं की गई और एक सामान्यीकरण की प्रवृत्ति अपना ली गयी कि चूंकि पूर्वमध्यकाल में दासों का नियोजन घरेलू कार्यों में ही अधिक होता था इसलिए घरेलू दासता के परिप्रेक्ष्य में दासता का पतन होने लगा । और इसका स्थान कृषिदासता ने ले लिया ।[149] जबकि यह निष्कर्ष एकांगी प्रतीत होता है। पूर्वमध्यकाल में सारे के सारे दास घरेलू कार्यों में ही नियोजित किये जाते रहे हों और कृषि तथा उत्पादन के क्षेत्र में इनकी कोई भूमिका न रही हो, ऐसा कहना गलत है। दासों को इस युग में उत्पादन के क्षेत्रों में भी लगाया जाता था और यह प्रथा अपवादस्वरूप नहीं थी । दासों के इन दो नियोजनों के बीच यह भ्रम की स्थिति कभी-कभी उत्पन्न हो जाती है जब यह तय कर पाना कठिन हो जाता है कि अमुक दासों को हम किस कोटि में खड़ा करें । अर्थात् उनके कार्यों में इतनी अतिव्याप्ति की स्थिति दिखायी पड़ती है कि उनके कार्यों के आधार पर उनके बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा खींच पाना असम्भव सा लगता है । निश्चित रूप से इन्हीं विसंगतियों की वजह से फिनले को इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिये । विवश

होना पड़ा होगा कि जिस प्रकार स्पेक्ट्रम में कतिपय चरम बिन्दुओं पर ही कुछ विशिष्ट प्रकार के रंग उभरा करते हैं उसी प्रकार दासता और स्वतन्त्रता के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा खींच पाना असम्भव है ।[150] दोनो अवस्थाओं के बीच का अन्तर कतिपय चरम बिन्दुओं पर उभर पाता है । इन दो चरम अवस्थाओं केबीच की वह स्थिति मिली-जुली अस्पष्ट अवस्थाओं का निर्माण करती रही होंगी । इसीलिए दासता और स्वतंत्रता के बीच कई मध्यवर्ती कोटियाँ भी रही होंगी इसी कारण के स्मृति चन्द्रिका[151] में दासत्व, कर्मकरत्व एवं दारत्वकी तीन कोटियाँ शास्त्रीय विवेचनो की दृष्टि में स्वतन्त्रता एवं दासता के बीच अवधारित की गई है।

दासों के कार्य की अवधारणा

शुभ एवं अशुभ कर्म -

दासों के कार्यों को लेकर कतिपय विद्वानों की यह मान्यता है कि मौर्यकाल के बाद दास केवल अशुभ कार्यों में ही लगाये जाते थे । शुभ कार्यों से उनका कोई सरोकार नहीं था ।[152] इनके अनुसार यह सही है कि नारद ने दासों को 15 कोटियाँ गिनायी है लेकिन नारद तथा बृहस्पति दोनों ने ही यह स्पष्ट कर दिया है कि दास केवल अपवित्र कार्यों के लिये ही होते हैं ।[153] इन अशुभ कार्यों में प्रवेश द्वार की सफाई करना, सड़क एवं राजमार्गों की सफाई करना, शौचालयकी सफाई करना, मल-मूत्र तथा मदिरा आदि को फेंकना, मालिक की सेवा, उसकी वासनात्मक

तृप्ति तथा गुह्यांगों का प्रसाधन आदि करना शामिल था ।[154] इसके विपरीत जो दास उत्पादन कार्यों में लगाये जाते थे वे शुभ कार्य करने वाले दास माने जाते थे ।[155] उपर्युक्त साक्ष्य के इस विवेचन में कुछ विसंगतियाँ हैं, जैसे-एक तो यह कि इन स्मृतिकारों ने शायद यह कहीं नहीं उल्लेख किया है कि दासों को शुभ कार्यों में नियोजित ही नहीं किया जा सकता और न बाद के व्यवस्थाकारों ने ही ऐसी कोई व्यवस्था प्रदान की जिससे उपर्युक्त मान्यता की अभिपुष्टि हो रही हो । दूसरे यह कि पूर्वमध्यकाल में हजारों की संख्या में दासों का उल्लेख मिलता है और वे सबके सब केवल घरेलू कार्यों मेंअशुभ कर्मों तक सीमित रह गये हों, ऐसा भी उपलब्ध प्रमाणों के आलोक में स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

इस सम्बन्ध में इन विद्वानों ने एक तर्क और प्रस्तुत किया कि चूँकि पूर्वमध्यकालीन समाज में दासों का वर्ग संगठित हो रहा था[156] और दास विद्रोह जो पूर्वकालीन साक्ष्यों में स्पष्ट है, की प्रबल सम्भावनाएं उत्पन्न हो गयी थी इसलिए दासों में वर्गचेतना के आ जाने के कारण दासता में ह्रास की स्थिति आलोच्य सन्दर्भ में दिखायी पड़ती है ।[157] इस सम्बन्ध में इन लोगों ने यह प्रमाण प्रस्तुत किया कि नारद ने स्थानीय विवादों में एक वर्ग विशेष के लोगों को जिन्हें वार्गिन् कहा गया है अपने-अपने वर्गों के मामले में गवाही के लिए बुलाया जा सकता है ।[158] कात्यायन के अनुसार जिनके लिए 'वर्गिन्' शब्द का प्रयोग होता है उनमें दासों के नायक भी शामिल हैं ।[159] इस प्रकार दासों के संगठन मजबूत होने से दास

प्रथा में और भी कमजोरी आयी होगी ।[160] इन इतिहासकारों का उपर्युक्त तर्क इन्हीं के पूर्व तर्क के विपरीत जाता है क्योंकि सामाजिक वर्ग चेतना से अनुप्राणित सामन्ती समाज के उच्च वर्गीय लोग विशुद्ध रूप से अशुभ कर्मों में लगे हुये दासों को न्यायालय में जाकर गवाही देने का विशेषाधिकार कभी न देते । यह विशेषाधिकार केवल उन्हीं दासों के लिये रहा होगा जो शुभ कार्यों में नियोजित थे । दासों का शुभ और अशुभ कर्मों के हिसाब से विभाजन शूद्रों के सत् और असत् विभाजन के अनुरूप प्रतीत होता है । मुकदमों में दासों की गवाही की बात नारद और कात्यायन ही पहले -पहल नहीं करते बल्कि यह अधिकार उन्हें मनु भी प्रदान करते हैं ।[161] मनु की व्यवस्था के सन्दर्भ में देखने से नारद और कात्यायन की उक्तियों का एक ही अभिप्राय हो सकता है कि वे मुकदमें में गवाही देने के दासों के इस विशेषाधिकार को केवल शुभ कार्य तक ही सीमित करना चाहते थे जबकि दास को स्वामी के शरीर का प्रतिबिम्ब मानने वाले मनु[162] दासों के बीच शुभ और अशुभ जैसा कोई विभाजन नहीं करते । दासों केबीच इन दो वर्गों का उदय उनकी स्थिति में सुधार और अवनति, दोनों ही प्रवृत्तियों, को साथ-साथ उपस्थित करता है । स्पष्ट है कि दासों के सैनिक कार्यों [163] तथा राजकीय कार्यों में नियोजन [164] और उत्पादन में उनकी भूमिका[165] के कारण ही शुभ कार्य करने वाले दासों की कोटि का उदय हुआ होगा लेकिन दास तो वे फिर भी थे ही ।

दासों के कार्यों को लेकर एक मान्यता यह व्यक्त की जाती है कि पूर्वमध्यकाल में आकर दास-दासियों को चर्मकर्मकर एवं कर्मकरी के रूप

में मिलने लगती है[166] जिसकी पृष्ठभूमि सम्भावत: प्रथम सहस्ताब्दी ई० के मध्य के आस-पास, मुख्यत: सामाजिक तथा आर्थिक तत्वों के कारण दासता में पतन की प्रवृत्ति के प्रबलतर होने में निहित दिखाई पड़ती है।[167] नारद के काल तक आते-आते दासता से मुक्ति के विधानों को व्यापक रूप ले लेना दासों को सम्भावत: बटाईदारों, पट्टेदारों तथा कृषि मजदूरों के रूप में एक खुला वातावरण मिला होगा और अत्याधिक पराश्रितता के बन्धन से बाहर आकर इन लोगों के साधारण किस्म की पराश्रितता में ही रहना पड़ता रहा होगा।[168] ऐसे इतिहासकारों की इस सम्बन्ध में यह सोच उस समय अत्यन्त विचारणीय हो जाती है जब वे दासों एवं कर्मकरों को एक धरातल पर ला खड़ा करने के प्रयास को पूर्वमध्य कालीन समाजार्थिक परिवर्तन की देन मानने लगते हैं और दासों की स्थिति में सुधार को दिखाकर एक तरफ तो वे दासता के पतन की बात इस अधीत काल में करते हैं और दूसरी तरफ इसी युग में दासों को केवल घरेलू दासता तक सीमित करते हुए उनसे केवल अशुभकर्मों को कराने की परस्पर विरोधी बातें करते हुए दिखायी पड़ते हैं। इस सम्बन्ध में यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि स्मृति चन्द्रिका मानवीय सम्बन्धों की तीन कोटियों का निरूपण करती है - दासत्व, दारत्व एवं कर्मकरत्व।[169] यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि स्मृतिकार ने दासत्व एवं कर्मकरत्व में पर्याप्त अन्तर दिखाया है। वैसे भी यदि दासों के कर्मकरों के यदि पूर्वकालीन उल्लेखों को ध्यान में देखा जाय तो दासों तथा कर्मकरों, दोनों ही की दो-दो कोटियों के निदर्शन होते है। पूर्वकालीन समाजार्थिक इतिहास पर महत्वपूर्ण प्रकाश

डालने वाला ग्रन्थ अर्थशास्त्र ऐसे प्रमाणों को सुरक्षित रखे हुए हैं जहाँ इनकी दोनों कोटियों के निदर्शन होते हैं।[170] कतिपय इतिहासकार कर्मकरों को उत्पादन के कार्य में लगाये गये वेतनभोगी श्रमिक मानते हैं।[171] कुछ विद्वान इन्हें अन्तेवासी की कोटि में रखते हैं तथा इन्हें राज्य द्वारा विविध प्रकार के कार्यों में लगाये गये वेतन भोगी श्रमिकों की तरह मानते हैं।[172] कुछ ऐसे इतिहासकार भी है जो इन्हें दासों की कोटि में रखते हैं।[173] इस प्रकार कौटिल्यीय अर्थशास्त्र में कर्मकरों के कई रूप दिखायी पड़ते है।[174] तथ्यों के आलोक में यदि चर्चा की जाय तो अर्थशास्त्र में दास और कर्मकर के उल्लेख प्रायः एक साथ ही हुए हैं इसलिए यह कहना कि पूर्वमध्यकालीन स्रोतों में दासों को कर्मकरों से जोड़ा गया है तो यह कोई नवीन परिवर्तन का सूचक नहीं माना जाना चाहिए। दूसरी तरफ अर्थशास्त्र में ही दासों एवं कर्मकरों के कार्यों में यदि कुछ सीमा तक समानता मिलती है तो कई रूपों में दोनो के पृथक-पृथक कार्य भी मिलते हैं। यदि कौटिल्य एक ओर कर्मकरों को कभी-कभी धातु विशेषज्ञ[175], करदाता,[176] वेतनभोगी[177] आदि के रूप में चित्रित करता है तो दूसरी ओर वह कुछकर्मकरों को घरेलू नौकरों की तरह ही भोजन, वस्त्र और विकृत मदिरा आदि पर ही आश्रित रखता है।[178] जहाँ तक इन उल्लेखों के आधार पर कर्मकरों की सामाजिक स्थिति का प्रश्न है, उन्हें न तो दासों की एक कोटि ही माना जा सकता है और न उसके ऊपर परतन्त्रता का आरोप ही किया जा सकता है। यदि कर्मकर दासों की तरह परतन्त्र होते तो करदाताओं में उनके उल्लेख का प्रश्न ही नहीं उठता और न कृषि कार्य में अक्षमता की स्थिति में कौटिल्य उन्हें

राज्य की ओर से हल, बैल और बीज जैसी सहायतायें ही उपलब्ध कराता है। उनका वेतनभोगी तथा ऋतुकर्मों में दक्षशिल्पी होना भी उनकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता का परिचायक है जिसकी अभिपुष्टि कतिपय पालि ग्रन्थों से भी हो जाती है।[179]

इसी प्रकार दासों की स्थिति भी विचारणीय है। अर्थशास्त्र दासों को राज्य द्वारा विष्टि कर्मकरों एवं दण्ड प्रकृतियों के साथ कृषिकर्म में लगाने के अनेकशः उल्लेख करता है [180] किन्तु न तो व्यक्तिगत रूप से और न राजकीय रूप से अकेले दास श्रम का प्रयोग कृषि के लिए बड़े पैमाने पर होता हुआ दिखाई देता है। अतः जब तक दासों के साथ उल्लिखित अन्य प्रकार के श्रमिकों को भी दासों की विभिन्न कोटियाँ न मान ली जाँय, तब तक दासता को कृषिकर्म का प्रधान आधार नहीं बताया जा सकता। दूसरी तरफ घरेलू कार्यों में दासों के नियोजन को भी पर्याप्त प्रधानता दी गई प्रतीत होती है।[181] यही नहीं, दासों की एक ऐसी विशिष्ट कोटि की भी झलक मिलती है जो कर्मकरों की तरह भोजन, वस्त्र और विकृत मदिरा पर रखे गये थे और उनसे केवल घरेलू कार्य तथा अशुभ कर्म ही कराये जाते थे।[182] सामान्य दासों की कोटि इनसे पृथक दिखायी पड़ती है। इसलिए जब तक कि दासों एवं कर्मकरों की दो कोटियाँ नहीं मानी जाती, दासों एवं कर्मकरों के साथ-साथ उल्लेखों से पूर्वकालीन समाज में भी वैसी ही भ्रान्तियाँ व्याप्त हो जायेंगी जैसी कि इन इतिहासकारों को पूर्वमध्यकालीन सन्दर्भों में हुयी है जबकि

पूर्वमध्यकालीन सन्दर्भ में थी वस्तुतः पूर्वकालीन स्थिति का निदर्शन ही होता है जो निम्न उदाहरणों से और भी अधिक स्पष्ट हो जायेगा ।

बृहज्जातक पर भाष्य लिखने वाले भट्टोत्पल का काल लगभग दसवीं शताब्दी ई0 माना जाता है । बृहज्जातक के कतिपय दास-दासी के विवरणों [183] परभट्टोत्पल की टीका को लेकर दासों के कार्यों की एक ऐसी अवधारणा कतिपय इतिहासकारों द्वारा प्रस्तुत की गई जिसके अनुसार दासों का स्तर ऊपर उठकर एक तरफ तो कर्मकरों की स्थिति में पहुँच रहा था [184] और दूसरी ओर नारद के भाष्यों के हवाले से यह मान्यता स्थापित करने की चेष्टा की गई कि दासों को पूर्वमध्यकालीन व्यवस्था में केवल अशुभकर्मों में ही नियोजित किया जाता था ।[185] बृहज्जातक के अतिरिक्त मीनराज के वृद्धयवन जातक[186] तथा वाराहमिहिर की बृहत्संहिता[187] के कतिपय उद्धरणों के आधार पर प्रेष्यों, कर्मकरों एवं दासों के बीच के अन्तर को लगभग समाप्त सा कर दिया गया और दासों के सम्बन्ध में एक सामान्यीकरण की प्रवृत्ति अपनाकर उन्हें उत्पादन व्यवस्था से अलग रखते हुए केवल अशुभ कर्मों में नियुक्त दिखाकर दासता में ह्रास की बात को परिपुष्ट करने का प्रयास कियागया [188] लेकिन ऐसे गम्भीर निष्कर्षों को निःसृत करने के पूर्व इस पर सूक्ष्म दृष्टिपात करना आवश्यक है । जिसके लिए इस सम्बन्ध में स्मृति चन्द्रिका में मिलने वाले दासत्व, दास्त्व एवंकर्मकात्त्व सम्बन्धी मानवीय सम्बन्धों की तीन कोटियों के आलोक में भी विचारकरना पड़ेगा तभी इसका वास्तविक स्वरूप सामने

आ सकेगा । बृहत्संहिता में वाराहमिहिर ने चोर के अभिज्ञान करने के सम्बन्ध में एक मनोरंजक ज्योतिष विधान की चर्चा की है जिसके अन्तर्गत दास-दासियों की भी चर्चा है ।[189] वराहमिहिर ने इस विशिष्ट प्रसंग में यह विधान बताया है कि यदि किसी के घर में चोरी हो जाये और चोर का पता लगाने के लिये प्रश्नकर्त्ता आपके सामने समुपस्थित हो तो किन लक्षणों से किस चोर की पहचान करनी चाहिए । उदाहरणार्थ - यदि प्रश्न कर्ता चोर का पता पूछते समय अपने अन्तरंग स्थानों का स्पर्श करता है तो यह समझना चाहिए कि चोरी किसी आत्मीय जन द्वारा की गई है और यदि बाह्यअंग का स्पर्श उस समय किया गया हो तो चोर कोई बाहरी व्यक्ति होगा । इसी तरह यदि प्रश्नकर्त्ता उस समय पैर के अंगूठे का स्पर्श करते हुए चोर के बारे में पूछता है तो यह समझना चाहिए कि चोरी उसके दास द्वारा की गयी है तथा यदि पैर की उंगलियों को स्पर्श करते हुए प्रश्न पूछता है तो दासी द्वारा चोरी की गई होगी । प्रश्नकर्त्ता यदि उस समय जाँघ का स्पर्श किये हो तो चोरी प्रेष्य द्वारा और नासिका स्पर्श किये हो तो चोरी भगिनी द्वारा की गई मानना चाहिए । यदि वह व्यक्ति हृदय का स्पर्श किये हुए है तो चोरी पत्नी द्वारा और यदि हाथ का अंगूठा छुए हुए हो तो चोर पुत्र होना चाहिए । यदि हाथ की अंगुली का स्पर्श उस समय किया गया हो तो चोरी अपनी पुत्री द्वारा तथा यदि पेट का स्पर्श किया गया हो तो चोर माता होनी चाहिए । यदि मूर्धा का स्पर्श करते हुए प्रश्न पूछा जा रहा हो तो चोरी गुरू द्वारा और यदि

दाँयी बाहु का स्पर्श किया गया हो तो चोरी भाई द्वारा और बायीं भुजा के स्पर्श से भाभी द्वारा चोरी की गयी समझना चाहिए । वराहमिहिर की उपर्युक्त व्यवस्था पर भट्टोत्पल ने भाष्य लिखते हुए प्रेष्य की कर्मकर से तुलना की है ।[190] इसी साक्ष्य के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि प्रेष्य अब कर्मकर की कोटि में आ गये थे ।[191] जबकि भट्टोत्पल ने अन्यत्र प्रेष्य को दास,[192] प्रेष्य को कर्मकर[193] दास को कर्मकर[194] तथा दास को भृतक [195] के रूप में चित्रित किया है । इस सम्बन्ध में अब यह आवश्यक हो जाता है कि वराहमिहिर के इन शब्दों के प्रयोगों पर गम्भीरता से विचार किया जाय ।

वराहमिहिर ने बड़े ही स्पष्ट तरीके से उक्त श्लोक में प्रेष्य और दास का हवाला दिया है । वैसे तो फुटकर प्रयोगों से यहबात साफ नहीं हो पाती लेकिन इस श्लोक विशेष में वराहमिहिर ने स्पष्टतया एक वर्गीकरण प्रस्तुत किया है जिसमें गुरू का स्थान शिर पर बताकर यदि उसे सबसे उच्च स्थान पर अभिषिक्त किया है तो दास-दासी को क्रमशः पैर के अंगूठे एवं पैर की उंगलियों से तुलना करके उनकी निम्नस्थिति का परिचय दिया है । यही नहीं, इसी विवरण में प्रेष्यों को जंघा से जोड़कर वर्णव्यवस्था की उस परम्परागत परम्परा को याद ताजा कर दी गई जिसमें शूद्रों की उत्पत्ति पैर से तथा वैश्यों को जंघाओं से बताकर वैश्यों को शूद्रों से ऊपर बिठाने का प्रयास किया गया ।[196] वस्तुतः शरीर के महत्वपूर्ण अवयव के रूप में पैर के अंगूठे का भी उतना ही महत्व है जितना कि हाथ के अंगूठे

का भी उतना ही महत्व है जितना कि हाथ के अंगूठे का लेकिन सामाजिक स्तरीकरण के हिसाब से यहाँ प्रेष्यों को दासों से ऊपर दिखाया गया है जिसे या तो भाष्यकार ने बिना गहराई से छानबीन किये हुए उन्हें कर्मकरों एवं दासों को कोटि में रख दिया था कोई और प्रतिबद्धता रही होगी । ऐसा प्रतीत होता है कि श्रम को विभिन्न कोटियों के बारे में शास्त्रकार को कोई भ्रान्ति नहीं थी । उसने इसीलिए किसी वर्ग विशेष को एक-दूसरे के साथ न मिलाने के लिए अलग-अलग अंगविन्यास का तरीका अपनाया । अर्थात् उसने किसी कोटि को दूसरी कोटि से मिलाने की भूल कदापि नहीं की । सम्भवतः यह विवशता टीकाकार के समक्ष समुपस्थित हो गई होगी क्योंकि उसे इनके पर्यायवाची शब्द ढूंढने पड़ते रहे होगें । सम्भवतः किसी विशिष्ट पर्यायवाची के अभाव में भाष्यकार ने ऐसे मिलते-जुलते शब्दों को एक कर देने की एक अनचाही भूल कर दी जो कतिपय इतिहासकारों का पक्षपोषक बन गयी । इस विवशता का एक अन्य प्रमाण इसी वृहत्संहिता में मौजूद है जबकि वह वैश्या और बन्धकी को [197] बहु एवं ब्राह्म्मण को [198] दास एवं भृत्य [199] को तथा दास एवं कर्मकर [200] को एक दूसरे के पर्याय के रूप में चित्रित करने लगता है । इसलिए ऐसे उन्मुक्त उल्लेखों से उपर्युक्त निष्कर्षों को निःसृज करते हुए यह कहना, कि पूर्णमध्यकाल में दासों को उत्पादन कार्य से विरत कर दिया गया था और इसका स्थान अर्धदासों ने ले लिया था, [201] उचित नहीं प्रतीत होता । वैसे भी प्रेष्य के दासों के साथ यदि उतनी समानता पूर्वमध्यकालीन घटना मानी जा रही है तो गौतम धर्म सूत्र में प्रेष्य ब्राह्म्मण के साक्ष्य [202] के आधार पर क्या यह निष्कर्ष

निकाला जाना उचित होगा कि उस युग में ब्राह्मणों को भी दास कृति में आबद्ध किया जाता था । सम्भवतः ऐसे निष्कर्ष ऐतिहासिक साक्ष्यों के अभाव में असंगत प्रतीत होने लगते हैं। इससे ऐसा प्रतीतहोता है कि ऐसे प्रयोगों अथवा ऐसी व्याख्या को उन शब्दों के पारिभाषिक अर्थों में स्वीकार नहीं करना चाहिए बल्कि यह भाष्यकार का केवल अर्थ सम्प्रेषण कर एक तरीका मात्र है। इससे प्रेष्यों, दासों एवं कर्मकरों के सम्बन्ध में कोई पारस्परिक भ्रान्ति नहीं उत्पन्न करनी चाहिए ।

इसी तरह के कतिपय विसंगतियाँ स्मृति चन्द्रिका के उस विवरणों में भी मिलती हैं जिसमें दासत्व, दासत्व एवं कर्मकरत्व की चर्चा की गई है। स्मृति चन्द्रिका में दासत्व के उल्लेखों से यह प्रतीत होता है कि दास केवल अशुभ कार्यों के लिए ही नहीं रखे जाते थे बल्कि अशुभकार्य उनका विशेष कार्य समझा जाता था । इस कार्य को दासों को छोड़कर कर्मकर नहीं कर सकते थे लेकिन अपने उन कार्यों को सम्पादित करने के उपरान्त वे अन्य कार्यों में भी सहयोग प्रदान करते रहे होंगे क्योंकि पूर्वमध्यकालीन में अर्थव्यवस्था के स्तर को देखते हुए यह आशा नहीं की जा सकती कि एक प्रकार के कार्य केलिए एक प्रकार के ही श्रमिक रखे जाते रहे होंगें । इस बात की सम्भावना अधिक है कि एक प्रकार के श्रमिक से अनेक प्रकार के कार्य लिये जाते रहे होंगें । वर्जित होने के कारण कर्मकरों से अशुभ कर्म तो नहीं कराये जा सकते रहे होंगें लेकिन दासों से धार्मिक पवित्रता की सीमा में आने वाले शुभ कार्यों को छोड़कर शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के कार्य लिए जाते रहे होंगें ।

इसी प्रकार दारत्व एवं दासत्व के अन्तर्सम्बन्धों को भी देखा जा सकता है । स्त्री केवल सम्भोग का साधन मात्र ही नहीं थी बल्कि उसका कार्य शुभ-अशुभ दोनों के अन्तर्गत था । वह कर्मकरत्व और दासत्व, दोनो कोटियों के, के कार्यों के साथ-साथ सम्भोग का भी साधन थी । जबकि दूसरी ओर दारत्व ग्रहण करने वाली स्त्रियाँ शुभ एवं अशुभ कर्म, दोनो ही कर सकती थी । उनका सम्भोग से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था । दार केवल सम्भोग का ही साधन नहीं थी बल्कि परिवार की सीमा में रहते हुए अनेक ऐसे शुभकार्य भी थे जिसमें उसका नियोजन होता रहा होगा । इसी तरह कर्मकरों का विशिष्ट कार्य शुभकर्म तथा दासों का विशिष्ट कर्म अशुभ कर्म रहा होगा । जिस प्रकार दार से शुभ कर्मों को लिए जाने की मनाही नहीं थी उसी प्रकार दासों को भी अशुभकर्मों तक ही सीमित नहीं किया गया क्योंकि अशुभकर्मों की मात्रा । दासों की संख्या के अनुपात में अत्यन्त कम रही होगी और खाली समय में उन्हें उत्पादन कार्यो में भी नियुक्त कर लिया जाता रहा होगा जिसके प्रमाण भी अधीतकालीन साक्ष्यों में मिलते हैं । इस प्रकार हम देखते है कि स्मृतिकार ने दासत्व एवं कर्मकरत्व में तो विभेद स्पष्ट किया है लेकिन दासत्व एवं दारत्व के सम्बन्ध में उसने ऐसी कोई विभाजक रेखा नहीं खीची । इसका तात्पर्य यहहै कि शुभ एवं अशुभ कार्य दासत्व में भी जुड़े रहे होंगे और दारत्व से भी उनका वैसा ही, कार्यक्षेत्र की दृष्टि से, सम्बन्ध रहा होगा । ऐसे में उन इतिहास-कारों की मान्यता सही प्रतीत होती है जिसके अनुसार दासों से यदि अशुभ कार्य लिए जाते थे तो उससे भोजन बनाने काकार्य भी लिया जाता

था और दास से यदि खाद फेंकने का कार्य लिया जाता था तो कृषि कर्म में भी उसका नियोजन साफ देखा जा सकता है।[203] यह सही भी है क्योंकि अशुभ कर्मों के विधान से शुभ कर्मों का निषेध नहीं होता अन्यथा जिस प्रकार धर्मशास्त्र ग्रंथों में साफ-साफ कर्मकरों के कार्यों का विशिष्टीकरण निर्धारित कर दिया गया है वैसे ही दासों के सम्बन्ध में भी विधान मिलता। इस सम्बन्ध में एक तथ्य और भी महत्वपूर्ण लगता है कि इतने सारे घरेलू कार्यों को सम्पादित करने वाली दासी अपनी इतनी भूमिकाओं के बावजूद वह सिर्फ दासी की दासी ही रह गयी। दासी के रूप में उसकी सामाजिक पहिचान के रूप में कोई विशेष अन्तर नहीं आता चाहे वह विचक्षणा के रूप में अतुलनीय विदुषी का श्रेय प्राप्त किये हो अथवा उद्दा नीनिका और वल्गा के रूप में अपनी रानी के प्रति स्वामिभक्ति के कारण अथवा अन्य कारणों से रानी की मृत्यु के बाद चिता में प्रविष्ट हो गयी हो या देवदत्ता दासी रही हो जो धार्मिक कृत्यों से संलग्न रही हो अथवा अन्य इसी प्रकार की ढेर सारी दासियाँ रही हो, जिन्होंने इस युग में अनेक प्रशंसनीय कार्य सम्पन्न किये।

पूर्वमध्यकालीन साहित्यिक तथा अभिलेखीय साक्ष्यों से दास-दासियों के नियोजन के जो उल्लेख मिलते है उनमें यदि दासों का नियोजन बर्तन साफ करना, जूंठन फेंकना, मल मूत्र फेंकना, विकृत मदिरा हटाना, शौचालय साफ करना, सड़क साफ करना, मालिक को स्नान करने में मदद करना, सम्भोग के लिए स्वयं को प्रस्तुत करना आदिका तो साथ ही साथ

अन्तपुर को व्यवस्था, पान खिलाना, चँवर डुलाना, पानी लाना, भोजन बनाना शब्जी काटना, दूध दुहना आदि भी उनका कार्य था। इन घरेलू कार्यों के अतिरिक्त कुछ इतर घरेलू कार्य भी थे जिनमें दास दासियों के नियोजन की बात दिखायी पड़ती है जैसे संदेशवाहिको रक्षिका, सेनापतित्व कवियत्री, पूजा पाठ, दान एवं करूणा के कतिपय अन्य कार्य सम्मिलित थे। इसी प्रकार उत्पादन कार्यों में उनके उल्लेखों को देखा जा सकता है जिसमें कृषि कार्य, भार ढोना, चारा काटना, निकाई, कटाई मड़ाई आदि करने के साथ-साथ दास व्यापार के माध्यम से राजकीय राजस्व में अभिवृद्धि करना आदि की चर्चा मिलती है।अतएव इनके कार्यों के उल्लेखों के आधार पर इनके अशुभ एवं शुभ कर्मों की उपर्युक्त पृष्ठभूमि के अतिरिक्त निम्न वर्गीकरण के माध्यम से भी इनकी समाजार्थिक हैसियत का अन्दाजा लगाया जा सकता है। इसको अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हमने निम्नलिखित तीन वर्गों में विभक्त किया है -

1- घरेलू कार्यों में नियोजन 2- इतर घरेलू कार्यों में नियोजन और 3- उत्पादन कार्यों में नियोजन।

1- घरेलू कार्यों में दास-दासियों का नियोजन -

विशुद्ध रूप से घरेलू कार्यों में रसोईघर से सम्बन्धित समस्त कर्म, मालिक की सेवा से सम्बन्धित कार्य तथा दूध आदि दुहने तथा बाजार से खरीददारी करने जैसे कार्य आते हैं। पूर्वमध्यकालीन साक्ष्यों को सूक्ष्म अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि इस युग में दासियों से भोजन बनाने[205] शब्जी

गोबर से घर की लिपाई करने,[210] पानी भरने,[211] अतिथियों को खाना परोसने,[209] मालिक का बिस्तर लगाने[213], पान खिलाने[214] वेश्याओं के कार्य करना,[215] आभूषण पहिनने में मालिक -मालकिन की मदद करने,[216] वस्त्रादि पहनाने,[217] कतिपय वर्जित सामानों की खरीददारी[218] करने के साथ -साथ प्रवेश द्वार व शौचालय की सफाई करने,[219] उच्छिष्ट भोजन, विकृत मदिरा तथा मल-मूत्र बाहर फेंकने[220], सम्भोग सुख प्रदान करने[221] तथा डोली उठाने[222] जैसे कार्यों को सम्पन्न कराया जाता था। निश्चित रूप से इन कार्यों में शुभ एवं अशुभ कर्म दोनों ही सम्मिलित है लेकिन आनुपातिक दृष्टि से अशुभ कर्मों की संख्या उपर्युक्त तालिका में अधिक नहीं दिखायी पड़ती है। दास दासियों के उपर्युक्त वर्णन पूर्वमध्यकालीन ऐतिहासिक स्रोतों में मिलते है लेकिन यदि पूर्वकालीन भारतीय समाज में भी दास-दासियों से प्रायः ऐसे ही कार्य लिये जाते थे।

पूर्वमध्यकालीन साहित्यिक साक्ष्यों में दास-दासियों के उपर्युक्त नियोजन से सम्बन्धित कतिपय रोचक प्रसंग प्राप्त होते हैं। यदि शुक्राचार्य पत्नी को दासी के रूप में[223] चित्रित करने में संकोच का अनुभव नहीं करते तो सोमदेव भट्ट राजा को दासी के प्रेम में आसक्त दिखाता है।[224] वासुदेव हिण्डी में दासियाँ यदि मालिक को कामोद्दीप्त करती हुई प्रतीत होती है[225] तो हेमचन्द्र तथा सोमदेव सूरि ने अपनी कृतियों में दासियों से सम्भोग एवं स्वच्छन्द आनन्द की प्राप्ति करते हुए मालिकों को चित्रित किया है।[226] बिल्हण ने यदि एक ओर दासी को राजा के साथ खेल खेलते हुए दिखाया

है तो त्रिशष्ठिशलाका पुरुषचरित दासियों से वेश्यावृत्ति कराकर धन कमाने को निन्दनीय बताते हुए इसे प्रतिबन्धित करने की बात करता है। कल्हण एवं हेमचन्द्र यदि दासो से पानी ढुलवाने का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं तो धरणि जाट दासी से पुत्र प्राप्त करते हुए गुणभद्र द्वारा दिखाया गया है। राजशेखर यदि दासी से मालिक का बिस्तर लगाने का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं तो सोमदेव भट्ट नल को अपनी दासी से जुआ खेलने में आन्दातिरेक की अनुभूति प्राप्त करते हुए चित्रित करता है।[227] यदि नारद उनसे अशुभ कर्मों को करवाने की बात करते हुए पाये जाते है तो मेधातिथि, कुल्लूक, अपराजितपृच्छा, स्मृति चन्द्रिका, मिताक्षरा, दायभाग, अग्निपुराण आदि में दास-दासियों के कतिपय अधिकारों की चर्चा भी मिलती है तथा ऐसे नियमों की व्यवस्था मिलती है जिनके अतिक्रमण पर दण्ड की व्यवस्था निर्धारित थी। दासता से मुक्ति की अनेक सैद्धान्तिक व्यवस्थाएं इस युग में विद्यमान थीं।

2- इतर-घरेलू कार्यों में दास-दासियों का नियोजन -

दासों के उपर्युक्त घरेल कार्यों में नियोजन के अतिरिक्त पूर्वमध्यकालीन स्रोतों में अनेक ऐसे विवरण मिलते है जिनसे यह ज्ञात होता है कि इस युग में दासों से केवल घरेलू कार्य ही नहीं लिए जाते थे बल्कि अनेक अच्छे कार्यों तथा धार्मिक गतिविधियों के सम्पादन में भी इनकी भूमिका होती ह थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे कार्यों में दान[228] से लेकर सेनापतित्व[229] तक के कार्य सम्मिलित थे जिसमे सदेशवाहक, गुप्तचर,

सैनिक , रक्षक, एवं कतिपय लोक कल्याण के भी कार्य शामिल थे ।[230] राजकीय कार्यों में इनकी नियुक्ति शुभ एवं अशुभ दोनों कार्यों के लिए की जाती रही होगी । यथा- दासों द्वारा राजमार्गों की सफाई यदि एक राजकीय कार्यों का अशुभ कर्म था तो दासों को भाला ,बरछी तथा तलवार के साथ रखवाली जैसा अतिमहत्वपूर्ण कार्य सौंपना किसी भी तरह से अशुभकर्म की कोटि में नहीं आ सकता । यदि दास मालिक की अनुपस्थिति में नीलामी जैसे कार्य तथा मालिक के मुकदमों में गवाही देने का कार्य कर रहा हो तो उसे कैसे अशुभत्व का प्रतीक माना जा सकता है । एक ओर विमलसूरि ने [231] जैन मन्दिरों में दासियों का प्रमाण प्रस्तुत किया है और दूसरी ओर, कल्हण मन्दिर में नृत्य हेतु अन्तःपुर की 100 दासियों की संलग्न दिखाता है ।[232] यही नहीं, कथासरित्सागर बौद्धसंघों में दास-दासियों के प्रमाण प्रस्तुत करता है ।[233] त्रिशष्ठिशलोकापुरूषचरित यदि कुबड़ी दासी को मन्दिर में पूजापाठ करते हुए दिखाता है [234] तो कथा-सरित्सागर दासों को मानवीय करूणा के अत्यन्त उदात्त कृत्यों को दासों द्वारा सम्पन्न करते हुए भी दिखाया है ।[235] यदि कर्पूर मंजरी विचक्षणा दासी को विद्वता के कारण उसे पृथ्वी पर देवी से तुलना करके महिमामण्डित करती है[236] तो त्रिशष्ठिशलाकापुरूषचरित में एक ऐसी कथा मिलती है जिसमें दासी स्वयं को अधिक कीमत में बेचकर अपने गरीब प्रेमी की पढ़ाई के लिए पैसेदेती है ।[237] कभी-कभी दास-दासी अपने मकान अलग बनाकर रखते थे और अपने मालिक की सेवा से भी बंधे रहते थे । सोमदेवभट्ट एक ऐसी दासी की चर्चा करता है जो माधव ब्राह्मण के यहाँ

रहती थी और वह अत्यन्त सभ्य एवं सुसंस्कृत थी । उसने एक अत्यन्त उच्च स्तर के किराये के श्रमिक देवदास, जो किसी समृद्ध व्यापारी के यहाँ नौकरी करता था, से विवाह कर लिया और दोनों अलग मकान बनाकर रहने लगे साथ ही अपने -अपने मालिकों के यहाँ अपने कार्य सम्पादित करने भी जाते थे । दासी इतनी दयालु थी कि पति की जान की कीमत पर उसने एक बार भूखे अतिथि को खाना खिला दिया । उसके बाद उसके पति भी भूख के कारण मृत्यु हो गयी जिसके साथ वह भी सती हो गयी ।[238] हेमचन्द्र एक ऐसे दास की चर्चा करता है जो एक ब्राह्मण द्वारा सम्पादित की जाने वाली यज्ञ में इस शर्त पर कार्य करने के लिए तैयार होता है कि वह यज्ञ में सभी छुटी हुई सामग्री को लेगा । इस प्रकार उस दास ने जो भी भोजन यज्ञ में प्राप्त किया उसे सारा का सारा बौद्धभिक्षुओं में बाँट दिया । इस पुनीत कार्य के परिणामस्वरूप वह दुबारा पहले एक देवता के रूप में स्वर्ग में पैदा हुआ । तत्पश्चात् पृथ्वी पर राजा श्रेणिक के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ । हेमचन्द्र के इस विवरण से ज्ञात होता है कि वह दास, जिसे केवल अशुभकार्यों में ही लगाने की बात की जा रही हो, ऐसे महान कार्य भी करता था ।[239] मानसोल्लास दासों को वेतन दान एवं उपहारादि देने की बात भी करता है [240] जो उपर्युक्त परिस्थितियों में एक और महत्वपूर्ण कड़ी जोड़ता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि दास-दासियों को घरेलू कार्यों को शुभत्व एवं अशुभत्व की सीमा से परे इतर घरेलू कार्यों में भी नियोजित किया जाता था जिसमें अशुभ कर्म शायद अपवाद स्वरूप ही आता रहा होगा ।

3- उत्पादन कार्यों में दास-दासियों का नियोजन -

अधीत काल में दास-दासियों को उत्पादन के कार्यों में नियोजित करने के प्रमाण अपवाद स्वरूप नहीं हैं। इस सम्बन्धमें कतिपय इतिहासकारों की यह मान्यता है कि अकेले लेखपद्धति ही दासों को कृषि में नियोजित करने की बात करती है। लेकिन यदि पूर्वमध्यकाल के उपलब्ध अन्य स्रोतों में ये तथ्य ढूढे जांय तो लिखनावली,[241] मानसोल्लास,[242] बृहत्संहिता,[243] त्रिशाष्ठिशलाक पुरूष चरित[244] जैसे कतिपय साहित्यिक साक्ष्य दासों को उत्पादन कार्यों में संलग्न बताते हैं। कतिपय अभिलेखीय साक्ष्यों में भी दासों के उत्पादन कार्य से जुड़े होने के प्रमाण मिल जाते हैं[245] जहा पर दास व्यापार का जिक्र मिलता है। निश्चित रूप से दास व्यापार से होने वाली आय राजकीय स्रोत का महत्वपूर्ण कारक भी रही होगी।[246] लेख-पद्धति में[247] दासी द्वारा निकाई, कटाई तथा मंड़ाई के अतिरिक्त जानवरो के चोर की व्यवस्था, खेत खालिहानों में काम करना, कृषकों को खेतों में दूध घी तथा मठ्ठा पहुँचाना और हल चलाने आदि के प्रमाण मिलते है। यहा पर यह उल्लेखनीय है कि जब दासी तक से हल चलवाने का कार्य पूर्णमध्यकालीन भारत में लिया जाता था तो दास उससे कैसे वंचित रहा होगा। लिखनावली के आधार पर शूद्रदासों की व्यापकता तथा कृषि कार्यों में दास श्रम के लगाये जाने की बात कतिपय विद्वानों[248] ने स्वीकार की है जिसमें दास-दासियों को कृषि कार्य में नियोजित करने का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। त्रिशाष्ठिशलाकापुरूषचरित में दासों को अत्यधिक वजन

वाला सामान ढोता हुआ [249] दिखाया गया है जो निश्चित रूप से कृषि अथवा व्यापारिक माल से सम्बन्धित रहा होगा । मानसोल्लास बृहत्संहिता तथा बृहज्जातक में दासों की चर्चा नौकरों, प्रेष्यों तथा कर्मकरों के साथ मिलती है जिससे दासों के उत्पादन सम्बन्धी कार्यों में नियोजन से इनकार नहीं किया जा सकता । यहीं पर यह भी उल्लेखनीय है कि इस युग में यद्यपि दासता से मुक्ति के अनेक विधान बनाए गये थे लेकिन वे सम्भवतः सैद्धान्तिक आदर्शों की परिधि से बहुत कम ही निकल पाये और व्यावहारिक धरातल पर दासों को दासवृत्ति में रहकर मालिक के शोषण को बर्दाश्त करना पड़ता रहा होगा जिसमें शारीरिक शोषण सेलेकर उनकी शक्ति संदोहन तक के सारे कार्य सम्मिलित थे ।

दासों के कृषि कार्य में नियोजन के अतिरिक्त व्यापारिक गतिविधियों कोबढ़ावा देने में भी देखा जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्णमध्यकाल तक आते-आते दास व्यापार एक व्यवस्थित आकार ग्रहण कर चुका था तभी तो अन्तर्क्षेत्रीय दासीमण्डी, नगर के चौराहों पर दासों की नीलामी, दासों का आयात-निर्यात एवं बसरा तथा बगदाद की तर्ज पर भारतीय दास बाजारों का बनना पूर्वमध्यकालीन भारतीय व्यापार की एक विशिष्ट पहिचान थी ।[250] अरब व्यापारियों ने यहाँ से भरपूर दास व्यापार किया और दासों को विनिमय का एक साधन भी बना लिया। इस दासों के व्यापार से होने वाली आय राजकीय राजस्व में अभिवृद्धि का भी एक कारक बनी होगी । व्यापारिक स्तर पर दासों के क्रय-विक्रय से

ऐसे केन्द्रों एवं बाजारों के उदय के साथ-साथ दासता के उपभोगपरक नवीन आयाम भी विकसित हुए और दासों को पूर्वमध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था में एक उपयोगी वस्तु माना जाने लगा जिनको बिना किसी हिचकिचाहट के इधर से उधर ऊंची-नीची कीमत पर बेचा जा सकता था। इस प्रकार दास पूर्वमध्यकालीन अर्थव्यवस्था के एक महत्वपूर्ण कारक के रूप में प्रतिष्ठित हो गये होगें। लेकिन इससे ऐसा अनुमान या निष्कर्ष निकालना भी गलत होगा कि दासता के इस नवीन आयाम के अस्तित्वमान हो जाने के कारण प्राचीन प्रतिमान लुप्त हो गये। वस्तुतः इस नवीन आयाम के साथ दासता के प्राचीन आयाम भी चलते रहे। उत्पादन कार्यों में दासों के नियोजन में इस युग में किसी आपेक्षिक गिरावट के प्रमाण नहीं मिलते क्योंकि इतनी मात्रा में दासों की उपलब्धता केवल घरेलू कार्यों में ही उनके समायोजन से सम्भव नहीं थी। और सभी दासों को चाहत रखने वाले व्यापारी ऐसे उपभोगपरक मंहगे दासों को खरीदने में, केवल घरेलू कार्यों के लिए, समर्थ भी न रहे होगें। इसी लिए उत्पादन कार्यों में उनकी पहले की भूमिका की तुलना में कोई विशेष अन्तर न आया होगा। एक प्रबल सम्भावना यह भी है कि दासों का उत्पादन कार्यों में नियोजन और कहीं अधिक होता रहा हो लेकिन स्पष्ट विवरण के अभाव में वास्तविक स्थिति का संज्ञान न हो पा रहा हो क्योंकि पूर्वमध्यकालीन ऐतिहासिक स्रोत भण्डार के पास अर्थशास्त्र जैसा कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इस काल में तो धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों का सृजन हुआ जिसमें अदृष्टार्थक प्रयोग ही ज्यादा मिलता है। यदि अर्थशास्त्री जैसा कोई ग्रन्थ

इस युग में लिखा गया होता तो शायद दासों के इन कार्यों में नियोजन की बात और अधिक स्पष्ट रूप से मिल जाती ।

इस प्रकार इनके कार्यों के आधार पर दासता के ह्रास की बात नितान्त असंगत प्रतीत होती है । साथ ही यह निष्कर्ष निकालना कि दास केवल अशुभ कर्मों के लिए होते थे, साक्ष्य सम्मत नहीं प्रतीत होता । अतएव कार्यों के आधार पर भी उनके स्वरूप में ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति की बात नहीं की जा सकी । संख्यात्मक दृष्टि से तो ह्रास की बात करना नितान्त असंगत है ही ।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1- एडमण्ड रफिन ने युद्ध को दासों को आपूर्ति एवं प्राचीनतम स्रोत के रूप में चित्रित किया है। देखिये- रफिन, एडमण्ड, " द पोलिटिकल इकॉनोमी का स्लेवरी' नामक लेख जो कोलम्बिया विश्व विद्यालय के ई०एल० मैक्ट्रिक की पुस्तक स्लेवरी डिफेन्डेड- द व्यूज ऑफ द ओल्ड साउथ, 1963 के पृ० 69-88 पर प्रकाशित है।

2- द न्यू इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, जिल्द 16, यू०एस०ए०, 1977, पृ० 854।

3- द्विवेदी, लवकुश, "पूर्वमध्यकालीन भारत में युद्ध दासता" (बुन्देलखण्ड के विशिष्ट सन्दर्भ में), अप्रकाशित शोध लेख, (इसे बुन्देलखण्ड का इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व' नामक संगोष्ठी, पं० जे० एन० कालेज, बाँदा, 1989 में प्रस्तुत किया गया था)।

4- द्वारा उद्धत - डांगे, एस०ए०, भारत -आदिम साम्यवाद से दास व्यवस्था तक का इतिहास, अनुवादक- आदित्य मिश्र, दिल्ली, 1978, पृ० 98।

5- ऋग्वेद, 5.34, 6.22.10। पी०वी०काणे ने युद्धबन्दियों को दास माना है। देखिए- काणे, पी०वी०, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, जिल्द 2, भाग 1, पृ० 181-183।

6- द न्यू, इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, पूर्वो०।

7- वही।

8- जैन, पी०सी०, सोसियो-इकॉनोमिक एक्स्प्लोरेशन ऑफ

9- यादव, बी०एन०एस०, "कलियुग के वर्णन और समाज का प्राचीन-काल से मध्यकाल में संक्रमण," इतिहास{भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली की शोध पत्रिका}, अंक 1, वर्ष 1992, पृ० 72 ।

10- बुद्ध प्रकाश, आस्पेक्ट्स ऑफ माडर्न हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन, आगरा, 1965, पृ० 105 ।

11- वही, पृ० 101 ।

12- इलियट एण्ड डाउसन, हिस्ट्री आफ इण्डिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स, जिल्द2, पृ० 230-231 ।

13- यादव, बी०एन०एस०, पूर्वो ।

14- देखिये - मनुस्मृति, 8.4 तथा 8.15 पर मेधातिथि की टीका । इसी को आधार बनाकर यह व्याख्या प्रस्तुत की गई है ।

15- विस्तृत विवरण के लिए देखिए- द्विवेदी, लवकुश का पूर्वोद्धृत लेख ।

16- यादव, बी०एन०एस०, पूर्वो० ।

17- लेखपद्धति, संपादक- चिमनलाल डी० दलाल एवं गजानन के० श्री गोण्डेकर, बड़ौदा सेन्ट्रल लाइब्रेरी, 1925, पृ० 44-47 । लेख-पद्धति चतुष्पथ एवं पञ्चमुखनगरों का इस सन्दर्भ में उल्लेखकरती है जहाँ पर दासों को लाकर बेंचा जाता था ।

18- द्वारा उद्धृत - शुक्ल, डी०एन०, उत्तरभारत की राजस्व व्यवस्था, इलाहाबाद, 1984, पृ० 148 ।

19- यादव, बी०एन०एस०, पूर्वो० ।

20- वही ।

21- लेखपद्धति, पूर्वो० ।

22- विंक, आन्द्रे, अल-हिन्द, द मेकिंग ऑफ द इण्डो-इस्लामिक वर्ल्ड, जिल्द 1, अर्ली मिडीवल, इण्डिया ऐण्ड द एक्सपैंशन ऑफ इस्लाम, सेविन्थ टू इलेविन्थ सेन्चुरीज, आक्सफोर्ड प्रेस, 1990, पृ० 14 ।

23- गोपाल, लल्लनजी, द इकोनॉमिक लाइफ ऑफ नार्दर्न इण्डिया, दिल्ली, 1965, पृ० 71-72 ।

24- अर्थशास्त्र, 3.13 ।

25- मनुस्मृति, 8.415 ।

26- नारदस्मृति, 5.24-26 ।

27- हर्षचरित में बाणभट्ट ने पत्रलेखा को एक दासी के रूपमें चित्रित किया है । विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य-अग्रवाल, वासुदेवशरण, हर्षचरित: एक सांस्कृतिक अध्ययन, पटना, 1953 ।

28- गौडवहो, 697, पृ० 191 ।

29- पउमचरिय, 5.82.9 ।

30- मानसोल्लास, 28, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा, भाग2, 6.560-61, पृ० 80 ।

31- मनु पर मेधातिथि की टीका, पूर्वो० ।

32- द्विवेदी, लवकुश, पूर्वो0 ।

33- वही ।

34- वही ।

35- विस्तृत विवरण के लिए देखिए- सचाऊ, ई0 अलेबेरूनीज इण्डिया, जिल्द2, अध्याय 71, बम्बई, 1964, पृ0 163 ।

36- वही ।

37- स्मिथ, वी0ए0, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, आक्सफोर्ड, 1957, पृ0 403 ।

38- वही, पृ0 409 ।

39- निजोगी, पुष्पा, कान्ट्रीब्यूशन्स टू द इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया, कलकत्ता, 1962, पृ0 301 ।

40- इस सम्बन्ध में पी0सी0 जैन ने दासों की अनियंत्रित संख्या को लेखपद्धति के "अमुक" शब्द के उल्लेख के सहारे पुष्ट करने की कोशिश है । पी0सी0 जैन की मान्यता है कि इतने अधिक दास हुआ करते थे कि लेखाकार के लिए यह सम्भव नही था कि वह सारे दासों का नाम अंकित कर सके । इसीलिए उसने लेखपद्धति में "अमुक" शब्द का प्रयोग करके इस कठिनाई से मुक्ति प्राप्त कर ली होगी । देखिए- जैन, पी0सी0, पूर्वो0 पृ0 261 ।

41- द इण्टरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सेज, जिल्द 13, पृ0 76 ।

42- वही ।

43- स्मिथ, बी०ए०, पूर्वो, पृ० 375 ।

44- जोजेफ, वी०, स्पेन- द ऐंशियण्ट वर्ल्ड, भाग 2, न्यूयार्क, 1950, पृ० 605-608 ।

45- एण्डरसन, पेरी, पैसेजेज फ्राम एण्टीक्विटी टू फ्यूडलिज्म, लन्दन, 1974, पृ० 268 ।

46- विंक, आन्द्रे, पूर्वो० ।

47- तिवारी, गंगा सागर, विश्व सभ्यता का वैज्ञानिक इतिहास, इलाहाबाद, 1988, पृ० 54 ।

48- वही, पृ० 111 ।

49- विस्तृत अध्ययन के लिए इसी शोध प्रबन्ध का "दासता की अवधारणा" अध्याय के "दासता की इस्लामी अवधारणा" वाला अंश देखिए ।

50- विन्क, आन्द्रे, पूर्वो, पृ० 32 ।

51- वही ।

52- वही, पृ० 7-24 ।

53- वही, पृ० 14 ।

54- वही ।

55- द्वारा उद्धृत-शुक्ल, डी०एन० पूर्वो, पृ० 148 ।

56- वही ।

57- वही ।

58- नारद, 5.24-26 ।

59- अर्थशास्त्र 3.13

60- राजतरंगिणी, 5.71, पृ0 131 ।

61- वही, 270-71, पृ0 145 ।

62- लेखपद्धति, पृ0 45 ।

63- वही ।

64- प्रबोधचन्द्रोदय, पृ0 125 ।

65- गोपाल, लल्लन जी, पूर्वो0 पृ0 72 ।

66- ऋणदासता के प्रमाण विश्व की अन्य संस्कृतियों में भी दिखाई पड़ता है । विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए- ग्रेनिज, सी0 डब्ल्यू0-डब्ल्यू0 स्लेवरी, लन्दन, 1958, पृ0 67 ।

67- राजतरंगिणी, 5.184, पृ0 139 ।

68- अर्थशास्त्र, पूर्वो0 ।

69- नारद, पूर्वो0 ।

70- कौटिल्य ने दासमुक्ति की अत्यन्त उदार व्यवस्था दी है । देखिए- अर्थशास्त्र का दासनिरूपण अध्याय ।

71- वही ।

72- मनुस्मृति पर भारुचि, मनु0 8, 175-76, 176-77 ।

73- मनुस्मृति पर मेधातिथि, मनु0 8.177 ।

74- बृहदारण्यक उपनिषद्, 1.4.10 पर शंकर भाष्य ।

75- द न्यू इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, पूर्वो० पृ० 856 ।

76- वही ।

77- वही ।

78- वही ।

79- वही ।

80- ग्रोनिज, सी०डब्ल्यू० डब्ल्यू०, पूर्वो०, पृ० 66 ।

81- वही ।

82- वही ।

83- द न्यू इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, पूर्वो० ।

84- विस्तृत विवरण के लिए देखिए इस शोध प्रबन्ध का दासता की चीनी अवधारणा वाला अंश ।

85- वही ।

86- ऋग्वेद, 10.34 ।

87- अल्टेकर, ए०एस०, द पोजीशन ऑफ वीमेन इन हिन्दू सिविलाइ-जेशन, दिल्ली, 1987, पृ० 213-14 ।

88- महाभारत, 2.63.29, 3.256.9, 12.99.47 ।

89- देखिये- चानना, डी० आर०, स्लेवरी इन ऐंशियण्ट इण्डिया, दिल्ली, 1960, पृ० 69 ।

90- नारद, पूर्वो० ।

91- विष्णुस्मृति, 6.6.40 ।

92- कथासरित्सागर, 124, श्लोक 225, 230-31, पृ० 595 ।

93- वही ।

94- वही ।

95- जैन, जे०सी० प्राकृत जैन कथा साहित्य, अहमदाबाद, 1971, पृ० 38 ।

96- कथासरित्सागर, 74, 180-81, पृ० 401 ।

97- वही, 183, पृ० 401 ।

98- रामायण, 2.47.75 ।

99- महाभारत, पूर्वो० ।

100- द्वारा उद्धृत त्रिपाठी, ..., प्राचीन भारत में दान का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक विवेचन, अवध विश्वविद्यालय का अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, 1992, पृ० 198 ।

101- वही ।

102- वही ।

103- वही, पृ० 203 तथा पृ० 219 ।

104- ऋग्वेद 1/51.5.6, 103-4, 10, 95.7, 99.7 ।
अथर्ववेद, 4/20-4.8, 8/7-8 ।

105- रामायण, पूर्वो० ।

106- महाभारत, पूर्वो० ।

107- अर्थशास्त्र, 3.13 ।

108- अग्निपुराण, 211.39, पृ० 307 ।

109- मानसोल्लास, 1, 62, पृ० 7 ।

111- सरकार, डी०सी० सेलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स, जिल्द 2, पृ०

112- कथासरित्सागर, पूर्वो० ।

113- अग्निपुराण, पूर्वो० ।

114- फ्लीट, जे०एफ० इण्डियन इंस्क्रिप्शन्स, पृ० 254 ।

115- वही ।

116- द्वारा उद्धृत- जैन, पी०सी० पूर्वो० , पृ० 263-64 ।

117- प्रसाद, ए०के० देवदासीज इन कर्नाटक, प्रोसीडिंग्स ऑफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस बर्दवान सत्र, 1984, पृ० 150-52 ।

118- वही, पृ० 151 ।

119- वही, पृ० 152 ।

120- वही ।

121- वही ।

122- द्वारा उद्धृत-प्रसाद, ए०के० , पूर्वो, पृ० 152 ।

123- प्रसाद, ए०के० "फंक्शन्स ऐण्ड ग्रेडेशन्स ऑफ देवदासीज, प्रोसीडिंग्स ऑफ द इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, अन्नामलाई नगर सत्र, 1985पृ० 186 ।

124- वही ।

125- वही ।

126- वही ।

127- वही ।

128- वही, पृ० 197 ।

129- वही ।

130- शर्मा, आर०एस० शूद्रों का प्राचीन इतिहास, दिल्ली, 1979, पृ० 225 तथा शर्मा आर०एस०, " द ओरिजिन्स ऑफ फ्यूडलिज्म, इन इण्डिया," जर्नल ऑफ द इकानोमिक ऐण्ड सोशल हिस्ट्री ऑफ द ओरियण्ट, जिल्द 1, भाग 3, पृ० 320 ।

131- गुप्त, माताप्रसाद, राउलवेल अभिलेख और उसकी भाषा, इलाहाबाद द्वारा उद्धृत- शुक्ल, डी० एन०, पूर्वो०पृ० 148 ।

132- लेखपद्धति, पृ० 44-47 ।

133- द्वारा उद्धृत - यादव, बी०एन० एस० पूर्वो० ।

134- द्वारा उद्धृत -द्विवेदी लवकुश, 'पूर्वमध्यकालीन भारत में दासी,' प्रोसीडिंग्स ऑफ द नेशनल सेमिनार ऑन पोजीशन एण्ड स्टेटस ऑफ वोमेन इन ऐंशियण्ट इण्डिया,' जिल्द 1, प्राचीन इतिहास विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1988, पृ० 300 ।

135- राजतरंगिणी, 4.397, पृ० 103 ।

136-

137- त्रिशष्ठिशलाकापुरुषचरित, 15-18, पृ० 150 ।

138- जैन, पी०सी० पूर्वो० पृ० 263 ।

139- वही ।

140- अर्थशास्त्र 3.13 ।

141- मनु० पूर्वो० ।

142- अर्थशास्त्र, पूर्वो० ।

143- मनु० पूर्वो० ।

144- नारद, पूर्वो ० ।

145- शर्मा, आर०एस० शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ० 224 तथा यादव, बी०एन० एस०, 'द प्राब्लम ऑफ द इमर्जेन्स ऑफ फ्यूडल रिलेशन्स इन अर्ली इण्डिया,' अध्यक्षीय सम्भाषण, इण्डियन हिस्ट्री काँग्रेस, बम्बई, सत्र, 1980, पृ० 20-24 ।

146- वही ।

147- वही ।

148- विस्तृत विवरण के लिए देखिए- यादव, बी०एन०एस०, 'कलियुग के वर्णन और समाज का प्राचीनकाल से मध्यकाल में संक्रमण,' इतिहास अंक, पृ० 66-99 । तथा शर्मा, आर०एस० , भारतीय सामन्तवाद, दिल्ली, 1973, पृ० 270-81 ।

149- शर्मा, आर०एस०, पूर्वो, तथा यादव, बी०एन०एस० पूर्वो० ।

150- फिनले, एम०आई०, 'बिटवीन स्लेवरी ऐण्ड फ्रीडम,' जर्नल ऑफ कम्परेटिव स्टडीज इन हिस्ट्री ऐण्ड सोसाइटी, जिल्द 6, पृ० 233-49 ।

151- स्मृति चन्द्रिका, व्यवहारकाण्ड, पृ० 196-97 ।

152- शर्मा, आर०एस०, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ० 224 ।

153- वही ।

154- वही ।

155- वही ।

156- वही, पृ0 225 ।

157- वही ।

158- नारद, धर्मकोश, I, भाग I, पृ0 299 ।

159- कात्यायन, 350 । इससे पहले ही मनु ने दासवर्ग की चर्चा कर दी है। देखिए मनु 4/185 ।

160- शर्मा, आर0एस0 पूर्वो0 ।

161- मनु, 8.70 ।

162- मनु, 4.185 ।

163- कर्पूर मंजरी, 4, 174 ।

164- विक्रमांकदेव चरित, भाग2, 9.87, पृ0 113 ।

165- लेखपद्धति, पूर्वो0/ इसके अतिरिक्त लिखनावली से कृषि कार्य में नियोजन का प्रमाण मिलता है। विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य- मिश्रो, जे0एस0 समलाइट ऑन द इंस्टीट्यूशान्स ऑफ स्लेवरी फ्राम द लिखनावली ऑफ विद्यापति, के0सी0 चट्टोपाध्याय मेमोरियल वाल्यूम, इलाहाबाद, 1975, पृ0 95 ।

166- यादव, बी0एन0एस0, पूर्वो0 पृ0 70 ।

167- वही, पृ0 69 ।

168- वही ।

169- स्मृति चन्द्रिका, व्यवहारकाण्ड, पूर्वो० ।

170- द्विवेदी, लवकुश, 'कौटिल्य अर्थशास्त्र में दास, कर्मकर, विष्टि और शूद्र' जर्नल ऑफ गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जिल्द , जनवरी-दिसम्बर, भाग 1-4, 1985, इलाहाबाद, 1988, पृ० 10 ।

171- चानना, डी०आर० पूर्वो०, पृ० 129-30 ।

172- सरन, के०एम० लेबर इन ऐंशियण्ट इण्डिया, बम्बई, 1959, पृ० 60-62 ।

173- शर्मा, आर०एस० पूर्वो० ।

174- द्विवेदी, लवकुश, पूर्वो० ।

175- जैन, पी०सी० लेबर इन ऐंशियण्ट इण्डिया, दिल्ली, 1971, पृ० 230 ।

176- अर्थशास्त्र 2.25 ।

177- वही, 2.24 ।

178- वही, 2.25 । आपस्तम्ब धर्मसूत्र (2.4.9.10) दासों एवं कर्मकरों को एक साथ चित्रित करता है लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं है कि दोनों एक थे ।

179- द्वारा उद्धत - चानना, डी०आर० पूर्वो०, पृ० 129-32 ।

180- द्वारा उद्धत-कांगले, आर०पी० कौटिल्य अर्थशास्त्र भाग 3, ए स्टडी, बम्बई, 1965, पृ० 170 ।

181- अर्थशास्त्र, 2. 25 ।

182- वही ।

183- बृहज्जातक, 23. 14, 24. 3, 20. 4, 13. 6, 21. 7, 77. 9 ।

184- यादव, बी0एन0एस0 पूर्वो0 ।

185- शर्मा, आर0एस0 पूर्वो0 ।

186- बुद्धचरन जातक, 33. 2, 19. 31, 33. 3, 40. 130, 20. 11

187- बृहत्संहिता, 50. 25, 9. 20-21, 50. 21, 77. 9-10, 86. 15, 86. 39. 103. 63 ।

188- यादव, बी0एन0एस0, 'द प्राब्लेम ऑफ द इमर्जेन्स ऑफ फ्यूडल रिलेशन्स इन अर्ली इण्डिया,' पूर्वो0 पृ0 15-35 ।

189- बृहत्संहिता, 50. 25-26 ।

190- बृहत्संहिता 50. 25 पर भट्टोत्पल की टीका ।

191- यादव, बी0एन0एस0 पूर्वो0 ।

192- बृहज्जातक 19. 1 पर भट्टोत्पल की टीका ।

193- वही, 50. 25 पर भट्टोत्पल की टीका ।

194- वही, 9. 21 तथा 103. 63 पर भट्टोत्पल की टीका ।

195- वही, 86. 15 पर भट्टोत्पल की टीका ।

196- ऋग्वेद का पुरुषसूक्त, का प्रसिद्ध विवरण जो वर्णव्यवस्था का प्रमाण देता है । देखिए- ऋग्वेद 10. 90-12 । विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य-शर्मा, आर0एस0 पूर्वो, पृ0 21-22 ।

197- बृहत्संहिता, 86.15 पर भट्टोत्पल की टीका ।

198- वही ।

199- वही ।

200- वही. 9.21 पर भट्टोत्पल की टीका ।

201- ओझा, एन०पी० प्राचीन भारत में सामाजिक स्तरीकरण, इलाहाबाद, 1992, पृ० 67-73 ।

202- गौतम धर्मसूत्र, 2.4.9.10 तथा 2.4.9.11 पर हरदत्त की उज्ज्वला टीका ।

203- गोपाल, लल्लन जी, पूर्वो० ।

204- लेखपद्धति, पृ० 45 ।

205- वही ।

206- वही ।

207- वही ।

208- वही

209- वही ।

210- वही ।

211- वासुदेव हिण्डी द्वारा उद्धत-जैन, जे०सी० पूर्वो० पृ० 156 ।

212- कथासरित्सागर, 108.50, पृ० 511 ।

213- कर्पूरमंजरी, 4, पृ० 164 ।

214- त्रिशष्ठिशलाकापुरुषचरित, 9.252, पृ० 172 ।

215- यशस्तिलकचम्पू, 3.207, पृ0 298 ।

216- त्रिषष्ठिशलाका पुरूष चरित, पूर्वो0 ।

217- वही ।

218- राजतरंगिणी, 8.137, पृ0 322 ।

219- नारद, पूर्व, तथा लेखपद्धति, पूर्वो0 ।

220- लेखपद्धति, पूर्वो0 तथा लिखनावली, पूर्वो0 ।

221- त्रिषष्ठिशलाका पुरूषचरित, पूर्वो0 वासुदेव हिण्डी, पूर्वो0 ।

222- लिखनावली, विद्यापति, पृ0 54 ।

223- शुक्रनीति, 4, लोकधर्म, 13, पृ0 239 ।

224- कथासरित्सागर, 56, 291, पृ0 290

225- वासुदेव हिण्डी, 18, पृ0 219-26 ।

226- त्रिषष्ठिशलाका पुरूष चरित, 10.3.430-40 तथा यशस्तिलचम्पू, पूर्वो0 ।

227- इन सभी प्रसंगों की चर्चा इसी अध्याय की पाद टिप्पणी 205-222 के अन्तर्गत मिल जाती है ।

228- त्रिषष्ठिशलाकापुरूष चरित, 10.6.318-20 । इस उल्लेख में दास द्वारा एक ब्राह्मण को यज्ञ में शामिल होने के लिए शर्त रखने की चर्चा भी की गई है ।

229- कर्पूरमंजरी, 4 पृ0 164 ।

230- शृंगारमंजरीकथा, पृ0 39 ।

231- पउमचरिय, जिल्द 6, भाग 1, 3.102 ।

232- राजतरंगिणी, 1.151, पृ० 11 ।

233- कथासरित्सागर, 18.113, पृ० 63 ।

234- त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित, 10.12.427, पृ० 151 ।

235- कथा सरित्सागर, 27.88-99, पृ० 119 ।

236- कर्पूरमंजरी, 1 पृ० 24 ।

237- त्रिषष्ठिशलाका पुरुषचरित, 10.11, 489-92, पृ० 153 ।

238- कथासरित्सागर, पूर्वो० ।

239- त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित, 10.6.318-20 ।

240- मानसोल्लास, 1, 303-4, पृ० 28 ।

241- लिखनावली, पृ० 54 ।

242- बृहत्संहिता, पूर्वो० ।

243- त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित, पूर्वो० ।

244- मानसोल्लास, पूर्वो० ।

245- द्वारा उद्धृत यादव, बी०एन०एस०, 'कलियुग के वर्णन और समाज का प्राचीन काल से मध्यकाल में संक्रमण' पूर्वो० पृ० 73 और पृ० 91 । इस सन्दर्भ में प्रतीत होता है दासों को भी उत्पादन कार्यों में लगाया जाता रहा होगा ।

246- शुक्ल, डी०एन० पूर्वो, पृ० 151 ।

247- लेखपद्धति, पूर्वो० ।

248- नेगी, जे० एस० पूर्वो० ।

249- त्रिशष्ठिशलाका पुरुष चरित, 1.582, पृ0 21 ।

250- दास व्यापार से सम्बन्धित इस अध्याय में अन्यत्र तथा 'दासता को इस्लामी अवधारणा' वाले अंशों में अधिक विस्तार से लिखा गया है ।

चतुर्थ अध्याय

उत्पादन प्रक्रिया, सेवि वर्ग और दास

उत्पादन पद्धति, सेवि वर्ग और दास

पिछले अध्यायों में हमने दासों के बृहत्तर सन्दर्भ को उभारकर दासता को भारतीय अवधारणा, दासों को आपूर्ति के विभिन्न स्रोतों एवं दासों के कार्यों की अवधारणा का विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस विवेचन में दासों के कार्यों का निरूपण करते समय ऐसा प्रतीत हुआ कि दासों का नियोजन घरेलू, इतर-घरेलू, कृषि तथा अन्य उत्पादन कार्यों में किया जाता था। इससे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि क्या दास भारतीय इतिहास के किसी युग में उत्पादन व्यवस्था की रीढ़ थे? दासों के कार्यों की पिछले अध्याय में की गयी विवेचना से तो ऐसा नहीं प्रतीत होता। प्रस्तुत अध्याय में इसी आभास का उत्पादन पद्धति के बृहत्तर परिप्रेक्ष्य में परीक्षण किया जायेगा। चूँकि हमारे स्रोतों में उपलब्ध उत्पादन के सन्दर्भों में केवल दासों का ही उल्लेख नहीं आता अपितु इनके साथ कर्मकर, दण्ड प्रकृति, भृतक, प्रेष्य जैसे कितने ही अन्य सेवि वर्ग के लोगों के उल्लेख आते हैं, इसीलिए यह भी तय करना होगा कि दासों का सेविवर्ग के साथ क्या सम्बन्ध था?

कतिपय इतिहासकारों की दृष्टि में भारत में उत्पादन पद्धति का विकास उस समय एक निर्णायक मोड़ पर पहुँचा जब लोगों को लोहे का ज्ञान हुआ और उसका उपयोग बड़े पैमाने पर खेतिहर कार्यों में होने लगा। इससे

उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि हुयी ।[1] फिर भूमि सामुदायिक स्वामित्व से बाहर निकलकर राज्य के नियंत्रण में बड़े-बड़े भूखण्डों में बंटी । तत्पश्चात् व्यक्तिगत भूस्वामित्व का युग आया । जब भूमि पर सामूहिक अधिकार था तो लोग अतिरिक्त उत्पादन नहीं कर पाते थे लेकिन बाद में संसाधनों की उपलब्धता के कारण अतिरिक्त उत्पादन सम्भव हो गया जिसमें सक्षम औजारों के साथ-साथ बड़े-बड़े भूखण्डों पर दास श्रम का उपयोग कृषि कार्यों में किया जाने लगा ।[2] ऐसे इतिहासकारों की दृष्टि में यह स्थिति का चरमोत्कर्ष मौर्य काल में दिखायी पड़ता है जिस समय राजकीय नियंत्रण में कृषि करायी जाती थी । [3] सम्राट अपने भू-भागों पर स्वतन्त्र रूप से राज्य करने वाले अधीनस्थ शासकों पर भी कर आरोपित करता था। कृषकों से कर वसूली कौटिलीय अर्थशास्त्र का एक सामान्य नियम था जिसकी गैर अदायगी पर उनसे भूमि छीन लेने की बात भी कौटिल्य करता है ।[4]
इन इतिहासकारों की दृष्टि में ऐसे कृषकों में शूद्र दासों की अधिकतम आबादी हुआ करती थी ।[5] इस प्रकार मौर्यकालीन अर्थव्यवस्था दासता मूलक अर्थव्यवस्था की परिचायक थी ।[6] ऐसे दासों को सम्पत्ति के रूप में रखते हुए राज्य प्रत्येक तरह से उनके श्रम का संदोहन करता था और उसके बदले में उन्हें केवल प्राणों की रक्षा हेतु सिर्फ भोजन उपलब्ध करता था ।
इस प्रकार इन इतिहासकारों ने पहली बार दो वर्गों के अस्तित्व की बात की एक शोषक वर्ग और दूसरा शोषित वर्ग । पहला राज्य के प्रतिनि के रूप में दूसरे वर्ग का प्रत्येक दृष्टि से शोषण करता था। यह शोषित वर्ग

कृषि एवं उत्पादन से जुड़ा हुआ दास वर्ग ही था जो अधिकांशतः शूद्र वर्ण से ही निर्मित्त होता था ।

दासतामूलक अर्थव्यवस्था के विघटन के बाद सिद्धान्ततः सामन्तीसमाज का उदय होता है जिसकी विशेषता दासों केबजाय अर्धदासों अथवा कृषिदासों का उत्पादन कार्यों में नियोजन[7] होती है । उपर्युक्त अवधारणा के पक्षपोषक इतिहासकारों का मानना है कि अर्थव्यवस्था का यही विकास क्रम भारत में भी रहा । अतः पूर्वमध्यकालीन भारत में दासता का पतन हो रहा था और दासश्रम का स्थान कृषिदासों का श्रम ले रहा था[8] और वे अतिरिक्त उत्पादन का समस्त भार इन्हीं कृषिदासों के कन्धों पर आ गया । यहाँ पर यह विचारणीय है कि ऐतिहासिक भौतिकतावाद के इस सिद्धान्त के जनक कार्ल मार्क्स ने अर्थव्यवस्था के विकास की इन अवस्थाओं की स्थापना पाश्चात्य सभ्यता के विशिष्ट सन्दर्भ में की थी । भारतीय सभ्यता के लिए उसने 'एशियाई उत्पादन पद्धति' को एक पृथक अवधारणा ही बनायी थी जो उसके विचार में ऐतिहासिक विकास की मुख्य धारा की एक अपवाद थी । इसीलिए मार्क्स ने इन समाजों को इतिहास की प्रमुख धारा का अपवाद मानकर अलग कर दिया और इसे प्रगतिहीन समाज की कोटि में रख दिया ।[9] भारतीय समाजार्थिक इतिहास की इस सिद्धान्त की मुख्य धारा के अनुरूप विवेचना कार्ल मार्क्स की विचार-धारा को संशोधित करने के उपरान्त की गयी है ।

पूर्वमध्यकालीन उत्पादन व्यवस्था में दासों की स्थिति का

के आलोक में, समुचित अध्ययन किये बिना नहीं किया जा सकता क्योंकि एक बार यह मान लेने पर कि पूर्वकालीन भारतीय उत्पादन व्यवस्था की रीढ़ दास थे उनकी पूर्वमध्यकालीन अवस्था एक पूर्वनिर्धारित निष्कर्ष हो जाती है। उत्पादन व्यवस्था के गठन में श्रमिकों एवं सेवि वर्ग के लोगों की विशिष्ट भूमिकायें होती हैं जिनके स्वरूप यदि किसी पूर्वाग्रह अथवा सैद्धान्तिक प्रतिबद्धता के द्वारा पूर्व निर्धारित न होती वे किसी भी सभ्यता के ढाँचे में ऐतिहासिक खोज के विषय हो सकते हैं । मार्क्स ने पाश्चात्य सभ्यता की उत्पादन व्यवस्था के गठन तथा परिवर्तनों के सम्बन्ध में अपनी धारणा अपने ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर बनायी । उसके द्वारा भारतीय सभ्यता को एशियाई उत्पादन पद्धति की कोटि में रखने का कारण इतिहास के स्वरूप मे उसकी अनभिज्ञता बताई जाती है और यह दावा किया जाता है कि भारतीय इतिहास के वस्तुनिष्ठ अध्ययन से भारत में भी समाजार्थिक विकास की पाश्चात्य सभ्यता जैसी अवस्थाओं का अस्तित्व ही सिद्ध होता है। भारतीय इतिहास के मूल स्रोतों में हमें यह देखना है कि प्राचीन भारतीय उत्पादन पद्धति का स्वरूप और उसमें दासता की स्थिति क्या इस दावे के अनुरूप थी? किन्तु ऐसा करने के लिए पूर्व तथा पूर्वमध्यकाल , दोनो ही युगों, की स्थापनाओं की समीक्षा करनी होगी ।

वर्ण व्यवस्था की सैद्धान्तिक योजना में उत्पादन प्रक्रिया-

आलोच्य सन्दर्भ में उत्पादन प्रक्रिया में सेवि वर्गों एवं उसमें

अन्तर्निहित दासों की भूमिका को रेखांकित करने के लिए यह आवश्यक है कि प्राचीन काल से लेकर पूर्वमध्यकाल के बीच परम्परागत भारतीय सामाजिक संरचना का सूक्ष्मावलोकन किया जाय क्योंकि प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था में उत्पादन कार्य भी कोई न कोई व्यवस्था तो होगी ही । देखना यह है कि यह उत्पादन पूर्वकाल में किसके साथ सम्बद्ध था और पूर्वमध्यकाल में आकर इसका वाहक कौन सा वर्ग बना । इसके लिए प्राचीन भारतीय सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया को समझना पड़ेगा । भारतीय सामाजिक स्तरीकरण का वास्तविक बोध तभी हो सकता है जबकि भारतीय समाज के स्तरीकरण से सम्बन्धित वर्ण व्यवस्था की स्थिति का आकलन प्रस्तुत किया जाय । वस्तुत: भारत में पहली बार उत्तरवैदिककाल में लोगों को सिद्धान्तत: 4 वर्णों में विभक्त करके [10] वर्ण व्यवस्था का एक ऐसा ढांचा खड़ा किया गया जिसमें न केवल उनकी पहिचान को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया अपितु उनके अधिकारों एवं कर्तव्यों की भी व्यवस्था कर दी गई । [11] वर्ण व्यवस्था की इस परम्परागत योजना में ब्राह्मण को आदि पुरुष के मुँह से उत्पन्न बताकर समस्त पवित्र व धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करने अथवा कराने का अधिकार प्रदान कर दिया गया । समाज के इस सर्वोच्च वर्ण से यह अपेक्षा की गयी कि वह पठन-पाठन, यजन-याजन तथा दान- प्रतिग्रह के केवल छ: कर्त्तव्यों का ही निर्वहन करते हुए समाज को सही दिशा में ले जायेगा क्षत्रियों से यह उम्मीद की गई कि चूँकि उनकी उत्पत्ति विराट् पुरूष की भुजाओं से हुयी है और भुजाओं का

कार्य रक्षा करना है, अतएव वह रक्षा कार्य का उत्तरदायित्व निभाते हुए राजकीय एवं प्रशासनिक गतिविधियों को सम्पन्न करेगा । इसी क्रम स्तरानुक्रम के हिसाब से तीसरा स्थान वैश्यों को प्राप्त हुआ जिनकी उत्पत्ति जंघाओं से बताई गई । जाँघ शरीर का स्तम्भ होने के कारण तथा वैश्यों की उससे उत्पत्ति के कारण सामाजिक स्तम्भ की पर्याय बन गयी और इस उत्पादन प्रक्रिया को गति प्रदान करने का कार्य वैश्यों के ऊपर छोड़ दिया गया । कृषि, पशुपालन, वाणिज्य, उद्योग धन्धों, जो अर्थव्यवस्था के प्रमुख अंग थे, की जिम्मेदारी वैश्यों पर डाल दी गई । अब समाज का चौथा वर्ण शूद्र बचा जिसकी उत्पत्ति पैरों से बतायी गयी थी । निश्चित रूप से जब धर्म राज्य एवं अर्थव्यवस्था तीनों का बंटवारा हो चुका तो चौथे वर्ण का कोई कार्यगत औचित्य नहीं रहा । अतएव इसे तीनों वर्णों की सेवा का कार्य सौंप दिया गया ।[12] इस प्रकार भारत का प्राचीन सामाजिक ढाँचा खड़ा करदिया गया। यह परम्परागत ढाँचा सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक धरातल पर कितना खरा उतरा इसका आकलन तो हम आगे प्रस्तुत करेंगे लेकिन यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि कोई भी समाज ज्यामितीय सिद्धान्तों के आधार पर नहीं चल सकता क्योंकि उसकी सर्जना ज्यामितीय ढंग से हो ही नहीं सकती । इसलिए व्यवस्थाकारों द्वारा यह निर्दिष्ट कर देना कि यह धार्मिक गतिविधियों का अधिकार क्षेत्र है, यह राजनीति अथवा अर्थव्यवस्था का दायरा है और इसका अतिक्रमण नहीं होना चाहिए, व्यवहारतः संभव नहीं है ।

वर्ण व्यवस्था की यह जो परम्परागत योजना प्रचारित एवं प्रसारित की गई इसमें सेवा कार्य से जुड़े हुए शूद्रों एवं उत्पादन कार्य से जुड़े हुए वैश्यों की प्रमुख भूमिका थी । एक श्रम करता था और दूसरा आर्थिक गतिविधियों पर नियंत्रण करके उसके आंशिक श्रम का लाभ उठाता हुआ अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करता था । अर्थात् इस उत्तरवैदिक कालीन व्यवस्था में भी शूद्रों को आर्थिक गतिविधियों से व्यवहारतः अलग नहीं किया गया होगा। यद्यपि परस्पर या तो यही व्यवस्था थी कि शूद्र केवल ऊपर के तीन वर्णों की ही सेवा करेगा [13] लेकिन शूद्रों से मूलतः दो प्रकार के कार्य लिए जाते थे । एक तो उनका उपयोग अनुत्पादक कार्यों में होता था जिनमें उनसे केवल क्लिष्ट सेवा करायी जाती थी और दूसरे शिल्प कार्य थे जिनमें शूद्रों का नियोजन होता था और वे उत्पादन से सीधे जुड़े हुए थे ।[14] शिल्प कार्यों में शूद्रों को नियोजित करके उन्हें वैश्यों के साथ जोड़ा गया था । इस प्रकार शूद्र प्रारम्भ में भी उत्पादन कार्यों से जुड़े हुए थे लेकिन इस सैद्धान्तिक योजना में ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों को ऐसे कार्यों से पूर्णतः अलग रखा गया था ।[15] अधिक संभावना है कि सेवाकार्य से जुड़े हुए शूद्र वैश्यों के साथ उत्पादन कार्यों को भी सम्पन्न करते थे और वे ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के यहाँ बहुत कम ही सेवा का कार्य करते रहे होंगे । क्योंकि जहा उत्तर वैदिक काल में स्थायी तथा निश्चित से बंधे जीवन को स्वीकार करने के साथ-साथ आर्य लोग अपनी यायावरी प्रवृत्ति को छोड़ रहे थे और कृषि की ओर उनका झुकाव बढ़ रहा था वहीं बढ़े हुए आर्थिक क्रिया

कलापों ने निश्चित रूप से कृषि के लिए अनिवार्य विशिष्ट आवश्यकताओं पर अनुकूल जोर दिया होगा जिसके परिणामस्वरूप बहुत से विशेषज्ञता-युक्त पेशेवर कारीगरों का एक वर्ग अस्तित्व में आया होगा जिसमें शूद्रों की संख्या नगण्य न रही होगी क्योंकि इन्हें शिल्पकार्य में नियोजित करने की चर्चा की गई है। यद्यपि सामाजिक स्थिति और शुद्धता की दृष्टि से शूद्रों को चतुर्थ स्थान पर रखा गया था लेकिन उत्पादन कार्यों में इनकी सहभागिता स्पष्ट हो जाने पर ऐसी पारस्परिक आधार खड़ा करना समीचीन होगा। परन्तु यह बिल्कुल सही है कि वर्णव्यवस्था के इस उपर्युक्त सैद्धान्तिक ढाँचे में शूद्रों का आंशिक योगदान ही हो सकता है। जहाँ तक दासों को उत्पादन पद्धति से जोड़ने का प्रश्न है, कम से कम इस सैद्धान्तिक संरचना में दासों को उत्पादन के अंग के रूप में कहीं भी नहीं दिखाया गया है दासों का उत्पादन कार्यों से कोई सरोकार वर्ण व्यवस्था की परम्परागत पद्धति में नहीं दिखायी पड़ता जैसा कि वैदिक कालीन दासता के विवरणों से स्पष्ट भी हो जाता है।[16] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वर्ण व्यवस्था की सैद्धान्तिक योजना में उत्पादन प्रक्रिया से ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों का तो दूर दराज तक कहीं कोई सरोकार नहीं था और वैश्यों के कन्धे पर ही सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की जिम्मेदारी डाली गयी थी जिसमें शूद्र केवल सेवा के स्तर पर अनुत्पादक एवं उत्पादक, दोनों प्रकार के कार्यों से जुड़कर अर्थ व्यवस्था के सुदृढ़ीकरण में अपनी आंशिक भागीदारी दर्ज करते थे। इसके अतिरिक्त शिल्प कार्य भी जो उनका स्वाधिकार था, अर्थव्यवस्था को समृद्ध

बनाता रहा होगा । दासों का वर्ग, जो तत्कालीन श्रमिवर्ग का आवश्यक अंग था, उत्पादन के कार्यों में कहीं भी जुड़ा हुआ नहीं दिखायी पड़ता । वर्ण व्यवस्था के नियामकों की दृष्टि में यह व्यवस्था प्राचीन भारतीय समाज संरचना की रीढ़ थी । किन्तु यह परम्परागत योजना भारत के सामाजिक यथार्थ को कभी अपने में पूर्णतया समेट न सकी । सामाजिक यथार्थ के प्रति की गई तत्त्वों के रूप में जातियों का समायोजन अन्ततः वर्णों का जातियों का समूह बना देता है। या दूसरे शब्दों में अधिसंख्य जातियों को वर्णक्रमानुसार वर्गीकृत कर दिया जाता है । यह स्थिति गुप्तोत्तर काल में दिखायी पड़ती है जब जाति व्यवस्था वर्ण व्यवस्था के पर्याय के रूप में उभरकर सामने आ गयी । अर्थात् प्राचीनकाल के इस प्रथमार्द्ध में वर्ण व्यवस्था बरकार रही और सिद्धान्ततः समाज के चारों वर्णों को उपर्युक्त व्यवस्थाओं के अनुरूप ही चलाना था जिसमें ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों को किसी भी दशा में श्रमिक वर्गों की कोटि में नहीं रखा जा सकता था। वैश्यों को अर्थव्यवस्था का ठेकेदार तथा शूद्रों को श्रमिवर्ग का प्रमुख आधार स्तम्भ मानना इस ढांचे की विशेषता थी जिसमें दासों को कोई स्थान नहीं था । लेकिन यह सैद्धान्तिक योजना कार्यरूप में किस सीमा तक खरी उतरी इसका आकलन प्रस्तुत करना नितान्त आवश्यक है तभी तो यह स्पष्ट हो सकेगा कि श्रमिक वर्ग, जो बाद में उत्पादन व्यवस्था का प्रमुख वाहक बन गया, केवल शूद्रों द्वारा ही निर्मित था अथवा उसमें वर्ण या जाति का कोई प्रतिबन्ध नहीं था ।

व्यावहारिक यथार्थ और उत्पादन प्रक्रिया :

वर्ण व्यवस्था के उपर्युक्त सैद्धान्तिक आदर्शों का परिपालन व्यावहारिक धरातल पर बहुत अधिक नहीं हो पाता था जिसका प्रधान कारण यह था कि ये व्यवस्थाएं एकांगी थी । इन व्यवस्थाओं में एक वर्ण को तो सारे उच्च अधिकार प्राप्त थे और दूसरे को शोषित रहने की समस्त विवशताएं झेलनी पड़ती थीं । इसकी अव्यावहारिकता का एक पहलू और भी है । जो नियम एवं कर्तव्य उच्च वर्णों के लिए बनाए गये थे उनमें इतनी दुरूहता और रूढ़वादिता व्याप्त थी कि वह समाज के सभी ऊँचे तबके के लोगों द्वारा अनुकरणीय हो ही नहीं सकती थी । उदाहरण के तौर पर ब्राह्मणों के जो छः कर्तव्य गिनाए गये उनसे कितने ब्राह्मणों की उदरपूर्ति हो सकती थी ?[17] शौच-अशौच का जितना कड़ा विधान था, वैवाहिक सम्बन्धों में जितनी जटिलताएं समाहित थी, उनका अतिक्रमण तो होना ही था । यही कारण है कि धर्मशास्त्रकारों को उनके निषेध या अतिक्रमण की अवस्था में प्रायश्चितों एवं दण्ड विधानों की व्यवस्था भी करनी पड़ी ।[18] यही नहीं, आपद्धर्म के अन्तर्गत जो शिथिलताएं कम से कम उच्च वर्णों के लिए प्रदान की गई । उनमें समाज के इन वर्णों के अधिकांश लोग खड़े दिखायी पड़ते हैं । यदि प्राचीन समाज की संक्रमणकालीन परिस्थितियों की ओर दृष्टिपात किया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि तीसरी सदी के लगभग वैश्य शूद्र श्रम पर

आधारित सामाजिक संरचना गम्भीर विपत्तियों से गुजर रही थी जिसकी झलक पुराणों में अभिव्यक्त कलियुग वृत्तान्त में देखी जा सकती है ।

शान्ति पर्व में दण्ड के महत्व पर जोर[19] तथा रामायण में अराजकता का वर्णन[20] सम्भवतः इसी पृष्ठभूमि से जुड़ा हुआ है। वर्ण संकरता कलियुग की विशेषता है । कलियुग का वर्णन करते हुए महाभारत में कहा गया है कि अंत्य मध्य हो जायेंगे और मध्य के सामाजिक दर्जे में गिरावट आयेगी ।[21] यहाँ हमें युगान्त की एक महत्वपूर्ण विशेषता के रूप में वैश्यों की स्थिति में गिरावट आने तथा उनके शूद्रों की स्थिति में पहुँचने का एक अस्पष्ट सा उल्लेख मिलता है । इसी प्रकार कात्यायन स्मृति [22] में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रकर्षकों की चर्चा से इस बात की पुष्टि होती है कि शूद्र ही नही अपितु क्षत्रिय भी कृषि कार्य करने लगे थे । सम्भवतः यह परिवर्तन कौटिल्य की उस व्यवस्था को संबल प्रदान करता हुआ प्रतीत होता है जिसमें उसने वैश्योचित "वार्ता" का अधिकार शूद्रों को प्रदान किया था ।[23] विष्णु पुराण शूद्रों को भाग्यशाली मानते हुए कहता है कि वैश्य कृषि व्यापार का त्याग करके मामूली कारीगरों की तरह शूद्रों के धन्धे, दासता और कारीगरी के काम शुरू करके उन्हीं को व्यवसाय के रूप में अपना लेगें ।[24] यह परम्परा ब्राह्मणों के कार्य क्षेत्रमें हस्तक्षेप के रूप में तो आपस्तम्ब धर्म सूत्र[25] के कालमे ही दिखायी पड़ने लगती है जहाँ पर यह वर्णित है कि वैश्वदेव बलि द्विजो कीदेखरेख में शूद्र भी तैयार कर सकता है। आपस्तम्बधर्म सूत्र के अनुसार वैश्वदेव का अन्न आर्यों॥ द्विज लोगों॥

द्वारा स्नान करने के उपरान्त पकाया जाना चाहिए किन्तु आर्यों की अध्यक्षता में इसे शूद्र भी पका सकता है ।[26] मध्यकाल के निबन्धों के मत से शूद्र द्वारा भोजन बनाने की बात प्राचीन युग की है । अर्थात् यह युगान्तर का विषय है,कलियुग में वर्जित है। यदि किसी दिन वैश्वदेवका भोजन किसी कारण से न बनाया जा सके तो गृहस्थ को एक रात और दिन तक उपवास करना चाहिए ।[27] स्मृति चन्द्रिका में ऐसा विवरण है कि जो व्यक्ति बिना वैश्वदेव के स्वयं खा लेता है,वह नरक में जाता है ।[28]

वर्ण के अनुसार कार्य सम्पादित करने अथवा न करने के उपर्युक्त उल्लेखों को देखने के बाद यह आवश्यक हो जाता है कि इस बात पर गम्भीरता से विचार किया जाय कि वर्ण व्यवस्था किस सीमा तक सैद्धान्तिक व्यवस्थाओं की पहिचान बनी और व्यावहारिक धरातल पर इसका अति-क्रमण किस वर्ण द्वारा किस सीमा तक किया जाता था । इस सन्दर्भ में यदि ब्राह्मणों के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों की सैद्धान्तिक विवेचना वर्ण व्यवस्था के पूर्ववर्णित ढाँचे के अनुसार की जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि वर्ण व्यवस्था के शीर्ष पर बैठे हुए इस ब्राह्मण वर्ण को छः कार्यों के अतिरिक्त और कुछ नहीं करना चाहिए जो कि निश्चयतः समाज के सभी ब्राह्मणों के वश की बात नहीं थी । इसलिए इसके आंशिक अनुपालन का खतरा तो इसकी उत्पत्ति के साथ ही उत्पन्न हो गया । आगे चलकर अनेक व्यावहारिक विवशताओं के कारण इनका अतिक्रमण हो

सामान्य प्रथा प्रतीत होने लगी और यह कलियुग वृत्तान्त तथा आपद्धर्म की व्यवस्था में यह स्पष्टतया प्रतिबिम्बित भी होती है। ऐसा लगता कि व्यावहारिक जगत में इसके सम्यक अनुपालन न हो पाने का एक मात्र कारण इसके सैद्धान्तिक ढाँचे की कठोरता थी जिसके लिए ब्राह्मणों के सम्बन्ध में एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा जिसमें मनु ने पितरों की श्राद्ध के लिए अनेक व्यवस्थाएं प्रदान की हैं। उनकी दृष्टि में पितरों की श्राद्ध का हकदार केवल पंक्तिपावन ब्राह्मण ही हो सकता है जिसकी पहिचान इस प्रकार की जा सकती है -[29] "वेद के अर्थ का ज्ञाता §वेदान्त को नही पढ़कर भी गुरु से वेदार्थ को जानने वाला§ वेद का व्याख्यान करने वाला, ब्रह्मचारी §प्रथम आश्रम में नियन्त्रित रूप से रहने वाला§, हजार गायों का या बहुत अधिक दान करने वाला और सौ वर्ष की आयु वाला, इन ब्राह्मणों को पंक्तिपावन ब्राह्मण जानना चाहिए। निश्चित रूप से पंक्तिपावनता की अर्हताएं अव्यावहारिकता की सीमा तक कठोर थी। उदाहरणार्थ - किसी ब्राह्मण की पंक्तिपावनता को जानने के लिए उसकी सौ वर्ष की आयु की गणना किस ज्योतिष शास्त्र से की जाती रही होगी ? यही नही जो ब्राह्मण उपर्युक्त कठिन कृत्यों को सम्पन्न करता रहा होगा, उसकी संख्या समाज में कितनी रही होगी। अर्थात् यह मात्र एक ऐसा सैद्धान्तिक जामा था जिसे इक्का दुक्का ब्राह्मण ही पहन पाता रहा होगा। शेष बहुसंख्यक ब्राह्मण समुदाय उस युग में भी इससे बाहर रहा होगा जिसकी अप्रत्यक्ष संपुष्टि

स्वयं मनु ने ही कर दी है । मनु के अनुसार ऐसे ब्राह्मण जो मांस बेंचने,[30] व्यापारकर्म करने,[31] प्रेष्य[32], वेतनभोगी,[33] सूदखोर,[34] पशुपालक,[35] चन्दा लेने वाले,[36] सोमविक्रेता,[37] समुद्रयात्रा करने वाले,[38] तेल का व्यापार करने वाले,[39] जुआ खिलाने वाले,[40] गन्ने का रस बेचने वाले[41] धनुष-वाण बनाने वाले,[42] द्यूतशाला के अध्यक्ष,[43] हाथी-घोड़ा को युद्धाभ्यास कराने वाले,[44] चिड़ियों का व्यापार करने वाले,[45] युद्ध की शिक्षा देने वाले[46], ठेकेदारी करने वाले,[47] दौत्य कर्म करने वाले,[48] माली गीरी करने वाले[49] कृषि कार्य करने वाले,[50] मुर्दे को धन लेकर बाहर घसीटने वाले[51] तथा वेतन लेकर पूजा कराने वाले हों,[52] वे सभी अपंक्तिपावन ब्राह्मण होते हैं । इन्हें पितरों के श्राद्धभोज में नहीं बुलाया जा सकता । यदि उपर्युक्त सूची पर ध्यान दिया जाय तो यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि उस युग का ब्राह्मण (विशेष तथा उस युग का जो मनुवादी ब्राह्मणव्यवस्था का द्योतक है,) कृषकों, वैश्यों से लेकर चाण्डालों तक के कार्य करता था और ऐसे ब्राह्मणों की संख्या अपवाद स्वरूप न रही होगी ।[53] अतः यदि समाज में वर्ण व्यवस्था का सुप्रतिष्ठित सैद्धान्तिक शिकंजा, मजबूत होता तो ऐसे उल्लेखों का कोई औचित्य नहीं था, अथवा ऐसे उल्लेख अपवादस्वरूप मिलते । लेकिन इसे देखकर तो ऐसा लगता है कि वर्णव्यवस्था की यह सैद्धान्तिक योजना मात्र आदर्शों की दुहाई भर दे रही थी और व्यावहारिक जगत में वर्ण अथवा जाति का कोई प्रतिबन्ध उनके व्यवसायों के सम्बन्ध में विद्यमान नहीं था ।

इसी प्रकार के कतिपय दण्ड विधान भी यह स्पष्ट करते हुए प्रतीत होते हैं कि वर्णव्यवस्था की सैद्धान्तिक योजना में निर्दिष्ट अदण्डनीय ब्राह्मण को व्यावहारिक दृष्टि से दण्ड के कटघरे में खड़ा किया जा सकता है। मनु ने बताया है कि ब्राह्मण चोर का अभिज्ञान हो जाने पर उसे 64 गुना या सौ गुना या 128 गुना पाप होता है, क्षत्रिय को 32 गुना, वैश्य को 16 गुना तक शूद्र को 8 गुना पाप होता है । ये सभी इसी क्रम में दण्डनीय भी होते हैं ।[54] इस दण्ड विधान में ब्राह्मणों के लिए अधिकाधिक दण्ड की व्यवस्था स्वयं सिद्ध है । इसी प्रकार मनु ने लिखा है कि ब्राह्मण यदि किसी क्षत्रिय को चोर या कटु वचन कहे तो उसे 50 पण का दण्ड भोगना पड़ेगा । यदि वैश्य को ऐसा कहे तो 25 पण तथा शूद्र को कहने पर 12पणे का दण्ड उसे भोगना पड़ेगा ।[55] यहाँ भी ब्राह्मण दण्ड से मुक्ति नहीं पा रहा है । यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि ये घटनाएं, जिनमें किसी को कटुवचन तक पर दण्ड की व्यवस्था है, सामान्य अपराध कही जा सकती हैं और जब ब्राह्मण जैसा पवित्र वर्ण सामान्य से सामान्य अपराध के लिए भी दण्डित किया जा सकता था तो गम्भीर अपराधों पर तो निश्चित रूप से उसे मृत्युदण्ड तक भी मिलता रहा होगा जबकि मनु ने ब्राह्मण का प्राणदण्ड देने का निषेध किया है [56] लेकिन एक स्थान पर मनु ने स्वयं लिखा है कि ब्राह्मण बध पर बारह वर्षों का प्रायश्चित करना पड़ेगा ।[57] इसका

तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणों की हत्या कोई असामान्य घटना न रही होगी। ब्राह्मण को मृत्यु दण्ड देने का एक परवर्ती प्रमाण मृच्छकटिक में का निर्णय है। आततायी ब्राह्मणों के वध की ब्राह्मण अपराधी को राजकीय अदालत द्वारा दिया गया मृत्युदण्ड/ अनुमति स्वयं स्मृतियों ने भी दी है।

मनु ने ब्राह्मणों के जीवन निर्वाह के लिए दस कर्म विहित किये जिन्हें वह विशिष्ट परिस्थितियों में अपना सकता था। इनमें विद्या, शिल्प, भृति, सेवा, गोरक्षण, व्यापार, कृषि, धैर्य, भिक्षा संग्रह, सूद पर धन लेना शामिल है।[58] यही नहीं, उन्होंने ब्राह्मण कृषकों का भी प्रमाण दिया है।[59] ब्राह्मणों के गर्भ से उत्पन्न कीनाश पुत्र को खेती करने के लिए एक बैल, ‹ या हल तथा बैल › सवारी ‹घोड़ा आदि›, भूषण, घर इनमें से जो श्रेष्ठ हों, उन सब भागों में से एक भाग देने की व्यवस्था मनु ने दी है। कुल्लूक ने मनु पर भाष्य लिखते हुए कीनाश का तात्पर्य कर्षक से लिया है।[60] ब्राह्मण जीविका के निर्वाह न होने की शंका पर वैश्यों के कार्य अपना सकता था।[61] सात रातों तक व्यापार में संलग्न ब्राह्मण को वैश्य हो जाने वाला ब्राह्मण मनु द्वारा बताया गया है।[62] यही नहीं "कृषीवल" का उल्लेख करके मनु ने ब्राह्मण कृषक की बात भी पुष्टकरदी है।[63] मनु ब्राह्मण को क्षत्रियोचित कर्म करते हुए भी दिखाते हैं। ब्राह्मणों को शिल्पकार्य से जुड़ा हुआ दिखाकर [65] मनु ने वर्णव्यवस्था की सारी सीमाओं को तोड़ दिया। इस प्रकार जब मनु जैसे विचारक ब्राह्मणों को उनके विहित कर्मों से अलग दिखाते हैं तो अन्य विचारकों

अथवा ऐतिहासिक स्रोतों में ऐसी परम्पराओं के अभाव का कोई प्रश्न ही नहीं उठता । कौटिल्य ने भी वर्णगत ढाँचे के बाहर इन कृत्यों को ब्राह्मणों द्वारा सम्पन्न करते हुए दिखाया है ।[66] पूर्व मध्यकाल के उस युग में जबकि भूमिदानों की परम्परा अपने पूरे उफान पर थी, उस युग में ब्राह्मणों को गैर ब्राह्मणों के कार्य करते हुए आसानी से देखा जा सकता है ।

पूर्वमध्यकालीन भारत में यद्यपि वर्णाश्रम धर्म को पुनर्स्थापित करने के प्रयासों की चर्चा मिलती है लेकिन वे केवल सैद्धान्तिक उद्घोषणाओं से बहुत ज्यादा आगे नहीं बढ़ पाये और व्यावहारिक धरातल पर उसका कोई खास असर नहीं पड़ा । यों तो वर्णाश्रम व्यवस्था को गुप्तों एवं मौखरियों के शासन काल में भी पुनर्स्थापित करने की चर्चाएं मिलती हैं[67] लेकिन वह यथार्थ जीवन में सफलता नहीं प्राप्त कर सका । यद्यपि पूर्वमध्यकालीन स्मृतिकारों ने यह व्यवस्था प्रदान की यह राजा का कर्तव्य है कि वह श्रोत्रिय ब्राह्मणों एवं उन ब्राह्मणों को, जो अपनी जीविका का निर्वाह न कर पा रहे हों, रक्षा करें ।[68] यही नहीं, अधीत कालीन अभिलेखीय साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि दान ग्रहीता को दाता अनेकों अधिकारों से सम्पन्न कर देता था ।[69] लेकिन ऐसे ब्राह्मणों के भी प्रभूत प्रमाण है जो असहाय अवस्था में थे और समस्त गैर ब्राह्मणोचित कर्मों को करते थे । इसका विवरण अल्बेरूनी ने अत्यधिक विस्तार से दिया है ।[70] यदि पराशर स्मृति के प्रायश्चित खण्ड का विशद् अध्ययन

किया जाय तो ब्राह्मणों की उस स्थिति का स्पष्ट अंदाजा लग जाता है जिसमें वे वर्णबाह्यकार्य करते हुए दिखायी पड़ते हैं जो वर्णगत ढाँचे का सीधा-सीधा अतिक्रमण भी था।[71] बृहन्नारदीय पुराण में देशाचार[72] एवं ग्रामधर्म[73] की अनुशंसाएं तथा कलि वर्ज्य[74] के जो नियम सामने आते है उन्हे देखने से ऐसा लगता है कि वर्णव्यवस्था का सैद्धान्तिक आदर्श यथार्थ जीवन में सर्वदा अप्रासंगिक था इसीलिए इन स्वयंभू व्यावहारिक व्यवस्थाओं को जन्म लेना पड़ा। इसी प्रकार क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों की अलग-अलग स्थितियाँ दिखायी पड़ती हैं। क्षत्रियों को परम्परागत योजनानुसार केवल रक्षा कार्य सौंपा गया लेकिन उपनिषदों के काल से ही इसका अतिक्रमण मिलने लगताहै। शिक्षा के क्षेत्र से लेकर कृषि एवं सेवा-कार्य तक सभी क्षेत्रों में क्षत्रियों की भूमिका को प्राचीन एवं पूर्वमध्यकालीन सन्दर्भों में देखा जा सकता है। यदि उपनिषदों के युग में क्षत्रियों को शिक्षा के क्षेत्र में कीर्तिमान स्थापित करते हुए दिखाया गया है तो कात्यायन स्मृति में [75] में इन्हें कृषकों के रूपमें तथा आगे चलकर भृत्यों एवं भीलों के रूप में [76] भी चित्रित किया गया है। कृषि एवं वाणिज्य[77] इनके सामान्य कर्मों के रूप में भी प्राप्त होते हैं। इन्दौर ताम्रलेख क्षत्रिय वणिक् की चर्चा स्पष्ट रूप से करता है।[78] युद्ध क्षेत्र में, तुर्क आक्रमणों के समय विशेष रूप से, क्षत्रियों को बन्दी बनाकर दासता में ढकेल देना पूर्व मध्यकाल की एक समान्य घटना हो गयी थी जो वर्ण व्यवस्था के सारे

सैद्धान्तिक आधारों को ध्वस्त करती हुयी प्रतीत होती है ।[79] इसका विशद् विवरण पिछले अध्यायों में किया जा चुका है ।

जहाँ तक वैश्यों एवं शूद्रों की स्थिति का प्रश्न है यहाँ कार्यों की उभयनिष्ठता दिखायी पड़ती है । वर्णगत ढांचे में यदि एक वर्ग को कृषि, पशुपालन और वाणिज्य का अधिकार प्रदान किया गया था तो दूसरे को केवल द्विजों की सेवा का कार्य सौंपा गया था लेकिन यथार्थ जीवन में दोनों ही एक दूसरे की सीमा में अन्तप्रविष्ट प्रतीत होते हैं । पूर्व मध्यकालीन परिस्थितियाँ तो इसकी भरपूर गवाही देती ही हैं लेकिन पूर्वकाल में मनु तथा कौटिल्य भी इसका प्रमाण प्रस्तुत करते हैं ।[80] कौटिल्य ने पहली बार वैश्योचित कर्मों में शूद्रों को भागीदार बनाया और उन्हें महत्वपूर्ण 'वार्ता' के अधिकार से संयुक्त कर दिया ।[81] यही नहीं, मनु भी शूद्र गुरू[82] तथा शूद्र छात्र[83], शूद्र यज्ञ कर्ता[84] शूद्र याजक[85] तथा सुकाली शूद्र[86] आदि की चर्चा अप्रत्यक्ष रूप से करते हैं । पाणिनि[87] ने शिल्पी शूद्र तथा अकुशल श्रमिक शूद्र, कौटिल्य ने शूद्र सेना[88] एवं शूद्र कर्षक[89] का प्रमाण प्रस्तुत किया है जिसकी विस्तार से चर्चा इसी अध्याय के अगले अंशों में की जायेगी । इस प्रकार हम देखते हैं कि शूद्रों एवं वैश्यों के कार्यों में यथार्थ जीवन में कोई बहुत बड़ा विभेद नहीं विद्यमान था ।

कलियुग वृत्तान्त में वैश्यों की स्थिति में गिरावट तथा

शूद्रवत कर्मों में उनकी संलग्नता को दिखाने का प्रयास किया गया है। स्कन्द पुराण[90] में वर्णित है कि वैश्य लोग कलियुग में वाणिज्य व्यापार का परित्याग करके तैलकार तथा तंदुलकार (तेली तथा चावल कूटने वाले) बन जायेंगे और उनमें बहुत से लोग राजपुत्र सरदारों के आश्रित हो दूसरी तरफ दशावतारचरित[91] में शूद्रों को वैश्यों की स्थिति में पहुँचते हुए दिखाया गया है। इस प्रकार यहाँ पर भी वर्णगत ढांचे का परिहार ही दिखायी पड़ता है लेकिन ऐसे विवरणों को आधार मानकर यह निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया जाता है कि आर्थिक तथा सामाजिक परिवर्तनों के क्रम में शूद्र दास और सेवक मुख्यतः आश्रित किसान (पट्टेदार, बटाईदार और खेतिहार मजदूर) बन गये थे।[92] इस प्रकार कृषिदासता के अभ्युदय एवं दासतामूलक अर्थव्यवस्था के पतन के माध्यम से ऐसे इतिहासकारों ने सामाजिक संरचना के उस योरोपीय ढाँचे को भारतीय सामाजिक ढाँचे में फिट करने की कोशिश की जिसके अनुसार दासतामूलक अर्थव्यवस्था के बाद सामन्ती अर्थव्यवस्था का उदय होता है जिसका प्रमुख आधार उत्पादन सम्बन्धों में कृषिदासों एवं शूद्रों की भूमिका होती है। ऐसे विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया कि पूर्वकाल में राजनीतिक तथा आर्थिक अभिजनवर्ग बुनियादी उत्पादन के लिए मुख्यतः कृषि उत्पादन के लिए दासों के श्रम पर निर्भर करता था। इन्हें यह स्थिति मौर्यकाल में ज्यादा स्पष्ट दिखायी पड़ती है।[93] मौर्यों के पतन के बाद राजनीतिक नियंत्रण की आपेक्षिक शिथिलता तथा

विदेशी आक्रमणों से आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था को आघात लगा जिससे पारंपरिक सामाजिक व्यवस्था को अधिक सुदृढ करने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी । अर्थव्यवस्था के उत्तरोत्तर विकास के क्रम में धीरे भूमि संसाधनों की मुक्त उपलब्धता, उत्पादन के साधनों का विकास, पारिवारिक विभाजन के कारण जमीन का बंटवारा तथा नियम विधानों और रीति रिवाजों से उच्चतर वर्णों की सेवा करने को बाध्य एक बहुत बड़े शूद्र श्रमिक वर्ग का उदय इत्यादि विशेषताएं दिखायी पड़ने लगी और ऐसी अवस्थाओं में दास श्रम अनावश्यक प्रतीत होता हुआ मान लिया गया ।[94]

भारतीय समाजार्थिक संरचना की उपर्युक्त मार्क्सवादी अवधारणा एक ऐसी पूर्वपरिकल्पित अवधारणा का बोध कराती है जिसमें शायद इन सारी अवस्थाओं के अस्तित्व को दिखाना उनकी विवशता थी । यथार्थ में ऐसा हुआ हो अथवा न हुआ हो, इस ढांचे की आवश्यकतानुसार उसे वैसा ही घटित होना चाहिए, ऐसे पूर्वाग्रहों से युक्त भारतीय समाजार्थिक इतिहास की उपर्युक्त संरचना का पक्ष प्रस्तुत किया जाता है पूर्वकाल एवं पूर्वमध्यकाल का विभाजन भी एक ऐसी ही प्रतिबद्धता का द्योतक लगता है। वास्तव में मार्क्स ने तो इतिहास का अध्ययन करके यह मत व्यक्त किया कि ऐतिहासिक काल में विकसित होने वाली प्रत्येक उत्पादन प्रक्रिया एक विशेष प्रकार की वर्ग संरचना और उनके संघर्ष को जन्म देती है ।[95] अब यदि इस सिद्धान्त को भारतीय सन्दर्भ में रखकर

देखा जाय तो पूर्वकालीन एवं पूर्वमध्यकालीन काल विभाजन के लिए सबसे पहले तो एक ऐसे वर्ग का अभ्युदय होना चाहिए जो मूलरूप से उत्पादन प्रक्रिया से जुड़ा हो और तभी वर्ग संघर्ष की बात उठेगी तथा उसके बाद ही विकास की अगली अवस्था का अस्तित्व सम्भव हो सकेगा । जब भारतीय सन्दर्भों में उत्पादन प्रक्रिया पर किसी भी एक वर्ण का पूर्ण एकाधिकार दिखायी ही नहीं पड़ता (जैसा कि पिछले विवरणों से स्पष्ट है कि यहाँ सभी वर्ण उत्पादन प्रक्रिया में शामिल थे) तो वर्ग संघर्ष के वर्णगत स्वरूप की कल्पना नहीं की जा सकती । और ऐसे में ऐतिहासिक विकास के अगले चरण अर्थात् सामन्ती अर्थ व्यवस्था का प्रश्न कैसे उठ सकता है । शायद तभी मार्क्स ने इन समाजों को इतिहास की प्रमुख धारा का अपवाद मानकर अलग कर दिया । उसने इन्हें प्रगतिहीन समाजों की कोटि में रखकर इनके लिए उत्पादन प्रक्रिया का एक ऐसा विशिष्ट प्रकार प्रतिपादित कर दिया जिसे 'एशियाई उत्पादन प्रक्रिया' के नाम से सम्बोधित किया गया ।[96] यह उत्पादन प्रक्रिया पौवात्य निरंकुशता के सिद्धान्त पर प्रतिष्ठित राज्य और पूर्णतया आत्मनिर्भर ग्राम्य गणतन्त्रों की असंख्य इकाईयों के एक ऐसे समाहार के रूप में देखी गयी जिसके धरातल पर तो निरन्तर मार-काट, युद्ध, अराजकता और निरंकुश राज्यों एवं साम्राज्यों की स्थापना तथा विघटन का ताण्डव चलता रहता है किन्तु अन्तःस्थल एकदम शान्त और अपरिवर्तनीय रहता है । इन समाजों में न वर्ग संरचना होती है और न वर्ग संघर्ष । ये मानव इतिहास की अपवाद है । इनमें

ऐतिहासिक विकास में दासतामूलक और सामन्ती अवस्थाएं न कभी आयी है और न आयेंगी ।[97] डेनियल थार्नर[98] की इस अवधारणा को आधार मानकर कतिपय विद्वानों ने मार्क्स की एशियाई उत्पादन पद्धति के सिद्धान्त को भारतीय सन्दर्भों में अपनी सहमति प्रदान की[99] और भारत सामन्तवादी व्यवस्था के पदार्पण से पूर्णतया इनकार किया ।[100]

अतएव आलोच्य सन्दर्भ में यह कतिपय इतिहासकारों का कहना नितान्त अप्रासंगिक है कि पूर्वकाल एवं पूर्वमध्यकाल के बीच का विभाजन वर्ग संरचना पर आधारित था तथा वर्ग संघर्ष के कारण दोनों स्थितियों में अन्तर आ गया प्रतीत होती । ऐसे परिवर्तनों के पीछे इनका प्रमुख तर्क यह है कि भूमि पर निजी स्वामित्व कायम हो गया था जिससे भूमि छोटे-छोटे टुकडो में बंट गयी थी । इसका परिणाम यह हुआ कि बड़े-बड़े भूखण्डो पर कार्य करने वाले शूद्र दास मुक्त कर दिये गये तथा कृषि अब अर्धदासों पर निर्भर हो गयी ।[101] यही पूर्वकाल एवं पूर्वमध्यकालीन काल विभाजन का प्रमुख आधार है। इसे यदि साक्ष्यों की कसौटी पर कसा जाय तो यह दिखायी पड़ता है कि जिस काल में (मौर्य काल) में ऐसे इतिहासकार बड़े-बड़े भूखण्डो में दासो के नियोजन की बात करके उसे दासतामूलक अर्थव्यवस्था पर आधारित समाज घोषित करते हैं वह साक्ष्यों से परे एवं पूर्वाग्रहों से मुक्त है (जिसकी चर्चा इसी अध्याय के अगले अंश में विस्तार की जायेगी)) और पूर्वमध्य काल में जिन दासों को मुक्ति

की बात की जाती है वे मात्र सैद्धान्तिक आदर्शों एवं व्यवस्थाओं तक ही सीमित रह गये। यथार्थ में दासों की मुक्ति का औचित्य न तो तत्कालीन लोगों की समझ में आया और न ही उन्हें व्यावहारिक जगत में मुक्ति प्रदान की जाती थी अन्यथा उनके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, कृषि-कर्म में, उनके उपयोग, सैनिक कार्यों तथा गवाही एवं घरेलू कार्यों में नियोजन की बातें इत्यादि पूर्वमध्यकालीन सन्दर्भों में न दिखायी पड़ती। पूर्वमध्यकालीन भारतीय सामाजार्थिक संरचना में जिन्हें कृषि दास के रूप में चित्रित किया जाता है उसे सीधे-सीधे शूद्र वर्ग से जोड़ दिया गया जबकि कात्यायन ने स्पष्टतया क्षत्रिय तथा वैश्य से भी कृषि कार्य लिए जाने का प्रमाण प्रस्तुत किया है। यही नहीं भारत में योरोपीय सामन्तवाद के विपरीत न तो इसकी पृष्ठभूमि मैल्टीफण्डिया जैसी कोई परम्परा देखने को मिलती है और न मैनर व्यवस्था जैसी कोई संस्था ही, जिसमें कृषि दासों द्वारा बनाये जाने वाले सामन्तों के बड़े-बड़े भूखण्डों, जिन पर कृषक जनसंख्या बिना भूस्वामित्व के बसकर बिना किसी वेतन के कुछ खेतों के बदले बेगार करती रही हो, का ही अस्तित्व मिलता है।[102]

इस प्रकार यह परिलक्षित होता है कि भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संरचना के व्यावहारिक यथार्थ में उत्पादन प्रक्रिया से किसी वर्ण या वर्ग विशेष की कोई सम्बद्धता नहीं थी। यदि वैश्य एवं शूद्र उत्पादन प्रक्रिया के प्रमुख स्तम्भ थे तो ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों की उसमें भागीदारी अपवाद स्वरूप नहीं रही होगी। जहाँ तक दासों एवं

अर्धदासों अथवा कृषिदासों का प्रश्न है, यथार्थ जीवन में दास कभी भी उत्पादन प्रक्रिया के वाहक नहीं थे। इन्हें प्रायः प्रत्येक युग में घरेलू कार्यों के साथ-साथ कृषि कार्य एवं अन्य उत्पादन तथा इतर घरेलू कार्यों में नियोजित किया जाता था। अतएव ये किसी काल विभाजन का आधार नहीं बनाए जा सकते। दासों की स्थिति में निरन्तर पराश्रितता का बोध ही होता रहा। यह बात अलग है कि उन्हें कभी-कभी कई अधिकारों एवं प्रतिष्ठापूर्ण कार्यों से भी सम्बद्ध किया जाने लगा था लेकिन इसको व्यावहारिक जगत् में उनकी मुक्ति का कारण न मानकर उलटे उनको मालिक के साथ और अधिक सम्बद्धता ही मानना चाहिए क्योंकि मालिक के लिए शायद दासों की मुक्ति किसी भी युग में लाभकारी न रही होगी। इसीलिए कोई भी मालिक इन्हें कभी भी मुक्त न करने की अभिलाषा अपने मन में सदैव संजोये रखता रहा होगा। पूर्वकाल की अपेक्षा पूर्वमध्य-कालीन सन्दर्भों में दासों की संख्या एवं कोटियों में अभिवृद्धि [103] ‖ एक ऐसे युग में जबकि दास मुक्ति की कई सैद्धान्तिक व्यवस्थाएं भी बना दी गई थी ‖ इसका प्रबलतम प्रमाण है।

सेवि वर्ग का स्वरूप और दास -

उपर्युक्त विवेचनों से स्पष्ट होता है कि समाजार्थिक संरचना में सेविवर्ग की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका होती है क्योंकि ये ही अर्थव्यवस्था की रीढ़ होते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि कुछ इतिहासकारों का

एक वर्ग प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्था को दासतामूलक अर्थव्यवस्था के रूप में प्रस्तुत करता है और इस अर्थव्यवस्था को रीढ़ दासों को बताता है।[104] इन दासों द्वारा ही वे अधिकांश सेविवर्ग का निर्माण हुआ भी बताते है।[105] इस प्रकार उनकी दृष्टि में दासों एवं सेवि वर्गों के बीच कतिपय तकनीकी विभेदों को छोड़कर कोई अन्तर नहीं होता। अतएव आलोच्य सन्दर्भ में सेवि वर्ग के स्वरूप निर्धारण का प्रश्न समुपस्थित हो जाता है जिससे कि हम अपने उस मूल प्रश्न को हल कर पायेंगें कि जो सेविवर्ग केवल दासों द्वारा ही बना था कहीं वह उस प्राचीन अर्थव्यवस्था की रीढ़ तो नहीं था। साथ ही उपलब्ध साक्ष्यों के आलोक में यदि ऐसा न दिखाई पड़ा तो सेवि वर्ग और दास वर्ग के बीच यथासम्भव विद्यमान अन्तर को भी स्पष्ट करने का प्रयास प्रस्तुत सन्दर्भ में किया जायेगा। तभी यह सुपस्ष्ट हो सकेगा कि दास भारतीय इतिहास के किसी भी काल की अर्थव्यवस्था में प्रमुख भूमिका निभाते थे अथवा नहीं। इस परीक्षण को हमने मुख्य स्थापनाओं के सन्दर्भित करने वाले अदृष्टार्थक एवं दृष्टार्थक विधानों के क्रमिक विश्लेषण प्रारम्भ किया है।

वर्ण व्यवस्था की परम्परागत योजना एवं यथार्थ जीवन में उसके अनुपालन एवं अतिक्रमण का पूर्व विवेचन यह स्पष्ट कर देना है कि परम्परागत भारतीय समाजार्थिक संरचना में वर्ण कभी भी निर्णायक भूमिका

में खड़े नहीं दिखायी पड़े इसलिए किसी वर्ण विशेष पर आधारित सेवि वर्ग के निर्माण की बात बहुत उपयुक्त नहीं लगती । यद्यपि अदृष्टार्थक विधानों से परिपूर्ण धर्मशास्त्रीय मान्यताएं बार-बार वर्णगत ढाँचे के अन्तर्गत एक वर्ण विशेष से उत्पादन कार्य में नियोजित करने सम्बन्धी व्यवस्थाओं का उल्लेख करती है लेकिन दृष्टार्थक विधानों ने सर्वथा उपर्युक्त धर्मशास्त्रीय कट्टरता के अवहेलना की और उत्पादन कार्य में समाज के विभिन्न वर्णों की बृहत्तर भागीदारी को रेखांकित किया । दृष्टार्थक एवं अदृष्टार्थक का यह भेद पूर्ववर्णित उल्लेखों में स्पष्ट भी हो गया है। यथार्थ जीवन में धर्मशास्त्रीय मान्यताओं के अतिक्रमण की विस्तार से विवेचना की जा चुकी है । जिसमें मनु के पंक्तिपावन और अपंक्तिपावन ब्राह्मणों की क्रमशः आवश्यक योग्यताओं तथा लम्बी-चौड़ी सूची एवं उनके कार्यों का उल्लेख किया गया है ।[106] अपंक्तिपावन ब्राह्मणों के ये कार्य यदि मनुकालीन सामाजिक यथार्थ को प्रतिबिम्बित करते हैं तो मनु की यह धारणा नितान्त स्वाभाविक हो रही होगी कि उनके द्वारा विहित स्नातकोचित आचार का पालन उस समय का ब्राह्मण समाज अधिकांशतः अवहेलना में होकरता रहा होगा। मनु की ऐसी विवशताओं ने कम से कम यह तो प्रमाणित ही कर दिया कि उस समय सेवि का निर्माण वर्णगत आनुष्ठानिक मान्यताओं के बजाय वे वास्तविक परिस्थितियाँ करतीरही होगी जो उन्हें विभिन्न प्रकार के पेशों एवं सेवक सुलभ कार्यों के लिए विवश करती थीं । मनु के दण्ड और प्रायश्चित्त विधान इसकी अगली कड़ी के रूप में देखे जा सकते हैं जिसमें

ब्राह्मण हत्या एवं दण्डनीय ब्राह्मणों के प्रमाणों के साथ- साथ शूद्रयाजक, शूद्र शिष्य, सुरालोशूद्र आदि अनेक प्रकार के शूद्रों का विवरण सुरक्षित है ।[107] इससे यह विदित होता है कि अच्छे-बुरे प्रत्येक प्रकार के व्यवसायों को भूमिका में ब्राह्मणों से लेकर शूद्रों तक प्रत्येक वर्ण यथार्थ जीवन में दिखायी पड़ते रहे होंगे तथा कोई ऐसा अपराध और उसके लिए विहित दण्ड नहीं रहा होगा जो यथार्थ में किसी वर्ण विशेष का सदस्य होने के कारण ही उसे दिया जा सके । ब्राह्मण यदि वेद अध्यवसायी तथा वेदज्ञ की भूमिका में खड़ा था तो उसे कृषि सहित अपंक्तिपावनता के विशिष्ट लक्षणों में दिखाई पड़ने वाले समस्त कर्मों को करते हुए देखा जा सकता है । जिसमें से कुछ को आपद्धर्म विधानों के माध्यम से धर्मशास्त्रकारों ने भी मान्यता प्रदान कर दी थी । अतः यह कहना कि शूद्र ही केवल सेवा का कार्य करते थे और शेष समाज केवल उनके श्रम का शोषक था, उचित नहीं प्रतीत होता । इसीलिए यह मान्यता भी ठीक नहीं लगती कि मनु के सेवि वर्ग में केवल दास ही रहे होंगे या दासों की बहुलता रही होगी । सेवि वर्ग का निर्माण प्रत्येक वर्ण के जरूरतमन्द तथा परिस्थितियों से विवश लोग ही समय-समय पर करते रहे होंगे और दास भी इस वर्ग के संयोजक तत्त्वों में से एक रहा होगा । सेवि वर्ग के अन्य संयोजक तत्त्व, जिनका उल्लेख मनुस्मृति में [108] प्रेष्य, भृत्य, कर्मकर, गोपालक तेली आदि के रूप में मिलता है, भी थे, ये सभी शूद्र वर्ण के ही रहे हों, यह आवश्यक नहीं है ।

अपंक्तिपावन ब्राह्मणों की पूर्वोक्त सूची में प्रेष्य कर्म करने वाले, पशुपालन तथा खेती करने वाले ब्राह्मणों के उल्लेख आते हैं जो सेवि वर्ग के विभिन्न संयोजक तत्वों से पृथक न रहे होंगे। मनु द्वारा संस्तुत विधानों में बहुत से विधान दासों के सम्बन्ध में भी बनाए गये है जिनसे उनके प्रति सामाजिक व्यवहार की उदारता का परिचय मिलता है। ऐसी उदारतापूर्ण व्यवस्थाओं में दासों को उच्छिष्ट भोजन न देना,[109] उनके नियमित वेतन की व्यवस्था करना[110] तथा उसे अतिथियों, स्वजनों एवं बन्धु बान्धवों के साथ भोजन कराना[111] दण्ड विधान में दास की स्त्री, पुत्र तथा छोटे भाई की कोटि में रखना,[112] आपत्तिकालीन परिस्थितियों में भी उसके विक्रय का निषेध प्रस्तुत करना[113] आदि की चर्चा की जा सकती है। दासों को चुराना घोर दण्डनीय अपराध माना जाता था।[114] मनु के अनुसार इस प्रकार दास सेविवर्ग का अंग तो था लेकिन उस वर्ग में न तो उसकी प्रधानता और अत्यधिक बहुलता के ही संकेत मिलते है और न उसकी स्थिति ही अन्य वर्गों की अपेक्षा बदतर दिखाई पड़ती है। इसलिए दास और सेविवर्ग एक दूसरे से भिन्न है। न तो सेवि वर्ग का सदस्य होने के कारण इस वर्ग के सभी लोग दास हो जाते हैं और न दास अकेले ही इस पूरे वर्ग का निर्माण करते हैं। दोनों को एक समझना भ्रांतिमूलक है।

मनु के शास्त्रीय विधानों के बाद कौटिल्य की उस व्यवस्था पर दृष्टिपात करने की आवश्यकता है जो समाज की धर्मशास्त्रीय अदृष्टार्थक

बाह्य वास्तविक जगत के दृष्टार्थक विधानों से

विधानों से नियंत्रित करती है और अर्थ को ही मूलाधार के रूप में स्वीकार करके अनेक ऐसे विधान बनाती है जिससे मनुष्य के उस वास्तविक कल्याण के साथ-साथ राज्य को भी मजबूत बनाने की भावना का बोध हो जाता है।

कौटिल्य की दृष्टि में मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई भेद नहीं होता।[115] वह दासता को किसी नैसर्गिक गुण के अभाव से नहीं बल्कि परिस्थितिजन्य विवशताओं के परिणामस्वरूप उद्भूत[116] बताता है। कौटिल्य के राज्य की अवधारणा में राज्य मनुष्यवती भूमि के

उपलब्ध कराने का साधन मात्र है। उसकी अनिवार्यता उसके साध्य

लाभ एवं पालन के माध्यम से मनुष्य की जीविका की अनिवार्यता से जुड़ी हुई है। मनुष्यवती भूमि के लाभ में बल प्रयोग की अनुमति देते हुए कौटिल्य युद्ध का अनुमोदन करता है और राज्य के गठन एवं संचालन में शक्ति और शक्तिशाली की भूमिका को अनिवार्य समझता है।[117] शासकत्व कीअर्हता इस प्रकार बाहुबल और बुद्धिबल से उपार्जित शक्ति और संगठन की क्षमता है न कि कोई ऐसी नैसर्गिक विशिष्टता जो स्वतन्त्र नागरिक में तो प्राप्त होती है किन्तु दासों एवं शूद्रों में नहीं। सम्भवत: इसी विचार से उत्प्रेरित होकर कौटिल्य ने शूद्रों की सेना को ब्राह्मणों की सेना से अधिक उपयुक्त बताया है और दासों तक को सेना के कार्यों में नियोजित करने की सलाह राजा को दी है।[118] यही नहीं, कौटिल्य दासों को राजा के सबसे अधिक विश्वासपात्र के रूप में[119] भी चित्रित करता है।

कौटिल्य के शूद्र एवं दासता विषयक प्रयोग स्पष्ट होते हुए भी कहीं-कहीं अतिव्याप्ति के शिकार हुए है जिससे कुछ विद्वानों को यह भ्रम हो गया कि कौटिल्य ने जिन शूद्रों की बात की है उनमें अधिकांशतया दास ही थे तथा शूद्र और दास एक दूसरे के पर्याय जैसे थे। उनकी दासतामूलक समाज की अवधारणा के अनुरूप उत्पादन में प्रमुख भूमिका दासों की ही थी जो अधिकांशतया शूद्र वर्ग के थे इसलिए प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्था एक दास आधारित अर्थव्यवस्था थी।[120] दासों पर आधारित होने के कारण इन दासों को शोषण की प्रत्येक विधा से गुजरना पड़ता था और कौटिल्य ने दास मुक्ति के जो विधान बताएं हैं वेकेवल आर्यदासों के ही सन्दर्भ में लागू होते है।[121] ऐसे कथन निरापद नहीं हो सकते क्योंकि कौटिलीय अर्थशास्त्र मे सेविवर्गों के बीच दासों एवं शूद्रों की दो कोटियाँ तथा प्रत्येक की भी दो कोटियाँ अलग-अलग दिखायी पड़ती है। अपवाद स्वरूप विवरणों को उस युग की सामान्य परिस्थिति मान लेना इस सन्दर्भ में एक ऐतिहासिक भूल होगी।

अर्थशास्त्र में मिलने वाले शूद्र, दास, कर्मकर एवं अन्य सेविवर्गों के विवरणों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि ये सभी एक दूसरे से समानता रखते हुये भी अपनी-अपनी अलग पहचान वाले लोग थे। कार्यगत कुछ हद तक कार्यगत/समानताओं के प्राप्त विवरणो के आधार पर इसे उनकी विशिष्ट पहिचान से संपृक्त कर देना असमीचीन होगा। अतएव इस सम्बन्ध में कुछ ऐसे मलभूत प्रश्न है जिन पर विचारोपरान्त ही यह निश्चित हो सकेगा कि दास और शूद्र अथवा शूद्र और अन्य सेविवर्गों में क्या अन्तर

था । ये मूल प्रश्न दासों, कर्मकरों एवं शूद्रों के सम्बन्ध में मिलने वाली परस्पर विरोधी एवं अतिव्याप्ति की सीमा में आने वाले उद्धरणों के निष्पक्ष आकलन से ही सुलझ सकते हैं । अर्थशास्त्र के ऐसे विवरणों से निम्नलिखित प्रश्न उठाये जा सकते हैं -

1- दास, कर्मकर एवं शूद्र के पारस्परिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में प्रचलित धारणाओं में अस्पष्टता, विवाद एवं अतिव्याप्ति की स्थिति किस सीमा तक स्रोत सम्मत है ?

2- अर्थशास्त्र में उल्लिखित दास, कर्मकर, और शूद्र को किस सीमा तक समानता की कोटि में रखा जा सकता है और किस सीमा तक एक दूसरे से अलग ।

इन समस्याओं के सम्बन्ध में अर्थशास्त्र में प्राप्त उल्लेखों में विद्वानों के बीच बहुत अधिक मतभेद की स्थिति दिखायी पड़ती है। परस्पर विचार वैषम्य के कारण ऐतिहासिक यथार्थ का बोध नहीं हो पाता यदि इतिहासकारों का एक वर्ग एक ओर यह मानने के लिए कतई तैयार नही है कि मेगस्थनीज ने भारतीय दासता का सही स्वरूप प्रस्तुत किया था तो दूसरी ओर ‖ वह इस बात के लिए भी कटिबद्ध दिखायी देता है कि प्राचीनकाल में शूद्रों एवं दासों में सामान्यत: कोई मौलिक अन्तर नहीं था और दासों का अधिकांश हिस्सा शूद्रवर्ग से ही आता था ।[122] इन्हीं विचारधाराओं को पुष्ट करने के लिए यह तर्क दिया जाता है कि भारत में शूद्र वे समस्त कार्य करते थे जो रोम और यूनान में दास

किया करते थे लेकिन शूद्र दास नहीं थे ।[123] ऐसे अन्तर्विरोध की स्थिति दासों के उन विवरणों में और भी स्पष्ट दिखायी पड़ती है जब कौटिल्य का सहारा लेकर यह कहा जाता है कि कौटिल्य ने दासमुक्ति जो विधान किया है वह केवल आर्यदासों के लिए ही था शूद्र दासों के लिए उसका निषेध था ।[124] एक दूसरे स्थल पर कौटिल्य को उद्धृत करते हुए यह भी कहा जाता है कि कौटिल्य के अनेक नियम जो दासों की मुक्ति के बारे में हैं मात्र दासता की स्थिति में पहुंचा दिये गये आर्यों पर ही लागू होते है ।[125] लेकिन एक अन्य स्थल पर यह उद्धरण दिया जाता है कि दासों के प्रति किये जाने वाले बर्ताव को विनियमित करने के लिए कौटिल्य ने कुछ नियम बनाये है जो शूद्र दासों तथा उच्च वर्ण के दासों पर भी लागू होते है।[126] यही नहीं मूल्य चुका देने पर शूद्र दासों को मुक्त करने की व्यवस्था भी कौटिल्य ने की है ।[127] कौटिल्य ने यह स्पष्टतया कहा है ।[128] कि जो दास आठ वर्ष से कम का हो और सगा सम्बन्धी विहीन हो उसे हीन व्यवसायों में नहीं लगाया जा सकता और न ही उसे विदेश मे बेचा या बंधक रखा जा सकता है । कौटिल्य आर्यों के दासभाव का निषेध करता है । लेकिन घरेलू संकट, जुर्माना, ऋण आदि परिस्थितियों में आर्य को भी दास बनाने की बात वह स्वीकार करता है ।[129] थोड़ा सा उसके प्रति कौटिल्य ने सहानुभूति यह दिखायी कि उसे अपवित्र कार्यों

में न लगाया जाय । आहितक दासों की मुक्ति के लिए कौटिल्य ने कई व्यवस्थाएं प्रदान की है ।[130] अर्थशास्त्र में दासों को सम्पत्ति रखने का अधिकार[131] देते हुए कौटिल्य ने दास दासियों को खानों में कार्य करने तथा उससे होने वाली आय से राज्य को सुदृढ़ करने की बात भी की है ।[132] कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी कि जो लोग राजा से असंतुष्ट हों उनका दमन करने के लिए उन्हें खदानों में कार्य करने के लिए भेज देना चाहिए ।[133] ऐसे राजद्रोहियों के मामले में कौटिल्य मनुष्य-मनुष्य के बीच वर्ण अथवा रंग के हिसाब से कोई विभेद करता हुआ नहीं प्रतीत होता। दासता को वह एक परम्परागत प्रथा के रूप में भी देखता है जो संस्कृतियों के भेद के साथ-साथ अलग-अलग रूपों में प्रस्तुत होती है । इसीलिए वह आर्यों के दास्य भाव का तो निषेध करता है लेकिन म्लेच्छों के दास्य भाव को उससे पृथक करता है ।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दासों की मिलने वाली विभिन्न कोटियों में युद्धबन्दी दासों से लेकर भक्तदासों तक कई प्रकार के दासों का विवरण मिलता है ।[134] उस समय दासों की 2 कोटियों के निदर्शन मिलते हैं । कुछ दास दास होने के पूर्व की अपेक्षा अच्छी स्थिति में रहते थे और कुछ दासों को केवल घरेलू कार्यों में मालिक की मर्जी पर ही विकृत मदिरा, भोजन एवं वस्त्रादि पर अपनी जीविका का निर्वाह करना पड़ता था ।[135] कौटिल्य दासों को विष्टि कर्मकरों तथा दण्ड-प्रकृतियों के साथ कृषि कार्य[136] में लगाने का उल्लेख तो करता है लेकिन

व्यक्तिगत रूप से अथवा राजकीय रूप से उन्हें उत्पादन कार्यों में अकेले लगाया गया कहीं नहीं दिखाता । ऊपर यह दिखाया जा चुका है कि कौटिल्य उन्हें सैनिक कार्य जैसे महत्वपूर्ण कार्यों मे भी लगाने का विधान प्रस्तुत करता है । अर्थात् अकेले दास श्रम को कृषि में नियोजन का जिक्र अर्थशास्त्र में कहीं भी नही मिलता । अतः जब तक अर्थशास्त्र में उल्लिखित विभिन्न प्रकार के श्रमिकों को दासों की विभिन्न कोटियाँ न मान लिया जाय दासता को कृषि कर्म का प्रधान आधार नही माना जा सकता ।[137] कुछ दासों को राजकीय उद्योगों में भी लगाया जाता था लेकिन अर्थशास्त्र में उल्लिखित उद्योग एवं कृषि ही दासों के एकमात्र कार्य नहीं थे । घरेलू कार्यों में उनके नियोजन को पर्याप्त प्रधानता दी गयी है ।[138] अर्थशास्त्र में दासों को संदेशवाहक,के रूप में भी चित्रित किया गया है ।[139]

अर्थशास्त्र के उपर्युक्त दासता विषयक विवरणों में उनकी दो कोटियाँ बिल्कुल स्पष्ट है। इसी प्रकार शूद्रों की भी दो कोटियाँ दिखाई पड़ती हैं। सम्भवतः इसीलिए कतिपय विद्वानों [140] को यह भ्रम हो गया था कि दास और शूद्र लगभग एक हैं और श्रमिकवर्ग केवल इन्हीं शूद्रों से बना था । अर्थशास्त्र के सूक्ष्म निरीक्षण से यह अनुमान लगाना सहज ही है श्रम के मुख्य अंग के रूप में शूद्रों को विशाल पैमाने परकृषि व्यापार तथा पशुपालन के क्षेत्र में लगाया जाता था जिसके लिए कौटिल्य ने 'कारूकुशील व कर्म'[141] एवं 'वार्ता'[142] शब्द का प्रयोग किया

है कतिपय इतिहासकारों[143] की यह भी अवधारणा है कि शिल्प और कारीगरी केवल शूद्रों के ही कार्य थे। कौटिल्य "शूद्र सेना" की बात करके सैनिक कार्यों में भी इनको नियोजित करने की बात करता है। यही नहीं, वह शूद्र समेत चारों वर्णों को आर्य समुदाय का आवश्यक अंग बताते हुए उन्हें म्लेच्छों एवं अनार्यों से पृथक भी करता है।[144]

कौटिल्य ने शूद्रों को दास, कर्मकर और अन्य प्रकार के श्रमिकों की कोटि से ऊपर रखने का प्रयास किया है।[145] उसने शूद्रों को करदाता की सूची में रखा है।[146] वह शूद्रों को अर्द्धसैनिक के रूप में चित्रित करते हुए उनके भू स्वामित्व के भी कतिपय संकेत देता है।[147] ये स्थितियाँ कौटिलीय राजतन्त्र में दासों एवं कर्मकरों से पृथक उनकी स्वतन्त्र और उच्चतर स्थिति को स्थापित करने के लिए पर्याप्त है। गौतम धर्मसूत्र से चली आ रही प्रथा को दोहराते हुए कौटिल्य द्वारा शूद्रों के व्यवसाय में 'वार्ता' का उल्लेख, भूस्वामित्व और उद्योग तथा व्यापार में उनके स्वतन्त्र अस्तित्व के बिना अर्थहीन हो जायगा। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि सभी शूद्र स्वतन्त्ररूपसेवार्तासेवी ही थे। उनमें से अनेक अपनी आर्थिक विपन्नता के कारण कर्मकर विष्टि तथा दास श्रमिकों की कोटि में भी रहे होगें।[148] अतः कम से कम अर्थशास्त्र के उल्लेखों के आलोक में जो दृष्टार्थक विधानों को सूत्रधार कहा जा सकता है, दासों से ऐसे शूद्रों की अभिन्नता नहीं स्थापित की जा सकती लेकिन सारे के सारे शूद्र इसी कोटि में आते थे, ऐसा भी नहीं है।

ऐसे में उन इतिहासकारों [149] की मान्यता में काफी मजबूती दिखायी देती है जो कार्यगत समानताओं के आधार पर शूद्रों को वैश्यों को काफी निकट खड़ा कर देते हैं। इन लोगों ने तो शूद्रों के काफी अधिक मात्रा में कृषि में नियोजित करने की बात को पुष्ट करते हुए शूद्रों के भूस्वामित्व की भी मान्यता प्रदान की है। [150] ये कृषक राज्य को नियमित करों को अदायगी करते थे। [151] अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि शूद्र एवं दास में कुछ सीमा तक तो कार्यगत समानता थी लेकिन विशिष्ट कार्यों में अन्तर न उभर पाने के कारण ही तत्कालीन समाजार्थिक संरचना के मूल ढांचे को दास श्रम पर आधारित ढांचा बता दिया गया जिसमें शूद्रदासों की ही भूमिका को रेखांकित कर दिया गया। लेकिन वस्तुत: शूद्रों एव दासों में बहुत अन्तर था। इस तरह न तो सेवि वर्ग अकेले दासों के ही नियोजन का परिणाम था और न अकेले शूद्रों के नियोजन का ही। सेविवर्ग के दास और गैरदास दोनो कोटियों के अन्तर्गत शूद्रों के अतिरिक्त अन्य वर्णों के लोग भी निश्चित रूप से रहे होगें। कौटिल्य द्वारा म्लेच्छों के बीच दासता कोउचित बताने [152] से लगता है कि दासों की कोटि में म्लेच्छ लोग भी रहे होगें जिसकी मुक्ति का कोई प्रश्न ही नहीं पैदा होता। म्लेच्छों को शूद्रों से समीकृत करना भी कौटिल्य के सन्दर्भ में सम्भव नहीं है। यह सेवि वर्ग अपने में और कई श्रमिकों को समेटे हुए था जिनमे कर्मकरों की भूमिका को भी नजरन्दाज नहीं किया जा सकता।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दास और कर्मकर के प्रयोग प्राय: एक साथ हुए है जिसके कारण एक तरफ तो सेवि वर्ग में दासों एवं कर्मकरों को एक दूसरे का पर्याय मान लिया गया और दूसरी तरफ दासों एवं कर्मकरों के उल्लेखों के आधार पर ही प्राचीन भारतीय अर्थ-व्यवस्था का दासता मूलक ढांचा खड़ा कर दिया गया । वस्तुत: अर्थशास्त्र में ही दोनों के बीच का अन्तर स्पष्टतया विद्यमान है जिसकी प्राय: उपेक्षा कर दी जाती है। अर्थशास्त्र में कर्मकरों को धातु विशेषज्ञ, करदाता, पारिश्रमिक व वेतन प्राप्त करने वाला बताया गया है ।[153] लेकिन कुछ कर्मकरों को घरेलू नौकरों की भाँति विकृत मदिरा, भोजन एवं वस्त्र पर ही जीविका का निर्वाह करते हुए दिखाया गया है ।[154] जहाँ तक उन उल्लेखों के आधार पर कर्मकरों के सेविवर्ग में दासों के पर्याय के रूप में शामिल होने तथा उनकी तदनुरूप सामाजिक हैसियत का प्रश्न है, उन्हें न तो दासों की एक कोटि ही माना जा सकता है और न उनके ऊपर दास सुलभ परतन्त्रता का आरोप ही किया जा सकता है। यदि कर्मकर दासों की तरह परतन्त्र होते तो करदाताओं में उनके उल्लेख का प्रश्न ही नहीं उठता और न कृषि कार्य में अक्षमता की स्थिति में राज्य द्वारा उन्हें हल, बैल तथा बीज जैसी सुविधाएं उपलब्ध कराने का प्रश्न ही उठता । उनका वेतनभोगी तथा धातुकर्मों में दक्ष-शिल्पी होना भीउनकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता का परिचायक है। सम्भवत: इसीलिए इन्हें कुछ विद्वानों ने मुक्त श्रमिक [155] कुशल कारीगर,[156]

किराये के श्रमिक अथवा वेतन भोगी श्रमिक [157] सिद्ध किया है। कतिपय विद्वान[158] इन्हें अन्तेवासियों से भी समीकृत करने का प्रयास करते हैं। लेकिन कुछ इतिहासकार [159] इन्हें दासों की कोटि में ऊपर नहीं रखते। उपर्युक्त विवेचनों से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में सेवि वर्ग में दासों की उपस्थिति के साथ-साथ शूद्र, कर्मकर शिल्पी एवं अन्य किराये के श्रमिक भी शामिल थे। अकेले दासों द्वारा ही यह सेविवर्ग नहीं बना था। इतना अवश्य है कि इन सेवि वर्गों में रखे गये लोगों के कार्य कुछ सीमा तक दासों के कार्यों समानता रखते थे लेकिन कार्यगत समानता के सीमित सन्दर्भों को उनकी विशिष्ट पहिचान के साथ संबद्ध कर देना अनुचित होगा। शूद्रों एवं दासों को मोटे तौर पर एक दूसरे का पर्याय मानने वाली धारणा के पक्ष में अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि शूद्रों को सेवा कार्य में लगाने की परम्परा भारत में अति प्राचीन थी। इसलिए सेवा कार्य में लगे हुए दास भी अधिकांशतः शूद्र वर्ण होआते रहे होंगें। लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि इस तरह के धर्मशास्त्रीय विधान पूर्णतया अदृष्टार्थक है और अदृष्टार्थक दृष्टि से सत्य होने पर भी इन विद्वानों द्वारा स्थापित की गई शूद्र-दास समानता वास्तविक अथवा यथार्थिक नहीं हो जाती। इतिहास अतीत के यथार्थ का वाहक होता है न कि अदृष्टार्थक मूल्यों का जिनमें अनुप्राणित सिद्धान्त प्रत्येक समाज में अधिकांशतः अवहेलना के शिकार होते हैं।

दास वर्ग की अवधारणा -

दासता से मुक्ति का विधान करते हुए दासों को सैद्धान्तिक रूप से मुक्ति प्रदान करने के कतिपय उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दिखायी पड़ते हैं ।[160] इन उल्लेखों को दासता के कमजोर पड़ने एवं कालान्तर में दासमुक्ति के परिणामस्वरूप उसका स्थान अर्द्धदासों अथवा कृषिदासों द्वारा ले लेने की बातें भारतीय समाजार्थिक संरचना के परिप्रेक्ष्य में की जाती हैं ।[161] पूर्वकालीन भारतीय दासता के सन्दर्भ में कुछ विद्वानों द्वारा यह अवधारणा प्रस्तुत की जाती है कि यह समाज एक दासतामूलक समाज था और दास श्रम पर आधारित इस समाज को इन लोगों ने दो वर्गों में विभक्त किया। एक वर्ग दास स्वामियों का बना और दूसरा दासों का वर्ग बना ।[162] इनकी दृष्टि में व्यक्तिगत उत्पादन और नियंत्रण के द्वारा सम्पत्ति की विषमता उत्पन्न होती है। इसका अर्थ यह है कि साम्य संघ दो वर्गों को जन्म देता है जिसमे एक शोषक और दूसरा शोषित वर्ग होता है जो शीघ्र ही दो वर्गों में बदल जाते है . -स्वामी एवं दासवर्ग ।[163] धीरे-धीरे इनमें वर्ग चेतना का अभ्युदय होता है और श्रम विभाजन तथा विनिमय के कारण जैसे-जैसे निजी सम्पत्ति के एकत्रीकरण द्वारा शोषक और शोषित वर्गों का विरोध पैदा होता जाता है वैसे-वैसे विस्फोट की अवस्था परिपक्व होती जाती है ।[164]

ऐसे इतिहासकारों की नजर में पूर्वकाल में अर्थशास्त्र के काल तक आते-आते ऐसी स्थिति आ गयी की राजनीतिक तथा आर्थिक अभिजन वर्ग बुनियादी उत्पादन के लिए मुख्यतः कृषि उत्पादन के लिए दासों के श्रम पर निर्भर हो गया। अर्थशास्त्र से दासों की सामान्य स्थिति और सम्पत्ति के उनके अधिकारों में कुछ सुधार का पता चलता है। संभव है दासों की स्थिति में सुधार एक हद तक मौर्यकाल के राजनीतिक एकीकरण, प्रशासनिक एकरूपता और समाज व्यवस्था में स्थिरता आने से होने वाले आर्थिक और सामाजिक विकास तथा इसके फलस्वरूप भूमि और श्रम के रूप मे अधिक संसाधनो की उपलब्धता का परिणाम रहा हो। अर्थशास्त्र के काल से थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ दासता में उत्तरोत्तर सुधार की बात ऐसे इतिहासकार स्वीकार करते हैं जिससे अर्थव्यवस्था का उत्तरोत्तर विस्तार होता जा रहा था।[165] जिसकी विशेषताएं थी - भूमि संसाधनो की मुक्त उपलब्धता, उत्पादन के साधनों का विकास, पारिवारिक विभाजन के कारण जमीन का बंटवारा तथा नियम विधानों और रीति रिवाजों से उच्चतर वर्णों को सेवा करने को बाध्य एक बहुत बड़े शूद्र श्रमिक वर्ग का उदय। ऐसी विशेषताओं में दास प्रथा, जिसमें पराधीनता की पराकाष्ठा थी अनावश्यक होती जा रही थी।[166] ऐसे विवेचनों से यह आभासित होता है कि दास श्रम के स्थान पर शूद्र श्रम की सत्ता को स्वीकार करते हुए दास वर्ग के अभ्युदय की बात ऐसे इतिहासकार करते हुए दिखाई पड़ते हैं और यह मान्यता स्थापित

करने का प्रयास करते हैं कि दास वर्ग के अभ्युदय के कारण दासों ने विद्रोह कर दिया होगा और मालिकों को मजबूरन दासों को मुक्त करना पड़ा होगा।[167] महाभारत के शान्तिपर्व के एक श्लोक का हवाला देते हुए इन इतिहासकारों ने यह मत व्यक्त किया कि इसमें दास विद्रोह की सूचना मिलती है।[168] इसी प्रकार कात्यायन को उद्धृत करते हुए 'वर्गिन'[169] शब्द को दासों का वर्ग बताते हुए उसके मुखिया की भी बात को अभिपुष्ट कर दिया गया। इस प्रकार ऐसे इतिहासकारों की दृष्टि में दास वर्ग का अभ्युदय नारद के काल से होता है। वस्तुतः कात्यायन ने दासों के विवरण के साथ "वर्गिण" शब्द का जो प्रयोग किया है वह किसी पंचायती मुखिया अथवा सरपंच या राजनीतिक नेता अथवा अधिकारी का बोध नहीं कराता।[170] इस उल्लेख विशेष में दासों को चारण, मल्ल, हस्ति, अश्व तथा आयुधजीवियों के साथ चित्रित किया गया है। ये सभी नायक वर्ग सैनिक कार्यों से जुड़े हुए किसी समूह का ही प्रमाण देते हैं। वैसे भी युद्ध क्षेत्र में राजा की सेना के साथ दासों, चारणों, मल्लों, आदि के जाने के बहुतायत प्रमाणों की परम्परा पहले से ही चली आ रही थी। इससे केवल यही अर्थ निकाला जा सकता है कि दासों को उस समय युद्ध कार्यों से भी जोड़ा गया था और उनका नायक जिसे 'वर्गिन्' कहा गया है किसी स्वशासित दास समूह का नायक न होकर सैन्य समूह का सम्भवतः सेनापति द्वारा नियुक्त किया गया नायक रहा होगा। सेना के अंग के रूप में ऐसे दास समूहों और उनके नायकों के विद्रोह के स्रोत होने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता।

इस सम्बन्ध में कतिपय ऐसे साक्ष्य हैं जो दास वर्ग के संगठन द्वारा दासता में ह्रास की उपर्युक्त अवधारणा पर और भी प्रश्न चिन्ह लगा देते हैं। यों तो दास वर्ग की चर्चाएं बहुत पहले से ही मिलती है। दासों की चर्चा के साथ "वर्ग" शब्द का जुड़ जाना किसी वर्ग चेतना का विकास नहीं माना जाना चाहिए क्योंकि यदि ऐसा होता तो जिस समाज एवं अर्थ व्यवस्था विशेष को दासों पर आधारित अर्थ-व्यवस्था बतायी जाती है उस युग में भी दासों के वैसे ही वर्ग देखने को मिल जाते हैं। चाहे कौटिल्य[171] हो अथवा मनु[172] दोनों ने ही 'दास वर्ग' शब्द का प्रयोग किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि दास वर्ग का साथ-साथ प्रयोग दासों के समूह का तो द्योतक है लेकिन उनकी किसी स्वायत्ततामूलक सांगणनिक भूमिका को यह उजागर नहीं करता। वर्ग समूह के अर्थ में तो लिया जा सकता है लेकिन सामाजिक वर्ग के रूप में सर्वथा इसका अभाव ही मानना चाहिए। इसे कतिपय अन्य प्रयोगों के माध्यम से और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। मोनियर विलियम[173] ने दास वर्ग का अर्थ दासों अथवा नौकरों का समूह बताया है। याज्ञवल्क्य[174] पर भाष्य करते हुए विकमनेश्वरने दास वर्ग का प्रयोग दासों के समूह के रूप में ही किया है। इसी तरह विष्णु स्मृति[175] में दास वर्ग की चर्चा दासों के समूह के रूप में मिलती है। शुक्रनीति[176] दास-दासी तथा भृत्य वर्ग की चर्चा एक साथ करती है। यही नहीं, वर्ग शब्द के कतिपय फुटकर प्रयोग दासों के सन्दर्भ में अप्रत्यक्ष रूप से उक्त

समस्या को सुलझाने में हमारी मदद करते हैं ।[177] लेखपद्धति में दासी पत्र विधान में पितृवर्ग, श्वसुर वर्ग, बन्धु वर्ग आदि की चर्चा की गयी है ।[178] यहाँ पर भी किसी उक्त संघ की बात नहीं मिलती । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि दासों के साथ वर्ग शब्द का प्रयोग मात्र उनके कार्यगत था ऐसे ही किसी अन्य आधार पर किये गये वर्गीकरण न कि उनकी स्वायत्त शासी संस्थाओं की उदय का । क्योंकि दास वर्ग के इतने सारे प्रयोगों में कहीं भी न तो उनके किसी ऐसे संघ का संकेत मिलता है जिसमें उन्हें किसी सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक अधिकार के लिए संघर्ष अथवा विद्रोह करते हुए दिखाया गया हो और न ही उनमें किसी ऐसी वर्ग चेतना का ही संचार दिखायी पड़ता है जिससे कि कभी वे विद्रोह की स्थिति में पहुँच पाये हों । उपर्युक्त स्थलों पर जहाँ भी इनकी वर्ग के रूप में चर्चा की गई है उसका आशय केवल एक 'झुण्ड' के रूप में ही दिखायी पड़ता है । ऐसे दास वर्ग कोउच्छिष्ट भोजन देने के प्रसंग इस संबंध में और भी महत्वपूर्ण है । पूर्वकाल के स्मृतिकार मनु तो भला दासों को उच्छिष्ट भोजन देने का थोड़ा निषेध भी करते है[179] लेकिन पूर्वमध्यकाल का कोई भी स्मृतिकार इस प्रकार का निषेध करता हुआ नहीं दिखाई पड़ता और अधिकाँश उन्हें उच्छिष्ट भोजन देने की ही संस्तुति करते हैं । इससे दासों के आत्मसम्मान में और अधिक गिरावट के ही साक्ष्य मिलते है, उनके बीच स्वायत्तता पूर्ण संघीय संगठनों के उदय के फलस्वरूप उनके आत्म सम्मान की वृद्धि के नहीं । यदि दासों के इस "वर्ग" का अर्थ

किसी दास संघ से होता तो वे कम से कम मालिक का उच्छिष्ट भोजन अथवा श्राद्ध का उच्छिष्ट भोजन तो कदापि न ग्रहण करते बल्कि उलटे विद्रोह का बिगुल अवश्य बजा देते लेकिन ऐसा कुछ इस सन्दर्भ में दिखायी नहीं पड़ता। इसलिए यह कहना उचित नहीं प्रतीत होता कि दासों का कोई ऐसा सामाजिक वर्ग था जिसका शोषण करके ही मौर्यकालीन अर्थव्यवस्था का ढाँचा खड़ा किया गया था लेकिन उसी दास वर्ग में वर्ग चेतना के विकास तथा दास मुक्ति के प्रावधानों के कारण दासता का पूर्वमध्यकालीन स्वरूप ह्रासोन्मुखी हो गया।[180] वस्तुतः दासों का कोई ऐसा वर्ग न तो पूर्वकालीन भारतीय समाज में दिखायी देता है और न ही पूर्वमध्यकालीन समाजार्थिक संरचना ऐसे किसी संघ से परिचित थी अन्यथा दासों की इतनी सारी दयनीय अवस्थाएं इस युग में देखने को न मिलती बल्कि जिस दास साम्राज्य की नींव सल्तनत काल में तुर्की गुलामों ने डाली, उस प्रयोग को भारतीय दास बहुत पहले ही कर गुजरते।

दासता मूलक अर्थव्यवस्था का प्रश्न

उत्पादन प्रक्रिया में वर्ण व्यवस्था की सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक भूमिकाओं को देखने से यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि प्राचीन युग की भारतीय अर्थव्यवस्था किसी वर्ण विशेष की सीमा में कैद नहीं थी। सैद्धान्तिक व्यवस्थाएं भले ही बार-बार प्रत्येक व्यक्ति को वर्णगत समाज की परम्परागत योजना से परिचित कराने एवं उसके सम्यक् अनुपालन पर जोर देने का उपक्रम करती रही हों लेकिन यथार्थ जीवन में उसकी अवहेलना ही मिलती है। सम्भवतः यही कारण है कि मनु जैसे अतिवादी विचारकों के लिए भी यह मुश्किल हो गया था कि वे वर्णों को उस सैद्धान्तिक योजना की राह पर तत्कालीन समाज को निरपवाद रूप से चला पाते। अतएव उन्होंने अपंक्ति पावन ब्राह्म्मणों की सूची देकर यदि ब्राह्म्मणों के लिए सभी प्रकार के कर्मों को अपनाने का द्वार बन्द नहीं किया तो उन्हें शूद्रों एवं दासों को क्रमशः ब्राह्म्मणोचित कर्मों एवं पारिवारिक हैसियत में सम्मानित स्थान देन के लिए भी विवश होना पड़ा। सेवि वर्ग के उपर्युक्त सूक्ष्म विवेचन से यह बात उभरकर आयी कि पूर्वकाल में सेवि वर्ग का निर्माण केवल शूद्र अथवा शूद्र दासों से ही नहीं होता था अपितु उसमें सभी वर्णों की भागीदारी हुआ करती थी। ब्राह्म्मणों से लेकर शूद्रों तक प्रत्येक वर्ण के लोग किसी व्यावसायिक सीमा में न बंधकर यथार्थ जीवन में सभी व्यवसायों में प्रविष्ट होते रहे और अधिकांशतया ये व्यवस्थाएं अपराध

एवं दण्ड की सीमा से मुक्त भी हो गयीं। ब्राह्मण यदि प्रधानतया वेदाध्ययन, दान प्रतिग्रह आदि को अपनाए हुए था तो वह कृषक एवं चाण्डाल की कोटि में भी खड़ा दिखायी पड़ता है। इसी प्रकार यदि शूद्र मुक्त होने के बाद भी दासता से मुक्त नहीं दिखाया गया तो वही शूद्र वर्ग वेदज्ञ एवं शिक्षक के रूप में भी खड़ा दिखाई देता है। यही हालत दासों के सम्बन्ध में भी देखी जा सकती है। यदि एक ओर दास पराधीनता की पराकाष्ठा के सारे लक्षणों को स्वयं में समेटे हुए था तो दूसरी ओर वह गवाही जैसे महत्वपूर्ण कृत्य (जिससे किसी को फांसी हो सकती थी और किसी को जीवनदान मिल सकता था) को भी सम्पन्न करता हुआ तो दिखायी ही पड़ता है साथ ही साथ वह दण्ड प्रकृतियों, कर्मकरों एवं प्रेष्यों की तरह स्वतन्त्रता की सुखानुभूति भी करता था। उसे वेतन से लेकर भरण पोषण तक की सुविधाएं भी उपलब्ध हो जाया करती थी और दासमुक्ति के प्रावधानों के फलस्वरूप दास जीवन से छुटकारा मिल सकता था। इसलिए एक मात्र दासों को शोषितों की कोटि में रखना आलोच्य सन्दर्भ में उचित नहीं है। इस प्रकार पूर्वकालीन समाज का सेवि वर्ग न तो पूर्णतया दासों एवं शूद्रों पर निर्भर था और न दास पूर्णतया रोम एव यूनान के दासों की भाँति ही यहाँ पर दिखाई पड़ते है। शायद तभी मेगस्थनीज[81] को भारत में दासों के अस्तित्व का बोध नहीं हो सका। इस प्रकार पूर्वकालीन उत्पादन पद्धति की भारतीय अवधारणा में अर्थव्यवस्था का भार अकेले किसी एक वर्ग पर

नही था । इसमें प्रायः सभी को भागीदारी दिखायी पड़ती है । सेवि वर्ग, जो उत्पादन प्रक्रिया का प्रमुख संयोजक तत्व होता है, अपने पूर्वकालीन भारतीय स्वरूप में प्रत्येक वर्ण के जरूरतमन्द लोगों से मिलकर बना हुआ दिखाई पड़ता है जिसमें अपनी -अपनी परिस्थिति जन्य विवशताओं के कारण लोग स्वयमेव पड़ जाते रहे होंगे । इसलिए यह धारणा कि पूर्वकालीन भारतीय उत्पादन व्यवस्था जिस सेवि वर्ग द्वारा संयोजित थी वह केवल एक ही वर्ण अथवा किसी विशिष्ट समुदाय से ही संयुक्त थी, उचित नही प्रतीत होती । यह सही है कि दासों एवं शूद्रों का वर्ग भी इसका संयोजक तत्व रहा होगा लेकिन सेवि वर्ग के सभी लोग शूद्र वर्ण के ही रहे हों, यह आवश्यक नहीं है ।

सेवि वर्ग के स्वरूप एवं उसके पूर्वकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था से सम्बन्ध निर्धारण से जो तस्वीर उभरी, उसके बाद एक दूसरा प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि जब सेवि वर्ग,जो उत्पादन व्यवस्था को रीढ़ होता है, केवल शूद्र वर्ण द्वारा ही निर्मित नहीं था तो शूद्र सेवि वर्ग पर आधारित निष्कर्षों की सार्थकता किस सीमा तक तर्क संगत होगी । पूर्वकालीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था पर प्रकाश डालने वाले कतिपय इतिहासकारों की यह मान्यता है कि मौर्यकालीन राजकीय नियन्त्रण के युग में दासवर्ग का मूल उद्गम स्रोत शूद्र वर्ण था और यह शूद्रवर्ण पराधीनता की अवस्था में अशक्त बनकर राज्य द्वारा किये जाने वाले शोषण को बर्दाश्त करता था ।[182]

एक तरफ राज्य द्वारा इनका शोषण होता था और दूसरी तरफ धर्म-शास्त्रीय विधानों के साथ-साथ अर्थशास्त्र ने भी शूद्रों को द्विजों की शुश्रूषा से पृथक नहीं रखा और उन्हें अपनी जीविका के लिए पूर्णतया उच्च वर्ण के मालिकों पर निर्भर रहना पड़ता था।[183] यही नहीं, ऐसे विद्वानों ने शूद्रों को कृषि का अधिकार देने की बात का भी समर्थन किया लेकिन उसे दूसरे रूप में परिभाषित करते हुए यह मत व्यक्त किया कि इस काल में शूद्र जमीन के साथ बंधा हुआ था जो मूलरूप में उच्चवर्णों का दास था ।[184] दूसरे शब्दों में दासों को कृषि कार्य में राज्य की ओर से नियोजित करने की बात को पुष्ट करके उनके श्रम से उपार्जित आय से राजकीय कोश में वृद्धि को पूर्वकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था का प्रधान कारक बता दिया गया । इन्हीं विवेचनाओं के सहारे इन इतिहासकारों ने पूर्वकालीन भारतीय समाज को दासता मूलक समाज घोषित किया और उस पर आधारित अर्थव्यवस्था को दासतामूलक अर्थव्यवस्था बताया । इनकी दृष्टि में मौर्यकालीन अर्थ व्यवस्था के सभी क्षेत्रों पर राज्य का बहुत बड़ा नियंत्रण था ।[185] राज्य व्यापार, उद्योग और खानों पर नियंत्रण तो करता ही था, राजकीय प्रक्षेत्रों के अध्यक्ष दासों और कर्मकरों से काम कराने के साथ ही इस कार्य के लिए लोहारों, बढ़इयों और मिट्टी खोदने वालों से भी काम लेता था । इस प्रकार मौर्य साम्राज्य दासों, कर्मकरों, शिल्पियों और आदिवासियों का, जो कि स्पष्टतया शूद्र वर्ग के थे, बहुत बड़ा नियोजक था । इस दृष्टि

से इस काल का कृषि उत्पादन संगठन ग्रीस और रोम के संगठन से कुछ हद तक मिलता-जुलता था।[186] दासता मूलक समाजार्थिक परिवेश को भारत में प्रतिष्ठित करने के लिए प्रायः ऐसे-ऐसे अर्थशास्त्र के अंशों को उद्धृत किया गया जोकि उन सन्दर्भों से संगत नहीं हैं जिनमें उनका उपयोग सन्दर्भों को नजरंदाज कर दिया गया जो उनकी वैचारिक योजना के पूर्व निःसृत निष्कर्ष से मेल नहीं खाते थे।

ऐसे कुछ उदाहरणों पर विचार करना आवश्यक है जो प्रमाणित करते हुये प्रतीत होते हैं। कौटिल्य ने लिखा दासतामूलक अर्थव्यवस्था की बात को, उनकी दृष्टि में, है कि राज्य को चाहिए कि नई बस्तियों में भूमि को कृषि योग्य बनाकर करदाताओं को जीवन भर के लिए दे दें। कर की अदायगी की पूर्ण जिम्मेदारी उनकी होती थी। राज्य को उनसे अधिक से अधिक मात्रा में कर वसूल करने का प्रयत्न करना चाहिए लेकिन यह अधिकार केवल उसी सीमा तक उन्हें दिया गया कि वे कृषकों की मर्जी के बगैर ऐसा नहीं करेंगे।[187] यदि वे भविष्य में कर अदायगी करना बिल्कुल बन्द कर दें तो राज्य उनसे तत्काल जमीन वापस ले ले।[188] यहाँ पर यह उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा कि कौटिल्य ने ऐसी नई बस्तियों में शूद्रों को बसाने की प्राथमिकता पर बल दिया है। कौटिल्य के इन विवरणों से दो-तीन बातें निकलती है। एक तो यह कि नई बस्तियाँ प्रधानतया शूद्र बस्तियाँ हुआ करती थी।[189] दूसरे, शूद्र कृषि कार्य करते थे, और राज्य द्वारा आरोपित भारी का वहन करने की प्रायः उनमें समस्त क्षमताएं होती थी।[190] तीसरे

यह कि कर न देने पर उनसे जमीन वापस ले ली जाय। स्पष्ट है कि इस पूरे प्रसंग में ऐसा कहीं भी नहीं लगता कि शूद्र राज्य के दास थे। लेकिन कतिपय अत्यन्त सजग इतिहासकारों ने यह मत व्यक्त किया कि दासों से जमीन उसी दिशा में वापस ली जाती थी जब उनको दण्ड दासता से मुक्ति मिल जाती थी।[191] इसी विवरण को कुछ इतिहासकार अपने ढंग से व्याख्यायित करते हुए यह मत व्यक्त करते हैं कि नई बस्तियों के शूद्र किसान बेगारी से मुक्त नहीं थे।[192] कौटिल्य के उक्त विवरण में इन्हें बेगार प्रथा का अस्तित्व दिखायी पड़ता है।

ऐसे ही अर्थशास्त्र के कुछ और विवरण है जो खींच-तान करके शूद्रों को दास वर्ग के पर्याय के रूप में सिद्ध करने में सहायक हो गये। एक स्थल पर कौटिल्य "गोप" नामक अधिकारी को करदाताओं की सूची बनाने का आदेश देता है। इ उसे यह निर्देश दिया जाता था कि वह प्रत्येक गाव के निवासियों की कुल संख्या और समाज में उत्पादन कार्य करने वाले विभिन्न वर्ग, जिनकी संख्या आधा दर्जन थी, के लोगों अर्थात् कर्षक (किसान), गोरक्षक (चरवाहा या पशुधन रखने वाला), वैदेहक (व्यापारी), कारूक (शिल्पी), कर्मकर और दासों की कुल संख्या लिखकर रखे।[193] इस सूची के आधार पर यह सम्भावना व्यक्त की गई कि इसमें प्रथम तीन तो वैश्य वर्ण के हैं और शेष तीन (कारूक, कर्मकर और दास) शूद्र वर्ण के है[194] अर्थात् इनकी दृष्टि में शूद्रों के अलावा न तो किसी अन्य वर्ण का व्यक्ति कर्मकर या कारूक हो सकता है और न दास ही।

जबकि भारतीय सामाजिक संरचना के यथार्थ जगत में इसका निषेध ही नही बल्कि इसकी बहुलता भी दिखायी पड़ती है, जिसका स्पष्ट प्रमाण अकृष्टार्थक विधानों के उद्देश्य से बनायी गई धर्मशास्त्रीय मान्यताओं में बार-बार उत्पन्न होने वाली उन शंकाओं से देखा जा सकता है जहाँ, इसी डर से कि कहीं उच्च वर्णों की सैद्धान्तिक उच्चता इस वास्तविक यथार्थ से डगमगा न जाय, उच्च वर्णों के लिए अनेक ऐसे निषेधात्मक दण्ड एवं प्रायश्चित विधानों की चर्चा की गई है। मनु इसका सबसे अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करते है[195] जब वे पंक्ति पावन ब्राह्मणों की योग्यताए निर्धारित करते हुए अपंक्तिपावन ब्राह्मणोंको श्राद्ध के अयोग्य ठहराते है।[196] निश्चित रूप से मनु के पंक्तिपावन ब्राह्मणों की वह विशिष्ट योग्यता[197] सिर्फ मुट्ठी भर स्नातकों तक ही सीमित रही होगी। शेष ब्राह्मण समाज तो कृषि से लेकर मुर्दा ढोने तक के समस्त कार्य करता रहा होगा तभी तो उसे हेय दृष्टि से, इन विचारकों द्वारा देखा गया।[198] निश्चित रूप से पूर्वकालीन भारतीय समाज में मिलने वाले दासों के वर्ग में वर्णगत ढांचे की कोई ऐसी प्रतिबद्धता नहीं थी। जैसी कि इन इतिहासकारों को दिखाई पड़ती है।

इन कतिपय उदाहरणों से यह विदित होता है कि पूर्वकालीन समाजार्थिक संरचना के सम्बन्ध में कुछ इतिहासकारों का समुदाय अपनी कतिपय वैचारिक प्रतिबद्धताओं के कारण इस समाज को दासतामूलक समाज एवं उस पर आधारित अर्थव्यवस्था वाला युग घोषित करता है जबकि उपर्युक्त

सूक्ष्मावलोकनों से ऐसा प्रतीत नहीं होता । वस्तुतः भारतीय इतिहास में योरोपीय सामन्तवाद की प्रवृत्तियों को ढूढने के प्रयासों ने ही यह सारा जाल बुना है। भारतीय समाज की इस पूर्वकालीन अवस्था में योरोप की तरह दासतामूलक समाज की झलक मिलनी चाहिए, ऐसी पूर्व निश्चित अवधारणाओं को पहले से ही मानकर भारतीय इतिहास-लेखन का जो प्रयास किया गया उसमें दास के बड़े-बड़े भूखण्डों से बांधना एक ऐसी विवशता थी जिसके बिना दास श्रम पर आधारित उत्पादन व्यवस्था की चर्चा ही नहीं की जा सकती । परन्तु भारतीय परिवेश का यथार्थ इसका निषेध ही प्रस्तुत करता है, समर्थन नहीं ।

चूँकि भारत में दासता को उत्पादन व्यवस्था का मूलाधार मानने वाले इतिहासकारों ने पाश्चात्य विश्व के दास-समाजों की तर्ज पर भारतीय दासता का स्वरूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया है और उपर्युक्त विवेचनाएं इसे अस्वीकृत करती हुयी प्रतीत होती हैं इसलिए प्रस्तुत सन्दर्भ में यह आवश्यक है कि कम से कम उस पाश्चात्य दास अर्थव्यवस्था के प्रमुख कारकों को भी स्पष्ट करते हुए तथा कथित भारतीय दास अर्थव्यवस्था से उसकी तुलना करके देख लिया जाय जिससे भारतीय अर्थव्यवस्था में दासों की भूमिका का सही आकलन किया जा सके ।

दासता मूलक अर्थव्यवस्था की विश्वस्तरीय सामान्य अवधारणा-

दासतामूलक अर्थव्यवस्था की विश्वस्तरीय सामान्य अवधारणाओं

पर अनेकानेक कार्य हुए हैं। बैरी हिन्डेस,[199] पेरी एण्डरसन,[200] ओमप्रकाश[201] जैसे अनेकों इतिहासकारों ने मार्क्स द्वारा प्रस्तुत उत्पादन पद्धति पर विचार करते हुए उसे विश्व व्यापीन परिप्रेक्ष्य में ढूढने का प्रयास किया है। उनके इस प्रयास में वर्ग संघर्ष एवं ऐतिहासिक भौतिक प्रगति का जो स्वरूप अनुपस्थित हुआ उसमें दासों की भूमिका यूनानी जगत में बखूबी दिखायी पड़ी। इन्हीं उत्पादक शक्तियों एवं उत्पादन सम्बन्धों के माध्यम से ही सामन्तवाद की अवधारणा अभिव्यक्त होती है। विश्व के रंगमंच पर इस सामन्तवाद की सैद्धान्तिक अवधारणा का उदय कार्ल मार्क्स के चिन्तन में उन्नीसवीं शताब्दी ई0 में हुआ था। उसके अनुसार समस्त इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। वर्गों का उदय उत्पादन सम्बन्धों से होता है। अतः ऐतिहासिक काल में उदित होने वाली प्रत्येक उत्पादन प्रक्रिया एक विशेष प्रकार की वर्ग संरचना और उनके संघर्ष को जन्म देती है। योरोपीय इतिहास का अध्ययन करके कार्ल मार्क्स ने दासतामूलक उत्पादन प्रक्रिया पर आधारित यूनानी और रोमन साम्राज्यों को प्राचीन काल के मानव समाजों के रूप में प्रस्तुत किया और रोमन साम्राज्य के पतन से चौदहवीं शताब्दी ई0 तक के पुनर्जागरण काल के योरोपीय समाज को सामन्ती समाज की संज्ञा से अभिहित किया। जिस प्रकार दासता मूलक समाज के अन्तर्विरोधों से अनुप्राणित वर्ग संघर्ष से सामन्ती समाज का उदय हुआ, मार्क्स की दृष्टि में, उसी प्रकार सामन्ती समाज के अन्तर्विरोधों से प्रेरित वर्ग संघर्ष के परिणामस्वरूप योरोप के आधुनिक पूंजीवादी समाज का

अभ्युदय हुआ ।[202] इस प्रकार मार्क्स की विचारधारा एक ऐसी वैज्ञानिक खोज का मार्ग प्रशस्त करती है जिसमें परिणाम तो पूर्व निश्चित होते हैं, सिर्फ प्रक्रियाओं के स्तर पर ही विभेद हो सकता है। बैरी हिन्डेस[203] ने दासतामूलक समाज की निम्नलिखित विशेषताएँ बताई है जिनके बिना किसी भी समाज को इस नाम से संयुक्त नहीं किया जा सकता है -

किसी भी समाज को दासतामूलक समाज घोषित तभी किया जा सकता है जबकि उसमें दासतामूलक उत्पादन की अवधारणाएं विद्यमान हों । दास श्रम पर आधारित उत्पादन व्यवस्था में उत्पादन सम्बन्ध तीन विभिन्न संस्तरों पर समान रूप से दिखायी पड़ना चाहिए ।[204] §1§ सम्पत्ति या भूमि का स्वरूप तथा उसमें उनके उपभोक्ताओं की विधिक स्थिति §2§ उत्पादन का वितरण तथा §3§ अतिरिक्त उत्पादन की स्थिति एवं उसका समायोजन । किसी भी दास आधारित समाज की व्याख्या के लिए इन अवस्थाओं को जानना आवश्यक है । दासतामूलक समाज में दास उत्पादन के आवश्यक साधन होते हैं और उनकी सामाजिक पहचान उनके श्रम के विभेदीकरण से ही होती है जिसे निजी सम्पत्ति के रूप में रखा जाता है । इस व्यवस्था में दास अपने मालिक के प्रति सीधे उत्तरदायी होती है और वह विधिक रूप में उसकी सम्पत्ति होताहै ।[205] चल सम्पत्ति के रूप में उनकी अपने मालिक से अलग कोई सामाजिक हैसियत नहीं होती और वेअपने उदर पोषण के लिए पूर्णतया अपने मालिक की

अनुकम्पा पर ही निर्भर रहते हैं ।[206] इस प्रकार दास-स्वामी का यह दासतामूलक समाज की पारस्परिक सम्बन्ध उसी प्रकार का होता है जैसे कि पूँजीवादी व्यवस्था में मजदूर वर्ग एवं उनके नियोक्ताओं के बीच अथवा श्रमिक एवं राज्य के बीच होता है ।[207] बिना ऐसी स्थिति के दासों के श्रम पर आधारित किसी भी समाज को दासता मूलक समाज नहीं कहा जा सकता । और ये स्थितियाँ वही सम्भव हो सकती है जहाँ पर दासता एक विधिक संस्था के रूप में अस्तित्व में होगी । जब हम उत्पादन शक्तियों, संसाधनों एवं उत्पादन सामग्री के वितरण की ओर जायेंगे तो ऐसी संस्थागत दासता का औचित्य और अधिक स्पष्ट हो जायेगा ।

दास आधारित उत्पादन प्रक्रिया की दूसरी विशिष्टता उसके उत्पादनों का वितरण है ।[208] इस व्यवस्था में दास उपभोग की एक वस्तु की तरह होते हैं । उनका किसी भी रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है । वे घरेलू नौकर पराश्रित श्रमिक अथवा उपभोग की वस्तु के रूप में मालिक के साथ जुड़े होते हैं । उनकी मुक्ति की कोई व्यवस्था इसमें नहीं दिखायी पड़ती । इन दासों को एक वस्तु

के रूप में बाजार में बेचा जा सकता है। ऐसे समाजों में, जहाँ दास श्रम ही उत्पादन का प्रमुख आधार होता है, दास मालिक के साथ उत्पादक श्रमिक के रूप में नही जुड़े होते बल्कि वे एक सम्पत्ति की तरह होते है और मालिक उसे किसी भी रूप में प्रयोग करने के लिए स्वतन्त्र होता है। ये मालिक अपने दासों को कच्चा माल उपलब्ध कराते हैं, उन्हें आवश्यक संसाधन उपलब्ध कराते हैं तथा अपने पूर्ण एकाधिकार हैं उनसे बड़े-बड़े कृषि फार्मों पर कृषि करवाते हैं और खानों में उनसे उत्खनन कार्य करवाते हैं। इस प्रकार मालिक के पूर्ण नियंत्रण में उत्पादित समस्त उत्पादन मालिक का होता है।[209] दास को तो केवल गुजारे भर के लिए ही भोजन मिलता है।

इस प्रकार दासतामूलक अर्थव्यवस्था में प्रत्येक व्यवस्था किसी न किसी उत्पादन से जुड़ी होती है और दास स्वयं उस उत्पादन पर अपना कोई दावा नहीं पेश कर सकता यद्यपि वह पूरा का पूरा उन्हीं के खून-पसीने से सींचा गया होता है। इस प्रकार दासतामूलक अर्थव्यवस्था वह अर्थव्यवस्था होती है जिसमें दासों को उत्पादन व्यवस्था से तो बाँध रखा गया है लेकिन उसके उपभोग से उन्हें पूर्णत: वंचित कर दिया जाता है। दासों को उनके श्रम से उत्पन्न

के उपभोगपरक लाभ से अलग करके उन्हें स्वयं एक वस्तु के रूप में सन्निवेशि करते हुए मालिक की सख्त निगरानी में रखा जाता है ।

दास आधारित उत्पादन प्रक्रिया की तीसरी महत्वपूर्ण विशेषता उसकी अतिरिक्त उत्पादन की विनियोजन पद्धति से जुड़ी हुयी है ।[210] इस प्रक्रिया के अन्तर्गत दास श्रम द्वारा उत्पादित समस्त उत्पाद सीधे मालिक के पास जाताहै। दास मालिक उस उत्पादन पर अपना वैसा ह अधिकार समझता है जैसा कि वह अपने दासों पर । इस प्रकार दास भी अपने श्रम के बदले मालिक द्वारा जीविका निर्वाह हेतु भोजन, वस्त्रादि प्राप्त कर लेता है। लेकिन जीविका निर्वाह के इन ससांधनों पर उसका कोई अधिकार नहीं होता । अतिरिक्त उत्पादन की इस विनियोजन पद्धति के अन्तर्गत दास एक अस्थाई सम्पत्ति के रूप में होता है और जैसे कोई व्यापा एक निश्चित पूंजी लगाकर किसी व्यापार को करते हुए लाभ कमाता है और उस लाभ के बाद वह पुनः उसी पूंजी को अगले व्यापार में लगाकर दुबारा लाभ कमाने की स्थिति में पहुँचता है उसी प्रकार दास श्रम के विनियोजन पद्धति के इस ढांचे में दासों को भी ऐसी ही पूंजी के रूप में इस्तेमाल किया जाता है । इस प्रकार दासतामूलक अर्थव्यवस्था में दासमुक्ति की कोई भी परिकल्पना साकार हो ही नही सकती । यही नही अतिरिक्त उत्पादन की इस अवस्था में दास व्यापार के माध्यम से दासों की बिक्री द्वारा अधिक से अधिक मूल्य प्राप्त करके दासों की अर्थवत्ता को समझ लेने वाले ये दास मालिक उनके शारीरिक श्रम का भरपूर लाभ उठाते हैं ।[211] वे इस कमाई का एक अंश उन दासों के ऊपर खर्च करके उनसे पुनः

अतिरिक्त उत्पादन का उपक्रम करते रहते हैं और उसका भरपूर लाभ उठाते है ।[212] इस प्रकार हिन्डेस[213] को अतिरिक्त उत्पादन एवं आवश्यक उत्पादन में कोई अन्तर भी नहीं दिखाई पड़ता । दासों द्वारा किया गया पुनर्उत्पादन एक प्रकार से उनकी पूर्व उत्पादन की कीमत ही होता है । मार्क्स[214] ने स्वयं इसी अवधारणा को परिपुष्ट किया है जिसके अनुसार पहले दासों को खरीदने में पूंजी सन्निविष्ट की जाती है और फिर उन्हीं दासों द्वारा अधिक उत्पादन प्राप्त करके उस वस्तु को बाजार में बेचा जाता है । इस प्रकार जो पूंजी प्राप्त होती है वह वस्तुतः दासों के श्रम द्वारा उपलब्ध अतिरिक्त उत्पादन ही होता है । अतएव दास इस तरह से एक ऐसी पूंजी की तरह होते हैं जिनमें सदैव अतिरिक्त उत्पादन की संभावना बनी रहती है । यह सम्भावना उनकी मृत्यु के बाद ही समाप्त होती है । दासमालिक के लिए दासों द्वारा अतिरिक्त उत्पादन की स्थिति को एक ब्याज की रकम की तरह बताया गया है । इस प्रकार मार्क्स ने दासों के श्रम की सामर्थ्य को ठीक उसी प्रकार बताया है जैसे कि बैलों की हल खींचने, गाड़ी खींचने आदि की सामर्थ्य ।[215] इस सम्पूर्ण विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अतिरिक्त उत्पादन पद्धति में दास अपने मालिक की सम्पत्ति होता है। इस व्यवस्था में राज्य की भी बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अतिरिक्त उत्पादन प्रक्रिया को इस दास आधारित अर्थव्यवस्था में दास सम्पत्ति, राज्य द्वारा इसकी प्रभावी गारंटी तथा उत्पादन के उपभोग से दासों को

प्रभावी असम्बद्धता इत्यादि का होना अत्यावश्यक है ।[216] तभी ऐसे अतिरिक्त उत्पादन की स्थिति का प्रश्न उत्पन्न होगा ।

दासतामूलक अर्थव्यवस्था के उपर्युक्त बृहत्तर परिप्रेक्ष्य में अब यह देखना होगा कि भारतीय अर्थव्यवस्था के जिस युग को दासतामूलक अर्थव्यवस्था की संज्ञा से अभिहित किया जाता है वह किस सीमा तक दासतामूलक अर्थव्यवस्था की अपेक्षाओं को पूरा करती है । मौर्यकालीन राज्य की संरचना में कृषि एवं अन्य उत्पादनों का अत्यन्त महत्त्व था । कौटिल्य ने अपनी सूझबूझ से राज्य के प्रत्येक भाग को राजकीय नियंत्रण से मुक्त न रखने की चेष्टा की । आलोच्य काल में अधिकांश भूमि पर राज्य का कड़ा नियंत्रण था जिसके लिए सीताध्यक्ष जैसे महत्त्वपूर्ण पदाधिकारी की नियुक्ति की जाती थी ।[217] मौर्यकालीन राजनीतिक प्रक्रिया की एक खास विशेषता यह थी कि वह उत्पादन पर अपना एकाधिकार सदैव कायम रखना चाहती थी[218] इसीलिए उसने हमेशा उन पर सीधी निगरानी रखी । डी० डी० कोसम्बी[219] ने मौर्यकालीन राजकीय नियंत्रण का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है उसके अनुसार कौटिल्य ने उस काल के पौर जानपदों को भी कतई नियंत्रण से मुक्त नहीं रखा । कौटिल्य की सोच थी कि यदि पौर जानपदों को अधिक छूट प्रदान कर दी गयी, जो राज्य और जनता के बीच एक सेतु का कार्य करते थे, तो ये पौर जानपद राज्य के समानान्तर एक दूसरे राज्य का गठन कर सकते हैं और इस प्रकार राज्य के एकाधिकार के भविष्य को ग्रहण लगने की संभावनाएं अत्यधिक प्रबल हो उठेंगी ।[220]

कहने की आवश्यकता नहीं कि संभवतः इसी अन्तर्दृष्टि से कौटिल्य ने तत्कालीन व्यापारियों को शिल्पियों, कारीगरों, कुशीलवों, भिखारियों तथा जादूगरों के साथ-साथ चोर की सूची में डाल दिया और उनसे उसी प्रकार का व्यवहार भी किया।[221] राज्य के प्रत्येक उत्पादन करके मौर्यकालीन राज्य स्वयं में एक सबसे बड़ा व्यापारी तथा निरंकुश शासक बन गया था। इस प्रकार कोसम्बी ने मौर्यकालीन राजकीय नियंत्रण की तुलनाधीन के अधिनायकवादी सामन्तवाद से की है।[222]

मौर्यकाल में निजी स्वामित्व की बात को नकारते हुए कोसम्बी ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि करदाताओं को कौटिल्य ने जमीन को बेंचने या बन्धक रखने का अधिकार नहीं दिया था।[223] केवल उन जमीनों को ही बेचने का अधिकार था जो ब्राह्मणों को पौरोहित्य कर्मों के लिए अनुदान में मिली हुयी थी।[224] यह भूमि के हस्तान्तरण का एक सीमित सन्दर्भ उपस्थित करता है। कौटिल्य ने व्यक्तिगत व्यापारियों को 'कण्टक' के रूप में चित्रित किया है जिन्हें वह प्रजा का शत्रु बताता है।[22 इसी प्रकार जुआखानों,[226] वेश्यालयों[227] एवं मदिरालयों[228] से होने वाली आय पर राज्य के पूर्ण एकाधिकार की बात कौटिल्य करता है। यहाँ तक बूचड़खानों[229] पर भी उसका पूर्ण नियंत्रण होता था। राजा को भी भूमि के हस्तान्तरण का अधिकार अत्यन्त विशिष्ट परिस्थितियों में ही दिया गया है।[230] करदाताओं की सूची, आयव्यय का पूरा विवरण कौटिल्य के प्रशासन की प्रमुख विशेषताएं थी जिनके लिए तरह-तरह के अधिकारियों को

नियुक्ति का प्रावधान था। आर०एस० शर्मा एवं डी०डी० कोसम्बी दोनों ने ही गोप द्वारा करदाताओं की सूची के साथ नागरिकों की सूची बनाने का जिक्र अपने-अपने ग्रन्थों में किया है । जहाँ एक ओर इस सूची के आधार पर शर्मा ने छः वर्गों में से प्रथम तीन वर्गों-कर्षक ,गोरक्षक तथा वैदेहक को वैश्य बताया है वहीं शेष तीन वर्गों-कारूक, कर्मकर तथा दास,को शूद्र वर्ण घोषित किया है।[231] इसी तरह की कतिपय व्यवस्थाएं कोसम्बी द्वारा प्रस्तुत की गई हैं जिसमें कौटिल्य के उस निर्देश का जिक्र किया गया है जहाँ वह यह कहता है कि शूद्रप्रधान नई बस्तियों के कृषकों से अधिकाधिक कर वसूली की जानी चाहिए लेकिन ऐसा करने में कृषकों की मर्जी के खिलाफ कोई वसूली नहीं होनी चाहिए । यदि इस नई बस्ती के कृषक कर देना बिल्कुल बन्द कर दें तो उनसे जमीन वापस लेकर किसी अन्य को बटाई पर दे देनी चाहिए । कौटिल्य की इस व्यवस्था पर कोसम्बी ने यह मत व्यक्त किया कि जिनसे भूमि वापस ले ली जाती थी, वस्तुतः उनसे वह जमीन दण्डदासता से मुक्ति के परिणामस्वरूप वापस ली जाती थी । उनकी दृष्टि में, "जिस भूमि पर लम्बे अर्से से खेती की जाती रही हो, वह यदि खाली हो जाय तो { उस जनपद विशेष का } राज्य भूमि मंत्री { सीताध्यक्ष } किराये के मजदूर तथा दंडित दासों से उसे सीधे अपनी देख-रेख में जोतने की व्यवस्था करता था, दण्डित दास इस प्रकार अपनी सजा अथवा जुर्माने की भरपाई कर देते थे । बड़े पैमाने पर दास मजदूरों का कोई अस्तित्व नहीं था; परन्तु दण्डित दासों को निर्धारित

(दंड) कालावधि के लिए बेचा जा सकता था। अकर्षित भूमि अधबटाई पर भी दी जाती थी – आमतौर पर ऐसे लोगों को, जिनके पास शारीरिक श्रम के अलावा देने को और कुछ न होता था।[232] कोसम्बी के इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कृषि में दासों का नियोजन केवल दण्डदासता के स्तर पर ही सम्भव था। लेकिन उनका यह कहना असमीचीन प्रतीत होता है कि नई बस्ती के सारे किसान जिनसे करअदायगी न हो पाने के कारण भूमि वापस ले ली जाती थी, सभी के सभी दण्डदास थे। वस्तुतः शूद्र प्रधान नई बस्तियों को बसाने की बात कौटिल्य करता है न कि केवल शूद्रों अथवा केवल शूद्र दासों को उसमें बसाने की बात की गई है। इसकी प्रबल सम्भावनाएं हैं कि ऐसी बस्तियों में शूद्रों व दासों के साथ अन्य जरूरतमन्द लोग भी बसते रहे होंगे और वे कृषि कार्य को अपवाद स्वरूप न करते रहे होंगे।

आर०एस० शर्मा ने अपने मानक ऐतिहासिक ग्रन्थ में मौर्यकालीन शूद्र कृषकों को प्रायः दास ही माना है और उन्होंने सभी दासों को शूद्रों की कोटि में खड़ा करके उनके श्रम के राजकीय संदोहन का दृश्य उपस्थित किया है।[233] उनकी दृष्टि में दासों एवं कर्मकरों का वर्ग हमेशा बेगार करने का भागी समझा जाता था।[234] मौर्यकालीन कृषि में दासों को बड़े पैमाने पर नियोजित किया जाता था। शर्मा की दृष्टि में प्राचीन पालि ग्रंथों में तो बड़े-बड़े प्रक्षेत्रों (फार्मों) के केवल तीन उदाहरण मिलते हैं। किन्तु मौर्यकाल में ऐसे अनेक प्रक्षेत्र थे जिनमें दास और भाड़े के मजदूर सीधे सीताध्यक्ष (कृषि अधीक्षक) के अधीन रहकर काम करते थे। इन लोगों को

तथा अन्य शिल्पियों की सेवाएं प्राप्त करता था।[235] शर्मा ने इसकी संपुष्टि स्ट्रैबो मेगस्थनीज तथा एरियन के विवरणों से भी की है।[236] इस प्रकार उनकी दृष्टि में मौर्य साम्राज्य दासों, कर्मकरों, शिल्पियों और आदिवासियों का, जो कि स्पष्टतया शूद्र वर्ग के थे, बहुत बड़ा नियोजक था। इस दृष्टि से इस काल का कृषि उत्पादन संगठन ग्रीस और रोम के संगठन से कुछ हद तक मिलता है। तभी तो उन्होंने पाँचवीं शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक के यूरोपीय समाज को सामन्ती समाज कहकर उसके राजनीतिक तथा प्रशासनिक ढाँचे को भूमिदानों पर आधारित तथा असली आर्थिक ढाँचे को कृषि दासत्व पर आधारित बताया[237] और इसी ढांचे को उन्होंने भारतीय सन्दर्भ में भी आरोपित का प्रयास किया। इसको स्वयं उन्होंने स्वीकार भी किया है।[238]

इस प्रकार यह बिल्कुल साफ दिखाई पड़ता है कि इन भारतीय इतिहासकारों ने मौर्यकालीन राजकीय नियंत्रण एवं दासता के विवरणों के आधार पर दासतामूलक अर्थव्यवस्था के विश्वस्तरीय सामान्य ढाँचे के उस प्रधान लक्षण को ढूंढने का प्रयास किया है जिसमें दासता एक संस्था के रूप में विकसित होकर अतिरिक्त उत्पादन के संसाधन जुटाती है और दास अपने मालिक की सम्पत्ति होता है जिसे जब और जिस रूप में मालिक चाहे, उपभोग कर सकता है। लेकिन यदि इन परिकल्पनाओं की गहन समीक्षा की जाय तो वास्तविक धरातल पर इसका विपर्यय ही दिखायी देता है। मौर्यकालीन समाज में दासों को सम्पत्ति के रूप में

चित्रित करने वाले ऐसे इतिहासकारों ने अर्थशास्त्र के विवरणों के साथ मनमाना दृष्टिकोण अपनाया है। यदि कौटिल्य दासता से मुक्ति की बात करके एक उदार दृष्टिकोण का परिचय देता है तो इन इतिहासज्ञों को वह केवल उच्चवर्गीय दासों के ही सम्बन्ध में लागू होता हुआ नजर आता है। यदि वह उन्हें मासिक वेतन,[239] वार्षिक प्रोत्साहन देने तथा सैनिकों एवं गुप्तचरों[240] के रूप में चित्रित करता है तो इनको उसमें शिल्पियों की विद्यमानता नजर आती है।[241] यदि कौटिल्य ने खानों में राजद्रोहियों को कार्य पर लगा देने की बात उठायी है[242] तो ऐसे चिन्तकों को केवल दासों एवं कारीगरों से ऐसा कराने का विधान ही परिलक्षित होता है।[243] यही नहीं, जब कौटिल्य दास मुक्ति[244] की बात करता है तो इन्हें वह केवल मालिक की इच्छा पर निर्भर[245] दिखाई देता है। शर्मा के शब्दों में,"यह कहना कठिन है कि क्रय मूल्य चुका कर मुक्ति पाने का नियम आर्येत्तर दासों पर उसी रूप में लागू था, जिस रूप में वह आर्य दासों पर था। प्रायः मूल्य चुका देने पर भी शूद्र दासों का मुक्त किया जाना उनके मालिक की इच्छा पर निर्भर था किन्तु कभी-कभी उन लोगों को भी मुक्ति मिल जाती थी।[246] जबकि कोसम्बी को दास मुक्ति की व्यवस्था उनकी दण्ड दासता से मुक्ति के रूप में दिखाई पड़ती है।[247]

कौटिलीय अर्थशास्त्र में प्राप्त होने वाले दासों के व्यापार का निषेध अप्रत्यक्ष रूप से स्थायी दासता के पाश्चात्य आदर्शों के विपरीत जाता है इसलिए उन समाजों की दासता मूलक समाजार्थिक संरचना को

परिकल्पनाएं भारतीय सन्दर्भों में लागू नहीं की जा सकती । जैसा कि दासतामूलक अर्थव्यवस्था के ढांचे में यह दिखाया गया है कि इसमें दासों को एक वस्तु के रूप में बाजार में बेचा जा सकता है और उससे होने वाली आय को पुनर्विनियोजित करके अधिक लाभ कमाया जाता है, ऐसा कोई विवरण अर्थशास्त्र के सन्दर्भ में नहीं मिलता जिससे यह बात प्रमाणित हो सके जबकि अतिरिक्त उत्पादन प्रक्रिया के रूप में दासतामूलक अर्थव्यवस्था का यह एक आवश्यक पहलू होता है । कौटिल्य तो दासों की बिक्री का घोर विरोध करता है।[248] फिर भी कुछ विद्वानों को यह केवल आर्य दासों पर ही लागू होता हुआ दिखाई पड़ता है। इनके मत में कौटिल्य के उदार नियम अधिकांशतया आहितकों और भूतपूर्व आर्य दासों पर लागू थे, जिसकी संख्या निश्चय ही कम रही होगी । एक अन्य स्थल पर इनका मानना है कि कौटिल्य के अनेक नियम जो दासों की मुक्ति के बारे में हैं मात्र दासता की स्थिति में पहुंचा दिए गये आर्यों पर ही लागू होते हैं ।[249] नियम बताता है कि जिसने अपने को बेच लिया हो, उसके बेटे को आर्य(स्वतन्त्र) समझना चाहिए । कोई दास आर्यत्व प्राप्त कर सकता था जिसके लिए कौटिल्य ने कुछ विधान बनाए थे लेकिन शूद्रों के लिए यह प्रश्न ही नहीं उठता । उपर्युक्त उपबन्ध अधिक से अधिक तीन उच्च वर्णों के उन पुत्रों पर लागू हो सकेंगे जो शूद्रमाताओं से उत्पन्न हुए हों ।[250] इस प्रकार कौटिल्य के दासमुक्ति के उन विधानों को, जिनमें म्लेच्छों को बेचने या बंधक बनाने की छूट प्रदान की गई है और शूद्र को आर्यत्व की परिधि से बाहर नहीं रखा गया है,[251] खींच-तान कर

दासतामूलक समाजार्थिक परिवेश को उस पहचान से जोड़ने का प्रयास किया गया है जिसको आवश्यक विशेषता मालिक के साथ उसको सम्बद्धता होती है । वस्तुतः कौटिल्य ने दासमुक्ति के इतने उदार नियम बनाए हैं जिनसे स्थायी दासता को तो बात ही नहीं की जा सकती । कौटिल्य कहता है कि यदि मालिक अपनी दासी से कोई संतान उत्पन्न करता है तो दासी एवं सन्तान दोनों को मुक्ति मिल जायेगी ।[252] यहां तक कि यदि ऐसी कोई दासी अपने भरण पोषण के लिए दासत्व में ही पड़ी रहना चाहती है तो उसके भाई, बहन और माँ को मुक्त कर दिया जायेगा ।[253] समुचित मूल्य प्राप्त कर लेने पर भी यदि कोई दास मुक्त नहीं किया गया तो राज्य उस दास मालिक पर 12 पणों का जुर्माना कर देगा।[254] कौटिल्य ने साफ तौर पर कह दिया है कि यदि किसी दास-दासी को एक बार मुक्त कर दिया गया हो और दुबारा उसे बंधक बनाया जाय अथवा बेंचने का उपक्रम किया जाय तो राज्य की तरफ से उसे दण्डित किया जायेगा ।[255] इस प्रकार यह विवरण अतिरिक्त उत्पादन की पाश्चात्य दासतामूलक अवधारणा से मेल नहीं खाता और न इसे उस अवधारणा के ढांचे में ठूंसा जा सकता है । कुछ इतिहासकारों ने यह मत व्यक्त किया कि कलिंग युद्ध में लगभग 150000 लोग बन्दी बनाए गये थे । " यह तो असम्भाव्य लगता है कि सबके साथ दास बना लिए गये होगें लेकिन इसका कुछ प्रतिशत तो दासों के रूप में विनियोजित किया होगा और अधिकांश को कृषि योग्य बनाई जाने वाली भूमि पर बसने के लिए भेज दिया जाता रहा होगा"।[256]

यह कथन दो दृष्टियों से आधारहीन प्रतीत होता है । एक तो यह कि यदि मौर्यकालीन समाज को उस तथाकथित दासतामूलक अवधारणा पर विश्वास किया जाय, जिसकी परिपुष्टि हेतु कलिंग युद्ध का यह साक्ष्य प्रस्तुत किया गया है, तो यह मानना पड़ेगा कि इन 150000 युद्ध बन्दियों में अधिकांशतः शूद्रलोग ही थे । दूसरे यह कि कौटिल्य तो युद्धबन्दियों कोमुक्त करने का विधान भी प्रस्तुत करता है । जिसकी इस कथन की व्याख्या में पूर्ण अवहेलना कर दी गयी है । युद्धबन्दियों का यदि इस तरह नियोजन मान भी लिया जाय तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि दासों के रूपमें विनियोजित प्रतिशत वर्णक्रम के अनुसार निर्धारित होता रहा होगा क्योंकि युद्धबन्दियों में सभी वर्ण के लोग रहे होगें । यह एक ऐसा कथन है जो उनकी उन पूर्व मान्यताओं से निःसृत प्रतीत होता है जिनके अनुसार भारत में भी बड़े-बड़े कृषि फार्मों पर गुलामों का नियोजन प्रदर्शित करना आवश्यक था ।

उपर्युक्त विश्लेषणों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वकालीन भारतीय समाजार्थिक संरचना किसी भी तरह दासता मूलक अर्थव्यवस्था के विशिष्ट लक्षणों से युक्त नहीं थी । संभवतः इसी विसंगति के पूर्वाभास के कारण कार्लमार्क्स और विटफॉगेल ने भारतीय दासता को एशियाई उत्पादन पद्धति के अन्तर्गत रखा । वस्तुतः दासतामूलक समाज के अन्तर्राष्ट्रीय मानकों की कसौटी पर भारतीय दासता के उपर्युक्त विवरण किसी भी रूप में खरे नहीं उतरते इसलिए शायद इन विचारकों को

ऐसा प्रतीत हुआ हो कि इसे उक्त व्यवस्था का अपवाद मानकर गतिहीन समाजों की कोटि में खड़ा करना चाहिए। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि दासतामूलक समाज की अपेक्षाओं की कसौटी पर खरी न उतरने के कारण प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्था अनिवार्य रूप से मार्क्स की एशियाई उत्पादन पद्धति अथवा विटफोगेल के 'प्रवचालित समाज' की मान्यताओं के अनुरूप अवधारित की जानी चाहिए। यदि हम मार्क्स और विटफोगेल द्वारा प्रस्तुत इन योजनाओं को भारतीय सन्दर्भों में पहले से ही विद्यमान मान लेंगे तो इसके बाद पूर्वकालीन भारतीय दासता के बारे में निकाला गया कोई भी निष्कर्ष पूर्वाग्रह से मुक्त नहीं हो सकता। वैसे भी यदि योरोपीय सामन्तवाद के ढांचे में दासतामूलक अवधारणा के फिट न बैठ पाने के कारण ही उसे मार्क्स की 'एशियाई उत्पादन पद्धति' के सांचे में ढाल दिया जायेगा तो ऐतिहासिक सत्य के विलुप्त होने अथवा दिग्भ्रमित होने की संभावनाएं उसी पूर्व अनुपात में यथावत् बनी रहेंगी। योरोपीय सामन्तवाद और एशियाई उत्पादन पद्धति की अवधारणा ही भारतीय समाजार्थिक संरचना को समझने का एकमात्र उपलब्ध विकल्प नहीं है। वस्तुतः साक्ष्यों पर प्रतिष्ठित ऐतिहासिक यथार्थ को दो विकल्पों के तर्कजाल में अनिवार्यतः फंसाया नहीं जा सकता। इन आक्षेपों एवं दुराग्रहों से बचने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि जब पूर्वकालीन भारतीय दासता दासतामूलक अवधारणा की विश्वप्रसिद्ध सामान्य अवधारणा से मेल नहीं खाती तो उसे दूसरे संभावित विकल्पों की कसौटी पर भी कस कर देखना

चाहिए । अतएव अब हम पूर्वकालीन भारतीय दासता की अवधारणा को सही-सही समझने के लिए पहले मार्क्स एवं विटफोगिल द्वारा प्रस्तुत प्रतिमानों को प्रस्तुत करेंगे और फिर उनसे भारतीय दासता की तुलना करके देखेंगे कि यह दासता किस सीमा तक इन प्रतिमानों के अनुरूप है ।

कार्ल मार्क्स द्वारा प्रस्तुत एशियाई उत्पादन पद्धति पर विस्तार से कार्य करने वाले विद्वानों में बैरी हिन्डेस तथा हैनियल थार्नर[257] का नाम लिया जा सकता है जिन्होंने किसी भी अर्थव्यवस्था को निम्नलिखित विशिष्ट लक्षणों से युक्त[258] मानने पर ही उसे एशियाई उत्पादन पद्धति की कोटि में रखने की बात की है -

1- यह एक ऐसी अवस्था होती है जिसमें केवल राज्य ही अतिरिक्त उत्पादन का उपभोग करता है क्योंकि इस व्यवस्था में कोई ऐसा शोषक वर्ग नहीं होता जो राज्य की अधीनता से मुक्त हो ।

2- इस पद्धति में व्यक्तिगत सम्पत्ति का पूर्ण निषेध मिलता है और सभी भूमि राज्य की सम्पत्ति होती है । अर्थात् व्यक्तिगत भू स्वामित्व के बदले राजकीय स्वामित्व की स्थिति होनी चाहिए ।

3- इसमें उत्पादन का वही रूप प्रधान एवं प्रभावी होता है जो कृषि पर आधारित एक ऐसा उत्पादन हो जिसमें किसी दास को एक अपण्य (NON-COMMODITY) के रूप नियुक्त करके

इस प्रकार एशियाई उत्पादन प्रक्रिया की उपर्युक्त विशिष्टताओं के लिए मार्क्स ने शुल्क/कर व्यवस्था को प्रमुख आधार बनाया क्योंकि दास श्रम को व्यापक पैमाने पर न लगाने के कारण राज्य की समृद्धि के लिए अधिकाधिक कर वसूली ही एक ऐसा माध्यम है जिसके आधार पर मजबूत राज्य का ढाँचा खड़ा किया जा सकता है।[2] मार्क्स ने कर को विभेदी कर अथवा विशिष्ट कर एवं निरपेक्ष अथवा अबाधित कर नामक दो कोटियों में विभक्त किया है। प्रथम प्रकार का कर पूंजीवादी उत्पादन से सम्भव है। यह वहाँ भी सम्भव है जहाँ व्यक्तिगत भूस्वामित्व बिल्कुल ही न विद्यमान हो और व्यक्तिगत भूस्वामित्व की स्थिति में इसका समायोजन भू स्वामी द्वारा होता हो। जब व्यक्तिगत भूस्वामित्व समाप्त हो जाता है तो यह राज्य के पास चला जाता है।[260]

निरपेक्ष कर व्यक्तिगत भू स्वामित्व की प्रथा में सम्भव होता है। इस प्रकार का कर स्वयं में कीमतों पर एकाधिकार कायम करने का तत्त्व संजोये रहता है। इस प्रकार दोनों प्रकार के शुल्कों में अन्तर यह है कि पहला शुल्क कृषि उत्पादों की कीमतों को प्रभावित नहीं करता जबकि दूसरे प्रकार का शुल्क ऐसा करता है। मार्क्स की दृष्टि में भूमि पर एकाधिकार की प्रवृत्ति निरपेक्ष शुल्क की अवस्था को जन्म देती है जो उसके लाभांश पर आधारित होती है। इस प्रकार अतिरिक्त उत्पादन की स्थिति में आगे बगैर उसके उत्पादनों पर आवश्यक करारोपण करके राज्य के एकाधिकार की पुष्टि हो जाती है। इसमें श्रमिकों को उत्पादन के

संसाधनों से अलग नहीं किया जाता ।[261] इस प्रकार मार्क्स की दृष्टि में भारतीय समाजार्थिक सन्दर्भों में यही अवस्था लागू होती हुई प्रतीत होती है ।

कार्ल मार्क्स की अवधारणा है कि उपर्युक्त शुल्क प्रणाली में शोषण का स्तर, शोषकों की संख्या एवं उनकी कार्यप्रणाली राजनीतिक एवं आदर्शात्मक रूप में निर्धारित होती है और ऐसे में शोषण की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती । अतिरिक्त उत्पादन की जो संभावना ऐसे शुल्क/कर वसूली से बनती है उसमें इस अतिरिक्त उत्पादन का उपभोग नियोक्ता चाहे तो राज्य की ओर से विलासिता के कार्यों में कर सकता है और अगर उसकी इच्छा हो तो बड़ी-बड़ी इमारतों, मन्दिरों अथवा दुर्गों के निर्माण में बेगार के रूप में उसका उपभोग कर सकता है। अतएव ऐसे वातावरण में सामाजिक श्रम तथा उत्पादन शक्तियों के बीच कोई सम्बन्ध स्थापित होने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता ।[262] इसीलिए उसने इसे ऐसे गतिहीन समाज की संज्ञा प्रदान की जिसके रंगमंच पर तो हर तरह का नाटक अभिनीत किया जाता रहता है और सामाजिक रिश्तों के अभाव में आन्तरिक हृदय गतिहीन, संवेदनाशून्य मरुस्थल की भाँति स्थायित्व ग्रहण किये हुए होता है । इसीलिए जब मार्क्स को ऐसे वातावरण में किसी वर्ग संरचना का दूर दराज तक कहीं कोई संकेत नहीं मिला तो उसे एक गतिहीन अवस्था निर्दिष्ट करके 'एशियाई उत्पादन प्रक्रिया' का एक अपवादी सिद्धान्त प्रस्तुत कर दिया कि एशिया में चूँकि कोई वर्ग संरचना नहीं हो

सकती इसलिए किसी वर्ग-संघर्ष का सवाल ही नहीं पैदा होता [263] और चूंकि समस्त इतिहास वर्ग-संघर्ष का ही इतिहास होता है इसलिए इस संघर्ष के अभाव के कारण एशियाई देशों का राजनीतिक इतिहास के अतिरिक्त कोई इतिहास-लेखन सम्भव ही नहीं है। यह मानव इतिहास की ऐसी अपवाद युक्त घटना है जिसमें न तो ऐतिहासिक विकास क्रम में दासतामूलक समाज और उसके बाद सामन्ती समाज की अवस्थाएं आयी थीं और न ही उनके भविष्य में आने की संभावनाएं ही दिखाई पड़ती हैं।[264] इस विशिष्ट पहचान के अन्तर्गत वह चीन और भारत को रखता है।[265]

विश्वजनीन उत्पादन पद्धति एवं सामाजिक सम्बन्धों पर विचार करते हुए कार्ल विटफॉगेल ने मार्क्स की उस 'एशियाई उत्पादन पद्धति' को 'पौर्वात्य निरंकुशता' कहते हुए उसे 'द्रवचालित समाज' की संज्ञा से सम्बोधित किया।[266] विटफॉगेल के इस समाजार्थिक संरचना युक्त राज्य में भी वर्ग-संरचना की कोई अवधारणा दूर-दूर तक नजर नहीं आती।[267] विटफॉगेल की मान्यता है कि सामाजिक एवं राजनीतिक सम्बन्धों का निश्चित ढाँचा जटिल कृषि-सिंचाई पद्धति पर राज्य के निरीक्षण एवं नियंत्रण की आवश्यकता का अनुवर्ती होता है। विटफॉगेल ने इस द्रवचालित समाज की निम्नलिखित विशेषताएं बताईं—

1- बड़े पैमाने पर सिंचाई।

2- श्रम का उचित उपयोग एवं उसकी गतिशीलता।

3- सुव्यवस्थित योजना एवं समन्वय।

इन तीन विशिष्ट लक्षणों के बिना कृषि से अधिक उत्पादन सम्भव ही नही हैं और न ही अतिरिक्त उत्पादन । और यह तभी सम्भव है जब कि राज्य का प्रशासन एक केन्द्रीय शक्ति के हाथ में पूर्णतः निहित हो जिसके पास समस्त विधायी शक्तियाँ विद्यमान हो । इस प्रकार विटफोगिल की दृष्टि में कृषि नौकरशाही की पूर्वकल्पना करती हुयी प्रतीत होती है ।[269] इस नौकरशाही में कृषि एवं अन्य उत्पादन कार्यों के लिए बेकार श्रम का होना आवश्यक होता है जिसके माध्यम से आपत्तिकालीन परिस्थितियों एवं बाढ़ जैसी दैवी आपदाओं से निपटने में मदद मिल सकती है । इस तरह विटफोगेल की "द्रवचालित समाज " की संकल्पना एक ऐसी निरंकुश सत्ता को जन्म देती है जिसमें राज्य एक दलीय शासन पद्धति से युक्त अथवा सर्वसत्तात्मक राज्य सत्ता की अन्य समस्त शक्तियों से मजबूत होता है । इस प्रकार राज्य समाज से ऊपर होता है और वह समाज को अपने हिसाब से संचालित करता है जिसके लिए वह परिवर्तनकारी, स्वतन्त्रता अथवा व्यतिक्रम की संभावना युक्त समस्त शक्तियों का समूल नाश कर देता है ।[270] स्पष्ट है कि विटफोगेल की इस अवधारणा में दासों को तो कभी मुक्ति सम्भव ही नही थी । विटफोगेल की इस सर्वसत्तात्मक राजकीय संरचना में धर्म तक राजकीय नियंत्रण से मुक्त नहीं रह सका । [271] ऐसे राज्य की प्रमुख विशेषताओं में उत्पादन के समस्त आवश्यक उपादानों पर राज्य का नियंत्रण, सिंचाई की उत्तम व्यवस्था, राज्य का गुप्तचरी तक के स्तर पर सुसंगठन, विशाल सेना का केन्द्रीय संचालन व केन्द्र के अतिरिक्त अन्य

सैनिक छावनियों का निर्मूल नाश, बेट-बेगार प्रथा, विस्तृत एवं विकसित कर प्रणाली तथा आर्थिक गतिविधियों को संचालित करने वाले राज्य से परे अन्य व्यापारिक केन्द्रों का लोप इत्यादि की गणना विटफोगेल करता है।[272] विटफोगेल की उपर्युक्त अवधारणा को देखते हुए हिन्डेस ने कहा है कि यह सामाजिक संरचना सभी अनाधारित स्वस्थिति युक्त समाज, गैर समान्ती समाज तथा प्राक् पूंजीवादी समाजों को शामिल कर लेती है।

कार्ल मार्क्स की 'एशियाई उत्पादन पद्धति' एवं कार्ल विट-फोगेल की 'द्रवमूलक समाज' की परिकल्पनाओं के उपर्युक्त विवरणों से उभरे हुए पाश्चात्य एवं पौर्वात्य निरंकुशता के विशिष्ट सन्दर्भ में भारतीय दासों को रखकर देखने से यह विदित होता है कि भारत में ये दोनों योजनाएं किसी सीमा तक तो लागू की जा सकती है लेकिन कुछ दूर जाने के पश्चात् ये संकल्पनाएं निर्बल प्रतीत होने लगती है। कार्ल मार्क्स की 'एशियाई उत्पादन पद्धति' पर गहन अध्ययन करने के बाद यह मत व्यक्त किया जाने लगा कि मार्क्स ने भारतीय इतिहास का अध्ययन मूल स्रोतों के आलोक में नहीं किया था। उसने केवल उस समय के इतिहासकारों के उपलब्ध किन्तु त्रुटिपूर्ण निष्कर्षों के आधार पर ही इस सिद्धान्त को प्रतिपादित कर दिया।[273] मार्क्सवाद यदि एक वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति है, मात्र दार्शनिक सिद्धान्त नहीं, तो भारतीय इतिहास के सही निष्कर्षों के आलोक में एशियाई उत्पादन पद्धति का सिद्धान्त भारतीय इतिहास

पर लागू नहीं किया जाना चाहिए।[274] कोसम्बी के अनुसार[275] भारतीय ऐतिहासिक विकास की प्रमुख अवस्थाएं भी मोटे तौर पर यूरोप के ऐतिहासिक विकास की प्रमुख अवस्थाओं जैसी ही थीं, किन्तु सारी की सारी भारतीय संस्थायें योरोपीय संस्थाओं की कोरी नक़ल नहीं थीं। मार्क्स ने अपनी इस योजना में किसी वर्ग संरचना के अस्तित्व से इनकार किया है। भारतीय इतिहास में दासों के वर्ग तो मिलते हैं लेकिन वे किसी स्वायत्त संगठन का आभास नहीं देते,[276] जबकि कतिपय इतिहासकारों[277] को मार्क्स की अवधारणा के विपरीत वर्ग संगठन का बोध होता है। ऐसे इतिहासकार एक ओर तो मार्क्स द्वारा प्रस्तावित उपर्युक्त योजना का भारतीय दासता के सन्दर्भ में विरोध प्रस्तुत करते हैं और दूसरी तरफ उसके वर्ग संघर्ष को ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया का आवश्यक अंग बताकर भारतीय दासों को सेविवर्ग समेत एक वर्ग मान लेते हैं उसमें वर्ग चेतना का विकास दिखाते है और दासों के विशेष सन्दर्भ में पूर्वमध्यकाल वर्ग चेतना के उदय के परिणामस्वरूप उनकी मुक्ति अथवा दासता के ह्रास की बात करते हैं। मार्क्स द्वारा गैर एशियाई संस्कृति के लिए तैयार किए गये ढांचे को अपनाते हुए ये इतिहासकार उसकी उपर्युक्त योजना को अस्वीकार कर देते हैं जिससे कि भारतीय समाज का पूर्वकालीन ढांचा दासता मूलक अर्थव्यवस्था पर आधारित सिद्ध किया जा सके। मौर्यकालीन समाजार्थिक संरचना में सीता भूमि पर दासों के नियोजन के एक स्पष्टीकरण से यह बात बिल्कुल

मान्यताओं से न तो अपने को अलग ही करना चाहते हैं और न उसे पूर्णतया स्वीकार ही करते हैं । शरद पाटिल [278] ने यह प्रश्न समुपस्थित किया कि 'क्या सीता भूमि पर दासों को नियोजित किया जाता था'? उनके अनुसार कोसम्बी यदि इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर दे दे तो उनकी दासतामूलक समाज को स्थानान्तरित करके सामन्ती समाज के अस्तित्व में आने की अभिधारणा (THESIS) जमीन पर गिरकर ध्वस्त हो जायेगी । इसलिए वे इतिहास के अनुशीलन एवं विश्लेषण के बजाय भाषा-वैज्ञानिक आधार को पकड़ते हैं और सीता भूमि की व्याख्या करना प्रारम्भ कर देते हैं ।[279] यदि डॉ० आर० चानना से यही प्रश्न पूछा जाता है तो वे इसका उत्तर सकारात्मक देते हुए यह मत व्यक्त करते है कि मौर्यकालीन समाज में दासता चरमोत्कर्ष पर थी । उसके ह्रास के साथ पूर्वमध्यकालीन भारत में सामन्तवादी समाज की संरचना हुयी ।[280] इस प्रकार इन उदाहरणों से स्वयमेव स्पष्ट है कि न तो कोसम्बी और न चानना, कोई भी, मार्क्स की उपर्युक्त एशियाई उत्पादन पद्धति को भारत में लागू करने के पक्ष में दिखायी देते हैं । आर०एस० शर्मा भी चानना का ही समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं । यहां यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि जब इन इतिहासकारों द्वारा प्रस्तुत मौर्यकालीन समाज को दासतामूलक कारकों द्वारा संयोजित बताने का पूर्णतः खण्डन ऊपर देखा जा चुका है तो 'दासतामूलक समाज' एवं 'एशियाई उत्पादन पद्धति' दोनों ही स्थितियां पूर्वकालीन भारतीय

समाज के लिए निष्प्रभावी प्रतीत होती है । यदि मार्क्स[281] ने दासतामूलक समाज के अस्तित्व से इनकार किया तो कोसम्बी, शर्मा आदि ने एशियाई उत्पादन पद्धति की स्थिति का पूर्ण निषेध प्रस्तुत किया । इस प्रकार ये दोनों योजनाएं जहाँ तक पूर्वकालीन भारतीय सन्दर्भ का प्रश्न है, एक दूसरे को निरस्त करती है । फिर भी दासों के पूर्वकालीन उपलब्ध सन्दर्भों से इस एशियाई उत्पादन पद्धति की तुलना करना आवश्यक है ।

यदि मार्क्स की उपर्युक्त पद्धति का आधार व्यक्तिगत भू-स्वामित्व का न होना तथा राज्य का समस्त भूमि पर स्वाधिकार होना बताया गया है तो अर्थशास्त्र के उल्लेख इसका आंशिक निषेध भी प्रस्तुत करते हैं ।[282] यदि मार्क्स की उपर्युक्त अवधारणा का एक दूसरा पहलू अतिरिक्त उत्पादन एवं उस पर राज्य के एकाधिकार से सम्बन्धित है तो कौटिलीय अर्थशास्त्र में ऐसे अतिरिक्त उत्पादन का कोई प्रमाण नहीं मिलता जो केवल दासों के श्रम से ही सम्भव हो पाया हो ।[283] यदि मार्क्स की उपर्युक्त 'पद्धति' में राज्य ही सबसे बड़ा शोषक वर्ग होता है तो अर्थशास्त्र दासों के सन्दर्भ में इसका निषेध ही नहीं प्रस्तुत करता अपितु दासों के लिए अनेक उदार नियमों तथा उनकी मुक्ति की अनेकों व्यवस्थाएं भी प्रस्तुत करता है उनके प्रति अशोक के अभिलेखों में मिलने वाली सहज सहानुभूति की बातें इसका विपर्यय प्रस्तुत कर देती है ।[284]

यदि मार्क्स की एशियाई उत्पादन पद्धति के अनुसार कृषि के अपरूप उत्पादन उस अर्थव्यवस्था का प्रभावी कारक होता है तो मौर्यकालीन कृषि व्यापार एवं अन्य उत्पादन के क्षेत्रों में ऐसा नहीं दिखायी पड़ता। इसलिए मौर्यकालीन समाजार्थिक सन्दर्भों में मार्क्स द्वारा प्रस्तावित 'एशियाई उत्पादन पद्धति' की योजना लागू नहीं होती। वस्तुतः भारत की यह पूर्वकालीन अवस्था एक ऐसे श्रम पर आधारित अर्थव्यवस्था थी जिसमें समाज के सभी वर्णों की भागीदारी हुआ करती थी जिसमें दासों की भूमिका एक संयोजक तत्व के रूप में तो हो सकती है लेकिन उसके आवश्यक कारक के रूप में नहीं। इस प्रकार मार्क्स की एशियाई उत्पादन पद्धति से परे पूर्वकालीन भारतीय समाजार्थिक संरचना में दासों को अर्थव्यवस्था का प्रधान आधार नहीं माना जा सकता। अतएव दासतामूलक अर्थव्यवस्था की अवधारणा के अन्तर्गत अर्थव्यवस्था के अनिवार्य अंग के रूप में भारतीय दासता को नहीं देखा जा सकता। तथा भारतीय दासता को मार्क्स की उपर्युक्त पद्धति का भी एक आवश्यक अंग नहीं माना जा सकता। उत्पादन प्रक्रिया में भारतीय दासों की भूमिका एक आनुषंगी तत्व के रूप में ही प्राप्त होती है। अकेले दास श्रम पर आधारित राज्य की कोई परिकल्पना न तो भारतीय यथार्थ में ही मिलती है और न ही उसके अदृष्टार्थक अथवा दृष्टार्थक विधानों में ही।

कार्ल विटफागेल द्वारा प्रस्तुत द्रवचालित समाज में भारतीय दासों की भूमिका को भी देखना आवश्यक है। विटफागेल की आधारभूत

मान्यताओं में मिलने वाले लक्षणों का प्रमाण मौर्यकालीन प्रशासन में कुछ सीमा तक मिलता है लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकालना समीचीन नहीं होगा कि मौर्यकालीन सामाजिक संरचना को विटफोगिल की प्रचलित समाज की परिकल्पना के माध्यम से समझा और समझाया जा सकता है। विटफोगिल ने पौर्वात्य निरंकुशता की अपनी अवधारणा को भारतीय इतिहास के विशिष्ट सन्दर्भ में सिद्ध करने की चेष्टा की है। पौर्वात्य निरंकुशता की उसकी यह अवधारणा पाश्चात्य संस्कृति के विकास में पाई जाने वाली निरंकुश व्यवस्थाओं से उसे पृथक करने के लिए बनाई गई है और दोनों में गुणात्मक अन्तर इस प्रकार दिखाया गया है कि पाश्चात्य निरंकुशता के गर्भ से न्यायपूर्ण निरंकुशतारहित व्यवस्थाओं का उदय तो हो सकता है किन्तु पौर्वात्य निरंकुशता से ऐसे किसी परिणाम की आशा नहीं की जा सकती।[285] निरंकुशता के इस प्रकार के गुणात्मक अन्तर की अवधारणा ऐतिहासिक तथ्यों की खींचतान द्वारा चाहे जिस सीमा तक पुष्ट की जाय इसके पीछे पाश्चात्य संस्कृति की उत्कृष्टता की किसी न किसी प्रकार की भावना इसके पीछे से झांकती हुई, प्रतीत होती है। जहाँ तक भारत के विशिष्ट सन्दर्भ में पौर्वात्य निरंकुशता की अवधारणा की उपस्थिति का प्रश्न है उसकी संभावनाएं केवल पूर्वाग्रहग्रस्त मत की मान्यता तक ही सीमित है। प्राचीन भारत में दासों की स्थिति प्राचीन पाश्चात्य सभ्यता दासों की स्थिति से कहीं बेहतर थी। पाश्चात्य सभ्यता के दास निरंकुश तथा गणतन्त्रीय दोनों

हो व्यवस्थाओं में न केवल शोषण के शिकार थे बल्कि स्वतन्त्र मनुष्यों के रूप में उनके अस्तित्व को मान्यता तक नहीं थी । किन्तु तथाकथित पौर्वात्य निरंकुशता वाले भारत में दासों को ऐसे वैधानिक अधिकार भी प्राप्त थे जिन्हे न्यायालयीन न्याय के माध्यम से लागू करवाया जा सकता था ।

विटफागेल ने बेगार प्रथा को ऐसे समाजों का एक आवश्यक अंग बताया है जिसमें अतिरिक्त उत्पादन की स्थिति सम्भव होती है।[286] भारतीय सभ्यता में श्रम के विनियोजन के पूर्वकालीन सन्दर्भों में बेगार प्रथा का संकेत नहीं मिलता । यद्यपि कतिपय इतिहासकारों को अर्थशास्त्र में "विष्टि" के प्रयोग बेगार प्रथा के प्रमाण प्रतीत होते है [287] जबकि अर्थशास्त्र में वर्णित "विष्टि" के सम्बन्ध में इतिहासकारों में काफी मतभेद की स्थिति भी दिखाई पड़ती है ।[288] यह शब्द अर्थशास्त्र के विवरणों में प्रायः राज्य के आय के एक महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में ही आया है।[289] अर्थशास्त्र में यह शब्द राजस्व के रूप में [290] श्रम की विभिन्न कोटियों के रूप में [291] राजकीय उद्योग एवं कृषि क्षेत्र आदि के सम्बन्ध में [292] प्रयुक्त हुआ दिखाया गया है। किन्तु अर्थशास्त्र के एक उल्लेख में कहा गया है कि राजा दण्ड, विष्टि और कर की बाधाओं से प्रताड़ित कृषि की रक्षा करें ।[293] इस उल्लेख का अर्थ है कि दण्ड, विष्टि और कर के अतिरिक्त और अनियमित आरोपण से कृषि के क्षेत्र में जो व्यवधान उत्पन्न होता है राजा उससे कृषि की रक्षा करें ।[294] अर्थात् यह ध्यान

रखें कि दण्ड, विष्टि और कर की सख्त और निर्मम वसूली के कारण सामान्य किसान की खेती में काम-काज ठप न हो जाय। इस उल्लेख में विष्टि भी दण्ड और कर की भाँति राजस्व का एक नियमित प्रकार प्रतीत होती है और उसके सम्बन्ध में बरती जाने वाली या बरती जा सकने वाली समस्त अनियमितताएँ राजा द्वारा रक्षणीय थी। कौटिल्य ने लिखा है कि समाहर्ता को चाहिए कि वह हिरण्य, धान्य, कुप्य और विष्टि आदि का विस्तृत लेखा-जोखा तैयार करे।[295] इससे भी विष्टि की राजस्व के रूप में नियमितता सिद्ध होती है। और अनियमित तथा आकस्मिक बेगार के रूप में इसका निषेध ही मिलता है। कभी-कभी दासों, शूद्रों एवं कर्मकरों से सीमित बेगार भी लिया जाता था लेकिन इससे इस प्रथा को नियमित विष्टि मान लेना उचित न होगा। कौटिल्य द्वारा व्यय शरीर के अन्तर्गत विष्टि का उल्लेख विष्टि पर होने वाले राजकीय व्यय की अभिसूचना देता है और डी०सी० सरकार के इस मत को मजबूती प्रदान करता है कि अर्थशास्त्र में विष्टि पूर्णरूपेण भुगतान रहित नहीं थी।[296] विष्टि के नियमित स्वरूप की उपर्युक्त विवेचना और उसके अनियमित और मनमानी उपयोगों के ऊपर राज्य का अंकुश विटफागेल की पूर्ववर्णित मान्यताओं को पूरी तरह ध्वस्त करता हुआ यदि एक ओर इस योजना के अनौचित्य को सिद्ध करता है तो दूसरी ओर यह भी पुष्ट करता है कि कौटिलीय अर्थशास्त्र में विष्टि का सामान्यअर्थ राजस्व का एक नियमित प्रकार ही था, अनियमित बेगार के रूप में इसका प्रचलन अपवादस्वरूप है।[297] इस प्रकार विटफागेल

को द्रव चालित समाज की संकल्पना में बेगार प्रथा की अनिवार्यता का भारतीय अर्थव्यवस्था में दासों के श्रम को बेगार के रूप में उसके संदोहन का, पूर्ण निषेध प्रस्तुत करते हुए कौटिल्य दासता को अर्थव्यवस्था के एक आनुषंगी तत्व के रूप में ही देखता है। मानव सभ्यता के इतिहास में निरंकुशता वस्तुतः राजनीतिक व्यवस्थाओं के विकास की एक आवश्यक अवस्था है जिसके समाजिक आयाम भी होते हैं। पौर्वात्य एवं पाश्चात्य दोनों ही सभ्यताओं में निरंकुश व्यवस्थाएं पाई जाती हैं और प्रत्येक के सामाजार्थिक आयाम भी पाये जाते हैं। पाश्चात्य निरंकुशता में निरंकुशताविहीन स्वतन्त्र व्यवस्थाओं का उदय इसलिए हो सका क्योंकि निरंकुशता का विकास उस सन्दर्भ में अपना चरमोत्कर्ष प्राप्त कर सका था और उसी निरस्तीकरण की प्रक्रिया में निरंकुशता रहित स्वतन्त्र व्यवस्थाओं काउदय हुआ। भारत के विशिष्ट सन्दर्भ में तथा कथित पौर्वात्य निरंकुशता के ढाँचे में भी चूँकि स्वतन्त्र व्यवस्थाओं के तत्व भी शामिल थे इसलिए उसके क्रान्तिकारी विलोम के रूप में स्वतन्त्र व्यवस्थाओं का उदय न हो सका।

इस सन्दर्भ में जो अवधारणा उभर कर सामने आती है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय समाज का पूर्वकालीन ढाँचा दासों का उत्पादन व्यवस्था में नियोजित करने का प्रमाण नहीं प्रस्तुत करना अपितु दासों के प्रति अनेक उदार नियमों को ही विधान प्रस्तुत करता है। ऐसी दशा में उनके इस सीमा तक शोषण का कोई

प्रश्न ही नहीं पैदा होता जिससे कि अतिरिक्त उत्पादन की स्थिति संभव हो सके । जब दास जैसे निरोह प्राणी के अधिकतम शोषण की व्यवस्था के रूप में भारतीय उत्पादन पद्धति को विकसित नहीं किया जा सकता तो भारतीय सभ्यता के विकास की एक कड़ी के रूप में आने वाली निरंकुशता को, निरंकुशता की निकृष्टतम कोटि, पौर्वात्य निरंकुशता के अन्तर्गत कैसे रखा जा सकता है । चूंकि "एशियाई उत्पादन पद्धति' भी पाश्चात्य निरंकुशता के विपरीत पौर्वात्य निरंकुशता को भिन्न और निकृष्टतर कोटि को स्थापित करने की एक भिन्न योजना है इसलिए यही बात उस पर लागू होती है । प्राचीन भारतीय राज्य का आर्थिक संगठन मौर्ययुग को छोड़कर वस्तुतः इतना ढीला-ढाला और अपर्याप्त था कि वह अपने समस्त उपलब्ध संसाधनों का पूर्णरूपेण शोषण भी नहीं कर पाता था । इसीलिए उसके तत्वावधान में वैयक्तिक अथवा छोटे-मोटे तन्त्रीय स्तरों पर निरंकुशता तो सम्भव थी लेकिन निरंकुशता का कोई सुसंगठित राज्य अथवा समाजव्यापी ढांचा नही तैयार हो सकता था । वस्तुतः भारतीय संस्कृति में अन्तर्निहित बहुलवाद इस संस्कृति में ऐतिहासिक रूप से विकसित होने वाली अर्थव्यवस्था का भी प्रधान लक्षण था और इसी के चलते किसी भी राज्य स्तरीय सुसंगठित शोषण प्रक्रिया का स्थायी रूप से उदय नहीं हो सकता था । यदि पाश्चात्य सभ्यताओं की तुलना में भारतीय सभ्यता को इसलिए गतिहीन बता दिया जाय कि यहाँ स्थिरता अथवा जड़ता पश्चिमी देशों की तुलना में बहुत अधिक दिखायी पड़ती है तो इस प्रकार के कथन निरपेक्ष नहीं माने जा सकते क्योंकि पाश्चात्य देशों की तुलना में यहाँ परम्पराओं

समाविष्ट हो ही नहीं सकता बल्कि उसमें गम्भीरता ही आयेगी ।
परम्पराओं के बोझ से बोझिल यह भारतीय सभ्यता पाश्चात्य सभ्यताओं
की कछुआ-हिरण दौड़ में तो कुछ समय के लिए पीछे छूटती हुयी दिखाई
पड़ती है लेकिन अततः जीत इसी सभ्यता की होती है । भारतीय सभ्यता
की गम्भीरतायुक्त धीमी चाल को स्थैतिक समाज कीसंज्ञा प्रदान करना,
इस प्रकार, पाश्चात्य पूर्वाग्रहों के जबरन आरोपण के अतिरिक्त और
कुछ नहीं हो सकता । इस प्रकार पूर्वकालीन भारतीय समाजार्थिक संरचना
में न तो दासतामूलक समाज की अवधारणा लागू हो सकती है और न
कार्ल मार्क्स तथा कार्ल विटफोगेल की क्रमशः 'एशियाई उत्पादन पद्धति'
तथा 'द्रव चालित समाज' की संकल्पनाएं ही । इन सभी योजनाओं से परे
उसकी अपनी एक अलग ही अवधारणा दिखाई पड़ती है जिसमें भारतीय
दासता यहाँ की समाजार्थिक संरचना में आनुषंगिक तत्व के रूप में विद्यमान
थी तथा दासता किसी वर्ण विशेष के लिए नहीं थी बल्कि समाज के समस्त
वर्णों के परिस्थिति जन्य विवशताओं से घिरे हुए लोगों के लिए जीवन-
यापन का यह एक विकल्प मात्र थी, किसी राज्य अथवा समाज का
संयोजक तत्व नहीं ।

सामन्ती अर्थव्यवस्था का प्रश्न और दास –

भारतीय सामन्तवाद पर आर०एस० शर्मा, डी०डी० कोसम्बी,
निहाररंजन रे, डी०सी० सरकार, बी०एन०एस० यादव, ओम प्रकाश, हरबंश

मुखिया एवं डी०एन० झा जैसे अनेक सजग इतिहासकारों ने काफी विस्तार से कार्य किया है। इन इतिहासकारों में से कुछ तो भारत में योरोपीय सामन्तवाद की तर्ज पर भारतीय समाजार्थिक संरचना के पूर्वमध्यकाल को सामन्ती समाज की संज्ञा देते हैं और कुछ इतिहासकार भारत में सामन्तवाद के किसी भी अस्तित्व को नकारते हुए दिखाई देते हैं। ओम प्रकाश जैसे कतिपय विद्वानों ने दोनों स्थितियों का निष्पक्ष आकलन करते हुए भारत के वास्तविक समाजार्थिक, परिवेश को उभारने का प्रयास किया है।[295] अपने इन प्रयासों में उन्होंने बड़े साफ तरीके से भारतीय सामन्तवाद को 5 विभिन्न दृष्टियों को उजागर किया जिनका सभी का निष्कर्ष लगभग समान है। उन निष्कर्षों का भारतीय दास प्रथा के इतिहास से बहुत गहरा सम्बन्ध है जिसका खुलासा मार्क्स द्वारा प्रस्तुत पाश्चात्य सामन्ती ढांचे की विशिष्टताओं को जानने के बाद ही किया जा सकता है।

मार्क्स ने ऐतिहासिक विकास की अपनी सुप्रतिष्ठित योजनानुसार यह मान्यता प्रस्तुत की कि समस्त इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास होता है और विकास की इन अवस्थाओं में प्रत्येक समाज को आदिम समाज, पशुचारी समाज, दासतामूलक अर्थव्यवस्था पर आधारित समाज, सामन्ती समाज तथा पूंजीवादी समाज के क्रमिक संस्तरों से गुजरना पड़ेगा। पूंजीवादी व्यवस्था के ध्वस्त हो जाने पर ही समतामूलक समाज की स्थापना सम्भव हो पायेगी। इस प्रकार दासों के विशिष्ट सन्दर्भ में मार्क्स ने यह मत व्यक्त किया कि दासतामूलक समाज के पतन के बाद निश्चित रूप से

सामन्ती समाज का अस्तित्व आयेगा । सामन्ती समाज के ढांचे को उसने दास समाज के ध्वंशावशेषों पर निर्मित बताया । इस प्रकार सामन्ती समाज से पहले दासतामूलक समाज तथा सामन्ती अर्थव्यवस्था से पहले दासतामूलक अर्थव्यवस्था को अनिवार्यता को प्रमाणित किया गया । योरोपीय सन्दर्भ इसका समर्थन करते हुये समाजार्थिक संरचना के एक ऐसे स्वरूप का परिचय देते है जिसमें मार्क्स की उपर्युक्त अवधारणा सही प्रतीत होती है ।

मार्क्स की उपर्युक्त अवधारणा को आधार बनाकर कतिपय इतिहासकारों ने भारतीय समाजार्थिक संरचना को योरोपीय परिवर्तनों के साथ संयुक्त कर दिया । अर्थात् जब-जब योरोप में जैसी संरचना मिलती है वैसी ही भारतीय उपमहाद्वीप में भी ढूढी जाने लगी । ऐसे में पूर्व-मध्यकालीन पाश्चात्य जगत् में यदि सामन्ती अर्थव्यवस्था का दृश्य समुपस्थित होता है,जो दासतामूलक ढांचे के ध्वस्त होने के बाद स्थापित हुआ था तो भारत में भी मौर्यकालीन युग को दासतामूलक समाज घोषित करते हुए भारतीय इतिहास के पूर्वमध्यकाल को सामन्ती युग कहा जाने लगा । ऐसे में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि जब सामन्ती समाज एवं अर्थ-व्यवस्था के पूर्व दासतामूलक समाज एवं अर्थव्यवस्था का होना आवश्यक है तो क्या भारतीय इतिहास का पूर्वमध्ययुग सामन्ती अर्थव्यवस्था का युग कहा जा सकता है जो दास श्रम के बदले अर्धदासों के श्रम पर अतिरिक्त उत्पादन प्राप्त करने वाली अर्थव्यवस्था होती है ? क्योंकि हम ऊपर यह

देख चुके हैं कि भारतीय इतिहास की पूर्वकालीन समाजार्थिक संरचना किसी भी रूप में दास श्रम पर आधारित नहीं थी । ऐसे में सामन्ती अर्थव्यवस्था का प्रश्न विवादास्पद होजाने के साथ-साथ दासों की स्थिति भी विवादग्रस्त हो जाती है ।

प्रायः पूर्वमध्यकालीन भारतीय समाज में सामन्ती प्रवृत्तियों के योरोपीय लक्षणों को खोजने वाले इतिहासकार दासों को इसका एक प्रमुख आधार बनाते हैं । योरोपीय इतिहास के इस काल में दासों के बदले कृषिदासों के नियोजन से कृषि करायी जाती थी और व्यक्तिगत भू-स्वामित्व के इस युग में छोटे-छोटे भूखण्डों पर इन्हीं कृषिदासों से खेती करायी जातीथी । इन कृषिदासों के श्रम विनियोजन से अतिरिक्त उत्पादन सम्भव होता था, इसलिए जमीन से इनकी सम्बद्धता भी आवश्यक थी । अर्थात् पूर्वकाल में जो कृषि कार्य दास करते थे वही अब कृषिदास अथवा अर्द्धदास करने लगे । अर्द्धदासता की स्थिति तब उत्पन्न हुई जब दासों को बड़े पैमाने पर मुक्त कर दिया जाने लगा और कृषि में श्रमिकों का संकट नजर आने लगा ।

सामन्ती अर्थव्यवस्था के लिए बैरी हिन्डेस ने ऐसे लक्षणों का होना अनिवार्य बताया जिसमें उत्पादन सम्बन्ध निम्नलिखित तीन संस्तरों पर ही स्थापित हो सकता है -[296]

1- इस पद्धति में आवश्यक श्रम एवं अतिरिक्त श्रम का अनुपात नियत नहीं होता यह भू स्वामी एवं श्रमिक के बीच वर्ग संघर्ष

से निर्धारित होता है ।

2- सामन्ती कर अथवा शुल्क (RENT) श्रमिकों के लिए आवश्यक श्रम एवं अतिरिक्त श्रम के बीच एक विशिष्ट कोटि का रिश्ता लागू करता है ।

3- कृषि उत्पादन अथवा भू-उत्पादन भूस्वामियों एवं श्रमिकों के बीच एक विरोधी एवं वैमनस्यपूर्ण रिश्ते को जन्म देता है ।

इस प्रकार मार्क्स और हिन्डेस दोनों की अवधारणाओं में अतिरिक्त उत्पादन का भार ऐसे श्रमिकों पर डाला गया है जो दासों की स्थिति से तो ऊपर होते हैं लेकिन स्वतन्त्र श्रमिकों की अवस्था के नीचे अर्थात् ऐसे युग में बेगार प्रथा एवं अर्धदासता दोनों की स्थिति दिखायी पड़नी चाहिए । यह दासतामूलक समाज का उत्तरवर्ती स्वरूप होता है।

इन विश्लेषणों के आलोक में यह कहा जा सकता है कि जब भारतीय इतिहास के पूर्वयुग में दासतामूलक अर्थव्यवस्था अस्तित्व में आयी ही नहीं तो उस पर खड़े किये गये सामन्ती अर्थव्यवस्था के ढाँचे का प्रश्न ही नहीं पैदा होता । जहां तक दासों को मुक्त करके अथवा उन्हें अर्धदास की स्थिति में पहुँचाकर उनसे अतिरिक्त उत्पादन प्राप्त करने का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में यह देखना परमावश्यक है कि क्या भारतीय दासों के मुक्ति की जो सैद्धान्तिक योजनाएं प्रस्तुत की गयी है वे यथार्थ जीवन में घटित होती भी थी अथवा नहीं । इस सम्बन्ध में कतिपय इतिहासकारों

की मान्यता है कि दास वर्ग के गठन के कारण दासों के विद्रोह की संभावनाएं प्रबल हो उठी थी। ऐसी स्थिति में बहुत दिनों तक दासों का शोषण सम्भव नहीं था इसलिए उन्हें मुक्ति देनी पड़ी। लेकिन दास वर्ग के ऊपर विस्तार से चर्चा के बाद अब इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि यह निष्कर्ष अथवा संभावना उचित नहीं है। जहाँ तक दासों की मुक्ति का प्रश्न है इसकी व्यवस्था तो कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ही मिलने लगती है। अतः यदि दासमुक्ति के प्रावधानों की सैद्धान्तिक उद्घोषणाओं से ही उनकी वास्तविक मुक्ति की कल्पना साकार कर ली जाती थी तो कौटिल्य के काल में दास आधारित अर्थव्यवस्था इन्हीं के तर्कों से नकारी जाती हुई प्रतीत होने लगती है।[297]

पूर्वमध्यकालीन स्मृतियों में अदृष्टार्थक विधानों की पूर्व परम्परा को पुष्ट करते हुए दासों के मुक्ति की बातें की गई प्रतीत होती हैं। वस्तुतः पूर्वमध्यकाल के विशिष्ट सन्दर्भ में यथार्थ जीवन की कोई भी सैद्धान्तिक व्यवस्था उन्हें मुक्ति दिला ही देती थी यह आवश्यक नहीं है। क्योंकि धर्मशास्त्रीय व्यवस्थाओं का पालन ऐच्छिक था, अनिवार्य नहीं। इसके अतिरिक्त घरेलू तथा इतर-घरेलू कार्यों में इनकी आवश्यकता और इतना प्रबल बोध धार्मिक उपेक्षाओं पर भारी पड़ रहा होगा। दास मुक्ति किसी भी मालिक के लिए किसी भी दशा में लाभप्रद न रही होगी इसलिए सिद्धान्ततः तो उन्हें मुक्त करने की व्यवस्थाएं दी जाती रहीं किन्तु

राजनीतिक बिखराव से ग्रस्त राज्यों की दाण्डिक शक्ति की प्रखरता के ह्रास के कारण उन्हें मुक्त न करने पर राज्य की ओर से किसी दण्ड का भय इन दास मालिकों को न रहा होगा । इसीलिए पूर्वमध्यकालीन दासता घटने के बजाय बढ़ रही थी और इनकी स्थिति में यदि कहीं-कहीं सुधार दिखाई पड़ता है तो कहीं पर इनके द्वारा घोर यातनाओं में जिन्दगी बिताने के संकेत मिलते हैं लेखपद्धति सहित पूर्वमध्यकालीन अनेक साहित्यिक ग्रन्थ इसका साक्ष्य भी प्रस्तुत करते हैं ।[298]

पिछले अध्याय में दासों के कार्यों की अवधारणा के सन्दर्भ में हमें अनेक ऐसे दासों के प्रमाण भी उपलब्ध हुए जिन्हें कृषि कार्य में तो लगाया ही जाता था, दासियों तक को हल चलाते हुए दिखाया गया है । अतएव यह कहना कि मौर्यकाल में तो दासों को कृषि कार्य में लगाया जाता था लेकिन पूर्व मध्यकाल इसका निषेध प्रस्तुत करता है उचित नहीं प्रतीत होता । पूर्वमध्यकाल में आकर दासों को कतिपय वैधानिक अधिकारों एवं साम्पत्तिक अधिकारों से भी युक्त कर दिया गया। मनु पर भाष्य लिखते हुए मेधातिथि का कथन है कि दासों का अपनी सम्पत्ति पर मालिकाना अधिकार होता था ।[299] इसी तरह याज्ञवल्क्य पर भाष्य लिखते हुए मिताक्षरा का कथन है कि दासों से अनैतिक सम्बन्धों द्वारा उत्पन्न दासीपुत्र को उसके वास्तविक पिता की सम्पत्ति में हिस्सा मिलना चाहिए यदि पिता ऐसी इच्छा रखे तो । पिता की मृत्यु के बाद उसके भाईयों द्वारा उसे हिस्सेदार बनाकर आधी सम्पत्ति देनी चाहिए

यदि उसके कोई भाई या बहिन अथवा नाती-पोते नहो तो सारी सम्पत्ति उसी दास को हो जायेगी ।[300] अग्नि पुराण इसका समर्थन करता है।[301] अतएव यह प्रमाणित होता है कि यदि पूर्वकालीन व्यवस्था में कौटिल्य उन्हें सम्पत्ति रखने का अधिकार देता; है तो पूर्वमध्यकालीन व्यवस्थाओं में भी ये घटनाएं उसी दृष्टि में (कूटार्थक एवं अकूटार्थक) अपवाद स्वरूप नहीं प्रतीत होती । कतिपय दक्षिण भारतीय अभिलेखों से भी इसकी पुष्टि होती है। बेलूर तालुक में प्राप्त एक लेख में यह स्पष्टतया उल्लिखित है कि यदि किसी व्यक्ति का कोई भी प्राधिकारी न हो तो उसकी भूमि और सम्पत्ति दासी के बच्चे को दी जा सकती है। 1165 ई0 का एक अन्य अभिलेख दासियों के अक्षय कोश की चर्चा करता है। 1200 ई0 का दूसरा लेख ऐसा ही मिलता जुलता विवरण प्रस्तुत करता है। 1343 ई0 का अन्य शिलालेख दासी एवं उसके बच्चे को परिवार के अन्य सदस्यों की भांति सम्पत्ति में अधिकारी होने की बात करता है ।[302]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि पूर्वमध्यकाल में दासों की एक कोटि अत्यन्त दयनीय दशा में दिखाई पड़ती है तो दूसरी कोटि में ऐसे अधिकार सम्पन्न दास भी मिलते हैं । इस प्रकार उनके नियोजन द्वारा अतिरिक्त उत्पादन से लेकर व्यक्तिगत कार्यों में उनकी नियुक्ति को देखते हुए कौटिलीय परम्परा के ही विस्तार का पक्ष मजबूत होता दिखाई पड़ता है । जहाँ तक दासों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का

प्रश्न है, निश्चित रूप से इससे तत्कालीन राजकीय आय में वृद्धि होती रही होगी । साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भारत को दासों के आयात-निर्यात करने वाले एक देश के रूप में देखा जा सकता है ।[303]

अधीतकाल में युद्धों की बहुलता के कारण युद्धबन्दियों की अधिकता दासों का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापार, कृषि में नियोजन, साम्पत्तिक तथा वैधानिक अधिकारों से दासों को संयुक्त करना आदि विवरण यदि दासता के स्थायित्व का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं तो उनकी दयनीय स्थिति उन्हें दासता के दूसरे पहलू से भी भरपूर परिचित कराती है जिसमें फिनले की उस अवधारणा का बोध होता है कि दासों के लिए परतन्त्रता उनके जीवन के साथ बंधी होती है । साथ ही इस पूर्वमध्यकालीन सामन्ती अर्थव्यवस्था को नकारते हुए यदि दासों की दोनों कोटियों में किसी विभाजक रेखा को खींचने का प्रयास किया जाय तो भी वह भी उनकी चरमावस्था में ही सम्भव है । फिनले की "स्पेक्ट्रम" की अवधारणा[304] में दासता का विवेचन इसे बखूबी सुलझा देता है कि दासता औरस्वतन्त्रता के बीच कोई विभाजक रेखा इसलिए नहीं खीचीं जा सकती क्योंकि स्पेक्ट्रम के विभिन्न रंगों की तरह उनकी चरम अवस्थाओं पर ही ऐसी स्थितियाँ उभरती रही होंगी । अतएव यह कहना कि पूर्वमध्यकालीन भारत में दासता अपनी मुक्ति विधानों की सैद्धान्तिक योजना के परिणामस्वरूप ह्रासोन्मुखी हो चली थी, उचित नहीं प्रतीत होता । दासतामूलक समाजार्थिक परिप्रेक्ष्य की पूर्व पीठिका के बिना तो सिद्धान्ततः सामन्तवादी अर्थव्यवस्था का प्रश्न

ही नहीं उठता । अतः सैद्धान्तिक अनिवार्यता के रूपमें पूर्व मध्य कालीन सामाजार्थिक संरचना में दासता का ह्रास भी स्वीकार नहीं किया जा सकता

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि उत्पादन प्रक्रिया के पूर्वकालीन और पूर्वमध्यकालीन भारतीय यथार्थ में किसी ऐसी व्यवस्था के लिए अवकाश नहीं है जिस पर पूर्णतया दासता मूलक और सामन्ती उत्पादन प्रक्रियाओं की तकनीकी परिभाषा आरोपित की जा सके । इस काल की भारतीय उत्पादन प्रक्रियाएं मार्क्स की एशियाई उत्पादन प्रक्रिया और विटफागेल के पौर्वात्य निरंकुशता के सिद्धान्तों से भी मेल नहीं खाती । भारतीय उत्पादन प्रक्रिया में अपनी निराली योजना में, जो इन सैद्धान्तिक योजनाओं से भिन्न है, दास श्रम की आनुषंगिक भूमिका ही एक प्रबल तत्त्व के रूप में उभरती है । प्राचीन और पूर्वमध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था में दासों की इस आनुषंगिकता को ऐसे सेवि वर्ग की परिकल्पना द्वारा दास जिसके एक आवश्यक अंग हों, न तो समाप्त किया जा सकता है और न उसे दासता मूलक अर्थव्यवस्था का तकनीकी अर्थों में दासवर्ग ही बनाया जा सकता है ।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1- ऐसे इतिहासकारों में डी०डी० कोसम्बी, निहाररंजन रे, आर०एस० शर्मा, बी०एन० एस० यादव तथा डी०एन० झा इत्यादि के नाम गिनाए जा सकते हैं जिन्होंने उत्पादन सम्बन्धों के विविध पहलुओं पर अपनी-अपनी अवधारणाओं को फिट करके भारत में सामन्ती समाज की प्रमुख प्रवृत्तियों को खोजने का प्रयास किया है। विस्तृत अध्ययन के लिए द्रष्टव्य-शर्मा, आर०एस०, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, दिल्ली, 1979 तथा भारतीय सामन्तवाद, दिल्ली, 1973) भारतीय एवं पाश्चात्य सामन्ती समाज की अवधारणाओं की तुलना के लिए देखिए- ओम प्रकाश का 'सामन्ती राज्य व्यवस्था का विकास' नामक अध्याय जिसे उन्होंने सुस्मिता पाण्डे एवं विवेकदत्त झा के साथ सह लेखक के रूप में 'राजनीतिक इतिहास तथा संस्थाएं (550 ई० से 1200ई० तक) भोपाल, 1990 नामक ग्रन्थ में प्रकाशित किया है ।

2- कोसम्बी, डी०डी०, प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, (अनु०) गुणाकर मुले, दिल्ली, 1993, पृ० 188 ।
तुलनीय-शर्मा, आर०एस०, प्रारंभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, दिल्ली, 1993 पृ० 51 ।

3- शर्मा, आर०एस०, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ० 146-149 तथा पृ० 164 ।

4- अर्थशास्त्र, 2.1 ।

5- शर्मा, आर०एस० , पूर्वो०, पृ० 146-147 ।

6- यादव, बी०एन० एस०, 'कलियुग के वर्णन और समाज का प्राची काल से मध्यकाल में संक्रमण' इतिहास, अंक 1, दिल्ली, 1992, पृ० 68 ।

7- ओम प्रकाश, कन्सेप्चुअलाईजेशन ऐण्ड हिस्ट्री इन अर्ली इण्डियन सोशियो-इकोनामिक स्टडीज, इलाहाबाद, 1992, पृ० 49-51

8- यादव, बी० एन० एस०, पूर्वो०, पृ० 67 ।

9- ओम प्रकाश एवं अन्य, राजनीतिक इतिहास तथा संस्थाएं, पृ० 208 ।

10- ऋग्वेद, 10.90 ।

11- आगे चलकर वर्ण व्यवस्था ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रणयन के समय में इतनी सुदृढ़ हो गयी थी कि देवताओं में भी जाति विभाजन हो गया था । अग्नि एवं बृहस्पति देवताओं में ब्राह्मण थे; इन्द्र, वरुण एवं यम क्षत्रिय थे; वसु, रूद्र, विश्वे-देव एवं मरुत विश् थे तथा पूषा शूद्र था। इसी प्रकार ऋतुओं की वर्णव्यवस्था के आधार पर बांटा जानेलगा यथा- ब्राह्मण बसन्त ऋतु, क्षत्रिय ग्रीष्म ऋतु, एवं विश वर्षा ऋतु है। विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य-काणे, पी०बी०, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, लखनऊ 1980, पृ० 114 ।

12- गौतम धर्मसूत्र , 10.1-3, 7, 50 ।

आपस्तम्बधर्मसूत्र, 2.5, 10.5-8 ।

बौधायन धर्मसूत्र 1.10.2-5

वशिष्ठ धर्मसूत्र, 2.13-19 ।

मनुस्मृति, 1.88-90, 10.75-76 ।

याज्ञवल्क्यस्मृति , 1.118-119 ।

विष्णुस्मृति, 2.10-15 ।

अग्नि स्मृति, 13-15 ।

13- आपस्तम्बधर्मसूत्र , 1.1.1.7-8 ।

14- पाणिनि, 2.4.10; तुलनीय-याज्ञवल्क्य, 1.166 ।

15- ऐसे कार्यों को उन्हें अपनाने की छूट सिर्फ आपत्तिकाल में ही प्राप्त थी । देखिए- काणे, पी0वी0, पूर्वो0, पृ0 146-147 ।

16- ऋग्वेद 8.56.3; 8.5.38; 8.19.36 ।

तैत्तिरीय संहिता 7.5.10.1; 2.2.6.3 ।

बृहदारण्यकोपनिषद् 4.4.23 ।

छान्दोग्योपनिषद् , 7.24.2 ।

17- प्राचीन काल में ब्राह्मणों को शिक्षण कार्य से बहुत अधिक धन नहीं मिल पाता था। इनका कोई संघ भी नहीं था जैसा कि एंग्लिकन चर्च में पाया जाता है जहाँ आर्क बिशप, बिशप एवं अन्य पवित्र पुरुषों का क्रम पाया जाताहै । प्राचीन भारत में इच्छापत्र की भी व्यवस्था नहीं थी जिससेबहुत से धनिकों को

सम्पत्ति प्राप्त होती । पौरोहित्य के कार्य से विशेष कुछ मिलने वाला नहीं था । अध्यापन पुरोहिती तथा प्रतिग्रह नामक वृत्तियाँ सभी ब्रह्मणों की शक्ति व सामर्थ्य के भीतर भी नहीं थी अतः इनका अतिक्रमण तो बिल्कुल अवश्यम्भावी घटना थी ही। विस्तृत विवरण केलिए द्रष्टव्य- काणे, पी०वी०, पूर्वो० ।

18- काणे, पी०वी०, पूर्वो० ।

19- द्वारा उद्धृत शर्मा, आर०एस०, प्राचीन भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पृ० 52 ।

20- वही ।

21- महाभारत, 3.188.19 ।

22- बन्दोपाध्याय, एन०सी०, कात्यायन मत संग्रह, कलकत्ता, 1928, पृ० 42, श्लोक 424 ।

23- अर्थशास्त्र, 1.3 ।

24- विष्णु पुराण, 6.1.36 ।

25- आपस्तम्बधर्मसूत्र 2.2.3.1 तथा 2.2.3.4 ।

26- वही ।

27- गोभिल स्मृति, 3.120 ।

28- स्मृति चन्द्रिका, 1, पृ० 213 ।

29- मनुस्मृति, 3.186 ।

30- वही, 3.152 ।

31- वही, 3.181 ।

32- वही, 3.153 ।

33- वही, 3. 153 तथा 3.156 ।

34- वही ।

35- वही, 3.154 ।

36- वही ।

37- वही, 3.158 ।

38- वही ।

39- वही ।

40- वही, 3.159 ।

41- वही ।

42- वही, 3.160 ।

43- वही ।

44- वही, 3.162 ।

45- वही ।

46- वही, तथा 8.348 ।

47- वही, 3.163 तथा 7.75 ।

48- वही ।

49- वही ।

50- वही, 3.165; 9.149-150; 10.82; 10.90 ।

51- वही, 3.166 ।

52- वही, 3.180 ।

53- तैत्तिरीय उपनिषद् में अश्वमेध यज्ञ के समय ब्राह्मण को वीणा बजाते हुए दिखाया गया है। विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य- काणे, पी0वी0, पूर्वो, पृ0 112 । इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों को क्षत्रियोचित एवं वैश्योचित कार्य को करने की सलाह गौतम, मनु, याज्ञवल्क्य, अग्नि, वशिष्ठ तथा नारद आदि ने भी दी है, देखिए- काणे, पी0वी0, पूर्वो0, पृ0 147 ।

54- मनु0, 8.338 ।

55- वही, 8.268 ।

56- वही, 8.379-381 । लेकिन स्वयं मनु ने लिखा है कि बहुश्रुत आततायी ब्राह्मण को मारना कोई पाप नहीं है (मनु08.350) तथा चोर के हाथ से यज्ञ कराने वाला ब्राह्मण चोर के समान दण्डनीय है (मनु0 8.340) ।

57- वही, 11.72 ।

58- वही, 10.116 ।

59- वही, 9.149-150 ।

60- मनु0, 9.150 पर कुल्लूक की टीका ।

61- वही, 10.82 ।

62- वही, 10.93 ।

63- वही, 10.90 ।

64- वही, 8.348 ।

65- वही, 7.75 ।

66- अर्थशास्त्र, 3.13 ।

67- हरहा अभिलेख इसका प्रमाण प्रस्तुत करता है। देखिए- हरहा अभिलेख- उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, दिल्ली, 1961 ।

68- याज्ञवल्क्य0, 3.44 तथा अत्रि0, 24 ।

69- विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य, उपाध्याय, वासुदेव, द सोशियो-रिलिजस कण्डीशन आफ नार्थ इण्डिया {700-1200 ए0डी0}, वाराणसी, 1964, पृ0 44 ।

70- सचाऊ, ई0सी0, अलबेरूनीज़ इण्डिया, जिल्द 2, लन्दन, 1910, पृ0 163 ।

71- पराशर स्मृति, 1.24 ।

72- बृहन्नारदीय पुराण, 22.17 ।

73- वही, 22.11 ।

74- वही, 22-12-16 ।

75- वन्धोपाध्याय, एन0सी0, पूर्वो0 ।

76- उपाध्याय, वासुदेव, पूर्वो, पृ065 ।

77- वही ।

78- वही ।

79- विस्तृत अध्ययन के लिए द्रष्टव्य- द्विवेदी , लवकुश, 'पूर्वमध्यकालीन बुन्देलखण्ड में युद्ध दासता'(इसका विस्तृत विवरण इसी शोध प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में दिया गया है)।

80- इसका विवरण आगे दिया गया है।

81- अर्थशास्त्र, 1.3 ।

82- मनु0, 3.156 ।

83- वही ।

84- वही, 3.178 ।

85- वही, 3.179 ।

86- वही, 3.197 ।

87- पाणिनि, 3.2.22 ।

88- अर्थशास्त्र, 9.2. 21-24 ।

89- वही, 2.35 ।

90- स्कन्द पुराण, 3.2.39.291 ।

91- दशावतारचरित, 1.29 ।

92- यादव, बी0एन0एस0, पूर्वो0, पृ0 67 ।

93- वही, पृ0 68 ।

94- वही ।

85- द्वारा उद्धृत- ओमप्रकाश एवं अन्य, पूर्वो0, पृ0 207 ।

96- वही, पृ0 208 ।

97- वही ।

98- थार्नर, डेनियल, "मार्क्स ऑन इण्डिया ऐण्ड एशियाटिक मोड ऑफ प्रोडक्शन", कान्ट्रीब्यूशन्स टू इण्डियन सोशियोलोजी, अंक 9, 1966, पृ0 33-46 ।

99- सरकार, डी0सी0, लैण्डलार्डिज्म कन्फ्यूज्ड विद फ्यूडलिज्म " लैण्ड सिस्टम ऐण्ड फ्यूडलिज्म, इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1965, पृ0 57-62 ।

100- मुखिया, हरबंश " वाज देअर फ्यूडलिज्म इन इण्डियन हिस्ट्री," प्रोसीडिंग्स आफ द इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, वाल्टेयर, 1979, पृ0 259 ।

101- स्वामी- दास सम्बन्धों पर विस्तार से कार्य करने वाले इतिहासकारों में बी0एन0 एस0 यादव का नाम अग्रणी है जिन्होंने भारत में स्वामी-दास सम्बन्धों की विस्तृत विवेचना के आधार पर भारत में सामन्तवाद के बीजों को ढूढ़ने का प्रयास किया है । विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य-
यादव, बी0एन0एस0, सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया इन द ट्वेल्थ सेन्चुरी ए0डी0, इलाहबाद , 1973, पृ0 136-200 ।

102- ओम प्रकाश एवं अन्य, पूर्वो0, पृ0 239 ।

103- विस्तृत अध्ययन के लिए देखिये - इस शोध प्रबन्ध का तीसरा अध्याय ।

104- आर०एस० शर्मा सहित प्रायः सभी मार्क्सवादी इतिहासकार इसी अवधारणा को परिपुष्ट करते हुए देखे जा सकते हैं।

105- शर्मा, आर०एस० शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ० 153।

106- देखिए- इसी अध्याय की पादटिप्पणियाँ 29-52 तक।

107- वही।

108- वही।

109- मनु ब्राह्मणों को यह निर्देश देते हुए देखे गये हैं कि ब्राह्मण उच्छिष्ट भोजन किसी को न तो दे और न ही स्वयं खावें। निश्चित रूप से इससे दास बाहर न रहा होगा। देखिए- मनु०, 2.56।

110- वही, 7.125-126।

111- वही, 3.116।

112- वही, 8.167।

113- वही, 10.86।

114- वही, 8.342।

115- द्विवेदी, लवकुश, "अर्थशास्त्र में राज्य और दासता की अवधारणा: यूनानी चिन्तन के तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में," पूर्वो०, पृ० 4।

116- वही।

117- वही, पृ० 5।

118- अर्थशास्त्र, 9.2.21-24।

119- द्वारा उद्धत- गैरोला, वाचस्पति,कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, वाराणसी 1977,पृ0 87 ।

120- शर्मा, आर0एस0,पूर्वो0 ।

121- कौटिल्य के अर्थशास्त्र में §3.13§ दास कल्प में प्राप्त विवरणों को आधार बनाकर आर0एस0 शर्मा ने यह तर्क उपस्थित किया है । देखिए- शर्मा, आर0एस0 ,पूर्वो0,पृ0 158-159 ।

122- शर्मा0,आर0एस0,पूर्वो, पृ0 146 ।

123- वही, पृ0 96-97 ।

124- वही, पृ0 158-159 ।

125- वही ।

126- वही, पृ0 159 ।

127- अर्थशास्त्र, 3.13 ।

128- वही ।

129- वही ।

130- वही, 3.1 तथा 4.13 ।

131- द्वारा उद्धत -बोस, ए0 एन0,सोशल ऐण्ड रूरल इकानमी आफ नार्दर्न इण्डिया, कलकत्ता, 1967,पृ0 199-200 ।

132- अर्थशास्त्र, 2.24 । विस्तृत विवरण के लिए देखिए- गैरोला, वाचस्पति, पूर्वो0, पृ0 46 ।

133- अर्थशास्त्र, 2.12 ।

134- देखिए- द्विवेदी, लवकुश ,'कौटिलीय अर्थशास्त्र में दास, कर्मकर, विष्टि और शूद्र', पूर्वो0, पृ0 10-11 ।

135- वही, पृ0 11-12 ।

136- अर्थशास्त्र, 2.24 ।

137- द्विवेदी, लवकुश, पूर्वो0, पृ0 11 ।

138- वही ।

139- अर्थशास्त्र 1.11 ।

140- आर0एस0 शर्मा एवं बी0एन0 एस0 यादव ऐसे विद्वानों की कोटि में रखे जा सकते हैं । विस्तृत अध्ययन के लिए दोनों विद्वानों के पूर्वो0 ग्रन्थ ।

141- अर्थशास्त्र 1.3 ।

142- वही ।

143- कांग्ले, आर0पी0, कौटिलीय अर्थशास्त्र- ए स्टडी, जिल्द 3, बम्बई, 1965, पृ0 143 ।

144- अर्थशास्त्र, 3.13 ।

145- द्विवेदी, लवकुश, पूर्वो0, पृ0 14 ।

146- वही, पृ0 14-15 ।

147- वही ।

148- वही, पृ0 15 ।

149- भट्टाचार्य, एस0सी0, सम आस्पेक्ट्स ऑफ इण्डियन सोसाइटी, कलकत्ता, 1978, पृ0 158-161 ।

150- वही, पृ0 159 ।

151- वही, पृ0 160 ।

152- अर्थशास्त्र, 3.13 ।

153- विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए- द्विवेदी, लवकुश, पूर्वो0

154- वही ।

155- वही, पृ0 10 ।

156- जैन, पी0सी0,लेबर इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, दिल्ली, 1971,पृ0230

157- चानना, डी0आर0 स्लेवरी इन ऐश्येण्ट इण्डिया, दिल्ली, 1960 ,
पृ0 129-130 ।

158- शरन, के0एम0,लेबर इन ऐश्येण्ट इण्डिया, बम्बई, 1957,
पृ0 60-62 ।

159- शर्मा, आर0 एस0 ,पूर्वो0, पृ0 146 । इस स्थल पर शर्मा ने शूद्र
कर्षक का अभिप्राय'दास कर्मकर'से लगाया है।

160- अर्थशास्त्र, 3.13 ।

161- शर्मा,आर0एस0, पूर्वो0, पृ0 225 ।

162- डांगे, एस0ए0,भारत:आदिम साम्यवाद से दास व्यवस्था तक का
इतिहास, दिल्ली, 1978, पृ0 117 ।

163- वही ।

164- वही, पृ0 118 ।

165- यादव, बी0एन0एस0, 'कलियुग के वर्णन और समाज का प्राचीन
काल से मध्यकाल में संक्रमण,' पृ0 68 ।

166- वही ।

167- वही, पृ0 69 ।

168- वही, पृ0 86, पाद टिप्पणी, 39 ।

169- कात्यायन, 350; द्वारा उद्धृत-शर्मा, आर0एस0, पूर्वो0 ।

170- कात्यायन मत संग्रह, पृ0 26 पर श्लोक सं0 25-27 में 'वर्गिण नायक' और 'वर्ग' शब्दों का जो प्रयोग हुआ है उससे किसी स्वायत्तशासी संघ की झलक नहीं मिलती । देखिए- बन्द्योपाध्याय, एन0सी0, पूर्वो0 पृ0 25-27 ।

171- अर्थशास्त्र, 3.13 ।

172- मनु0, 3.246; 4.180; 4.185 ।

173- विलियम, एम0, पृष्ठ 477

174- याज्ञवल्क्य0, 1.240 ।

175- विष्णु0, (एकाशीतितमोऽध्यायः) ,5.2 4।

176- शुक्रनीति, 3.125 ।

177- शब्दकल्पद्रुम, 2.8.24; अमरकोश, 3.5.27; वाचस्पत्यम्, पंचम भाग, 3594; स्मृति चन्द्रिका , 464, पाणिनि, 4.3.64 इत्यादि ।

178- लेखपद्धति, संपा0- चिमनलाल डी0 दलाल व गजानन के0 श्री गोडेकर बड़ौदा सेण्ट्रल लाइब्रेरी, 1925, पृ0 45 तथा 47 ।

179- मनु0, 2.56 ।

180- देखिए- शर्मा, आर०एस० , पूर्वो० एवं यादव, बी०एन० एस०, पूर्वो० ।

181- इण्डिका, 10; मेगस्थनीज, 210, द्वारा उद्धृत -कोसम्बी, डी०डी०, ऐन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, बम्बई, 1975, पृ० 196 ।

182- शर्मा, आर०एस०, पूर्वो०, पृ० 96 ।

183- वही, पृ० 145 ।

184- वही, पृ० 147 ।

185- वही, पृ० 144 ।

186- वही, पृ० 147 ।

187- अर्थशास्त्र, 2.1 ।

188- कौटिल्य ने ऐसी दशा में उस जमीन को वापस लेकर ग्राम भृतकों एवं अन्य लोगों को बटाई पर देने की बात की है। देखिए- अर्थशास्त्र, पूर्वो० ।

189- अर्थशास्त्र, 7.11 ।

190- द्वारा उद्धृत- द्विवेदी, लवकुश, 'कौटिलीय अर्थशास्त्र में दास, कर्मकर विष्टि और शूद्र,' पृ० 8 ।

191- कोसम्बी, डी०डी०, प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, पृ० 188 ।

192- शर्मा, आर०एस०, पूर्वो०, पृ० 149 ।

193- अर्थशास्त्र, 2.35 ।

194- शर्मा, आर०एस०, पूर्वो०, पृ० 148 ।

195- मनु०, 3.176-265 ।

196- वही, 3.176-181 ।

197- वही, 3.186 ।

198- इस सन्दर्भ में अपंक्तिपावन ब्राह्मणों के विशेष लक्षणों के लिए इस अध्याय के पिछले सन्दर्भों को देखें जहाँ ऐसे ब्राह्मणों की विस्तार से चर्चा है। देखिए- इसी अध्याय की पादटिप्पणियाँ- 29-52 तक ।

199- हिन्डेस, बैरी तथा हर्स्ट, पाल, क्यू०, प्रि-कैपिटलिस्ट मोड्स ऑफ प्रोडक्शन, बोस्टन, 1977 ।

200- एण्डरसन, पेरी, पैसेजेज फ्रॉम एण्टीक्विटी टू फ्यूडलिज्म, लन्दन, 1977।

201- ओम प्रकाश, कन्सेप्चुअलाइजेशन ऐण्ड हिस्ट्री इन अर्ली इण्डियन सोशियो इकानमिक स्टडीज । इसके अतिरिक्त इनका सह लेखक के रूप में प्रस्तुत ग्रन्थ 'राजनीतिक इतिहास तथा संस्थाएं' (550 ई० से 1200 ई० तक) को देखा जा सकता है ।

202- ओम प्रकाश एवं अन्य, राजनीतिक इतिहास तथा संस्थाएं, पृ0 207-208 ।

203- हिन्डेस, बैरी एवं हर्स्ट, पाल, क्यू0, पूर्वो, पृ0 125-177 ।

204- वही, पृ0 126 ।

205- वही । विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए- डेविस, डी0बी0, द प्राब्लेम ऑफ स्लेवरी इन वेस्टर्न कल्चर, पेंगुइन बुक्स 1970, पृ0 53-56 ।

206- वही ।

207- वही ।

208- वही, पृ0 126-127 ।

209- वही ।

210- वही, पृ0 127 ।

211- वही ।

212- वही, पृ0 218 ।

213- वही,

214- मार्क्स, कार्ल, कैपिटल, भाग2, पृ0 478-479 ।

215- वही ।

216- हिंडेस, बैरी तथा हर्स्ट, पॉल, क्यू0, वही पृ0 129 ।

217- अर्थशास्त्र, 2.1 ।

218- कोसम्बी, डी0डी0, ऐन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, पृ0 216 ।

219- वही, पृ0 223 ।

220- वही ।

221- अर्थशास्त्र, 4.1 ।

222- कौसम्बी, डी0डी0, पूर्वो0, पृ0 216-217 ।

223- वही, पृ0 220-223 ।

224- अर्थशास्त्र, 3.10 ।

225- वही, 4.2 ।

226- वही, 3.20 ।

227- वही, 2.27 ।

228- वही, 2.25 ।

229- वही, 2.26 ।

230- कौसम्बी, डी0डी0, पूर्वो0, पृ0 220 ।

231- वही, पाद टिप्पणी-194 ।

232- कौसम्बी, डी0डी0, प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, पृ0 188 ।

233- शर्मा, आर0एस0, पूर्वो0, पृ0 146 ।

234- वही, पृ0 149 ।

235- वही, पृ0 147 ।

236- वही ।

237- शर्मा, आर0एस0, भारतीय सामन्तवाद, दिल्ली, 1973, पृ0 1 ।

238- वहीं, पृ0 2 ।

239- अर्थशास्त्र, 2.24 ।

240- वही, 9.2.21-24 ।

241- शर्मा, आर0एस0, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ0 149 ।

242- अर्थशास्त्र, 2.12 ।

243- शर्मा, आर0एस0, पूर्वो0 ।

244- अर्थशास्त्र, 3.13 ।

245- शर्मा, आर0एस0, पूर्वो0, पृ0 159 ।

246- वही ।

247- कोसम्बी, डी0डी0, पूर्वो0 ।

248- अर्थशास्त्र, 2.1; 3.1; 3.13 । अशोक ने भी दासों के प्रति काफी उदार दृष्टिकोण अपनाया है ।

249- शर्मा, आर0एस0, पृ0 158-160 ।

250- वही, पृ0 159 ।

251- अर्थशास्त्र, 3.13 ।

252- वही ।

253- वही ।

254- वही ।

255- वही ।

256- थापर, रोमिला, अशोक ऐण्ड द डिक्लाईन ऑफ द मौर्याज, आक्सफोर्ड, 1989, पृ0 90 ।

257- थार्नै, डैनियल, "मार्क्स ऑन इण्डिया ऐण्ड एशियाटिक मोड आर्फ प्रोडक्शन" कान्ट्रीब्यूशन्स टू इण्डियन सोशियॉलोजी, नं09, 1966, पृ0 33-46 ।

258- इन विशिष्टताओं को बैरी हिन्डेस ने अपने मानक ग्रन्थ प्रि-कैपिटलिस्ट मोड्स ऑफ प्रोडक्शन, पृ0 184-205 में बहुत विस्तार से दिखाया है ।

259- वही, पृ0 184 ।

260- वही, पृ0 186-187 ।

261- वही, पृ0 188-189 ।

262- वही, पृ0 195-196 ।

263- थार्नै, डैनियल, पूर्वो0 ।

264- ओम प्रकाश तथा अन्य, पूर्वो0 ।

265- हिन्डेस, बैरी तथा हर्स्ट, पाल, क्यू0, पूर्वो0, पृ0 208 ।

266- विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए, विट फोगिल, कार्ल, ओरियण्टल डेस्पाटिज़्म, न्यू हैवेन, 1963 ।

267- ओम प्रकाश, कन्सेप्च्युअलाईजेशन ऐण्ड हिस्ट्री इन अर्ली इण्डियन सोशियो- इकॉनामिक स्टडीज, पृ0 57 पाद टिप्पणी 19 तथा पृ0 11-14 एवं पृ0 50-51 ।

268- हिन्डेस, बैरी तथा हर्स्ट, पाल, क्यू0, पूर्वो0, पृ0 207-211 ।

269- वही, पृ0 210 ।

270- वही ।

271- वही, पृ0 211 ।

272- वही, पृ0 210-211 ।

273- कौसम्बी, डी0डी0," द बेसिस आफ इण्डियन हिस्ट्री," जर्नल ऑफ अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी, अंक 85, 1955, पृ0 35-45 तथा पृ0 226-237 ।

274- वही ।

275- वही ।

276- विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए- इसी अध्याय का "दास वर्ग की अवधारणा" वाला अंश ।

277- बी0एम0 एस0 यादव, "कलियुग के वर्णन और समाज का प्राचीन काल से मध्यकाल में संक्रमण", पृ0 86 पाद टिप्पणी 39 ।

278- पाटिल, शरद, दास-शूद्र स्लेवरी {स्टडीज इन द ओरिजिन्स ऑफ इण्डियन स्लेवरी ऐण्ड फ्यूडलिज्म ऐण्ड देअर फिलासफीज़}, नई दिल्ली, 1982, पृ0 247 ।

279- वही ।

280- वही ।

281- ओमप्रकाश, पूर्वो0, पृ0 48 ।

282- इसकी विस्तृत विवेचना "दासतामूलक अर्थव्यवस्था का प्रश्न"

283- वही ।

284- सरकार, डी0सी0, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस बियरिंग ऑन इण्डियन सिविलाईजेशन, जिल्द 1, कलकत्ता, 1965, पृ0 35 ।

285- विटफोगेल, कार्ल, पूर्वो0 ।

286- वही, पृ0 193-194 ।

287- शर्मा, आर0एस0, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ0 147 ।

288- द्विवेदी, [illegible]वकुश, पूर्वो0, पृ0 13 ।

289- वही ।

290- गोपाल, लल्लन जी, "आर्गनाईजेशन आफ इण्डस्ट्रीज इन ऐंश्येण्ट इण्डिया" जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री, भाग 42, 1964, पृ0 3[illegible] ।

291- अर्थशास्त्र, 5.3 ।

292- कांग्ले, आर0पी0, पूर्वो0, पृ0 183 ।

293- अर्थशास्त्र, 2.1 ।

294- वही ।

295- वही, 2.7 ।

296- सरकार, डी0सी0, "नेचर ऑफ सम विष्णुकुण्डिन रिकार्ड्स, इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, जिल्द 5, दिल्ली, 1979, पृ0 256 ।

297- द्विवेदी, लवकुश, पूर्वो0, पृ0 13-14 ।

298- ओम प्रकाश तथा अन्य, पूर्वो0, पृ0 205-242 ।

299- हिन्डेस, बैरी तथा हर्स्ट, पाल, क्यू0, पूर्वो0, पृ0 242-243 ।

300- विस्तृत विवरण के लिए देखिए- इसी अध्याय का प्रारम्भिक अंश एवं दास वर्ग की अवधारणा ।

301- विस्तृत विवरण के लिए देखिए- अध्याय 5 ।

302- मनु0 पर मेधातिथि, 8.416 ।

303- याज्ञ0 पर मिताक्षरा, 2.133-134 ।

304- अग्नि पुराण, 256, 20-21, पृ0 374 ।

305- विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य- इसी शोध प्रबन्ध का अध्याय 5 ।

306- वही ।

307- फिन्ले, एम0 आई0, 'बिटवीन स्लेवरी ऐण्ड फ्रीडम,' कम्परेटिव स्टडीज इन हिस्ट्री ऐण्ड सोसाइटी, जिल्द 6, पृ0 233-249 ।

पंचम अध्याय

पूर्वमध्यकालीन भारत में दासो

पूर्व मध्यकालीन भारत में दासी

प्राचीन भारतीय इतिहास की सामाजिक रूपरेखा तथा सामाजिक क्रियाशीलता के विभिन्न कारक तत्वों की व्याख्या में समाज शास्त्रीय सर्वेक्षणों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है । इन सर्वेक्षणों के माध्यम से भारतीय समाज के प्रायः सभी पक्षों पर प्रकाश पड़ा है । भारतीय दासता पर किये गये विविध कार्यों में दास एवं दासियों के प्रायः साथ-साथ उपयोग को उभारा गया है और दोनों के सम्बन्ध में लगभग एक जैसा ही निर्णय प्रस्तुत कर दिया गया है । ऐसे निर्णयों में प्रायः दो प्रकार के दृष्टिकोण दिखाई पड़ते हैं । या तो वे निर्णय मार्क्सवाद द्वारा प्रभावित होते है अथवा पूर्व निश्चित निर्णय का वस्तु स्थिति पर आरोपण करते हुए प्रतीत होते हैं । इन पूर्वाग्रहों की प्रतिबद्धता से मुक्त होकर पिछले अध्यायों में हमने दास प्रथा के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने का प्रयास किया है । इन अध्यायों में हमने भी दास दासियों को एक साथ चित्रित कर दिया है जबकि दासियों के सम्बन्ध में अभिलेख कालीन स्रोतों में कई ऐसे रोचक एवं महत्त्वपूर्ण प्रसंग आते हैं जिनके साथ ऐतिहासिक न्याय तब तक संभव नहीं है जब तक कि उनका अलग से अध्ययन न प्रस्तुत किया जाय । प्रायः दासों के उपयोग को लेकर जो अवधारणाएं प्रस्तुत की जाती है उनसे उनके सम्बन्ध में ह्रास

अथवा बुद्धि के निष्कर्ष निःसृत किए जाते हैं। दासता के इस उपयोग परक आयाम में दासियों पर स्वतन्त्र अध्ययन उनकी घरेलू अथवा इतर घरेलू दासता को साफ-साफ चित्रित करने में सहायक होगा। अतएव प्रस्तुत अध्याय में हमने पूर्वमध्यकालीन भारत में दासी की स्थिति को स्पष्ट करते हुए इस अवधि में दासता के ह्रास अथवा बुद्धि के सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा उपस्थित की गई विप्रतिपत्तियों का प्रसंगतः परीक्षण करते हुए दासियों की सामाजिक, वैधानिक, एवं उपभोग परक स्थिति पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। क्या तत्कालीन अर्थव्यवस्था में इनकी कोई निर्णायक भूमिका थी ? इस महत्वपूर्ण प्रश्न को भी इस अध्याय का अंग बनाया गया है।

पूर्व मध्यकालीन समाज में अनेक ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे लगता है कि उस समय के समाज में दासियों की संख्या अपवाद स्वरूप नहीं थी। बाणभट्ट की रचनाओं में दासियों की प्रभूत चर्चा मिलती है। अन्तःपुर में दासियों का होना [1] एक आम बात थी। बाण ने परिचारिका नर्तकी, [3] एवं ताम्बूल करंक वाहिनी [4] के रूप में दासी का उल्लेख किया है। उसने फागुन की मस्ती में बूढ़ी-दासी से विवाह करने एवं ठिठोली करने [5] मतवाली क्षुद्र दासियों के नाचने, [6] जन्म महोत्सव पर सामन्तों की स्त्रियों तथा वारविलासिनियों के साथ नृत्य करती हुई [7] दासियों आदि का सुन्दर चित्रण किया है। हर्षचरित में अनेक दासियों के एक साथ निकलने

के लिए "वीथीपथ" की चर्चा मिलती है।[8] याम-चेटी को रात्रि के चौथे पहर में कार्य करते हुए चित्रित किया गया है जिसे वासुदेव शरण अग्रवाल[9] ने दासी कहा है। "दशकुमारचरित में पण्यदासी का उल्लेख मिलता है।[10] बलभद्र नामक युवक अपनी दासी को इसलिए पीटता है क्योंकि उसने निर्दिष्ट कार्यों के प्रति उपेक्षा का भाव अपनाया था।[11] अग्नि पुराण में दासी के गर्भ की रक्षा का प्रयास करते हुए दिखाया गया है।[12] कुट्टनी मतम्[13] दासियों के सम्बन्ध में बड़े मनोरंजक साक्ष्य प्रस्तुत करती है। मालती नामक वेश्या के प्रेम में आसक्त नायक अपनी नायिका की रक्षा के लिए माता एवं दासी आदि प्रियजनों को छोड़ने के लिए तैयार हो जाता है।[14] कुट्टनीमतम् एक ऐसी दासी की भी चर्चा करता है जो गंभीरेश्वर मंदिर में वेश्या की तरह रहती थी।[15] यही नहीं, इस ग्रन्थ में बन्धकी गमन[16] को श्रेष्ठ बताया गया है तथा पित्त एवं ज्वर आदि की शांति के लिए दासी के आलिंगन को लाभकारी बताया गया है।[17] लेखपद्धति से भिन्न लेकिन कुछ अर्थों में समानता रखने वाले दासपत्र चर्चा भी उस ग्रन्थ में मिलती है।[18]

कर्पूरमंजरी में दासी को यदि एक ओर बसंत ऋतु में सुखकर बिस्तर बिछाते हुए दिखाया गया है[19] तो दूसरी ओर दासीपुत्र को माली के रूप में भी चित्रित किया गया है।[20] एक स्थल पर विचक्षणा दासी को पृथ्वी तल की सरस्वती[21] तथा रानी की सेविका[22] एवं कर्पूरमंजरी की सखी[23] के रूप में चित्रित किया गया है। उत्तरपुराण

कपिल नामक दासीपुत्र की चर्चा मिलती है ।[24] कथा सरित्सागर दासियों के अनेक प्रमाण प्रस्तुत करता है ।[25] दासकन्याओं को दान में देना[26] तथा पुरूषों की स्वेच्छाचारिता से त्रस्त अनेकों स्त्रियों द्वारा दासीत्व स्वीकार करने का प्रमाण[27] इस ग्रन्थ में उपलब्ध है । त्रिषष्टिशलाकापुरूषचरित निरपराध दासियों को बात-बात में हत्या करने का साक्ष्य प्रस्तुत करता है ।[28] यशस्तिलक चम्पू में घरेलू दासियों का वर्णन मिलता है ।[29] तिलक मंजरी [30] एवं महापुराण[31] धनाढ्य परिवारों में दासियों के होने का साक्ष्य प्रस्तुत करता है । मेधातिथि ने दासीमुक्ति की कतिपय चर्चाए की हैं ।[32] मिताक्षरा[33] भी दासियों के प्रमाण प्रस्तुत करती हुयी उनकी मुक्ति की चर्चा करती है और दासियों के साथ स्वच्छन्द संभोग का प्रमाण प्रस्तुत करती है ।[34] कुवलय-माला में सुन्दर दासियों की चर्चा की गई है ।[35] समराइच्च कहा में राज परिवारों की कुछ दासियों को अपने स्वामी के लिए दौत्य कर्म करते हुए दिखाया है ।[36] राजतरंगिणी दासियों के आयात का महत्वपूर्ण साक्ष्य प्रस्तुत करती है ।[37] राजा जालौक ने अपने अन्तःपुर की सौ दासियों को ज्येष्ठरूद्र के मंदिर में नृत्य करने का आदेश दिया था ।[38] राजतरंगिणी दासियों को अपने मालिक के साथ सती हो जाने का साक्ष्य भी प्रस्तुत करती है ।[39] गणित सारसंग्रह[40] लीलावती[41] तथा उपमितिभव प्रपंचाकथा[42] भी दासियों की चर्चा करती है । लेखपद्धति [43] तथा लिखनावली[44] से दासियों का क्रय-विक्रय तथा शुभ एवं अशुभ कर्मो में उनके नियोजन का साक्ष्य इन ग्रन्थों से मिल जाता है।[45]

मदनरत्नप्रदीप[46] दासीदान की अनेक चर्चाएं प्रस्तुत करता है। वासुदेवहिण्डी[47] में दासियों को पानी लाते हुए तथा मानसार[48] में उसे परिचारिका के रूप में चित्रित किया गया है। बृहत्संहिता[49] में दासी को भृत्य कार्य करते हुए तथा श्रृंगारमंजरी कथा में उसे संदेशवाहिका[50] के रूप में दिखाया गया है। यदि एक ओर पउमचरिय[57] जैन मंदिरों में दासियों का उल्लेख करता है तो दूसरी ओर तिलोथा मूर्ति अभिलेख [52] पांच दासियों को धार्मिक कार्यों में सन्नद्ध दिखाता है। पूर्वमध्ययुगीन धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में दासियों की भरपूर चर्चा मिलती है। नारदस्मृति से लेकर पराशर एवं शंखस्मृति तक मेधातिथि से लेकर विश्वरूप, विज्ञानेश्वर, कुल्लूक एवं अपरार्क जैसे भाष्यकारों तक, स्मृति चन्द्रिका के अनेकों उद्धरणों में ह्वेनसांग से लेकर अल्बेरूनी तक कई विदेशी यात्रियों के विवरणों में दासियों के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं।[53] पूर्व मध्यकालीन सीमा में आने वाले अनेक अभिलेखीय साक्ष्यों के सूक्ष्म अवलोकन से यह स्पष्टतया परिलक्षित होता है कि उस समय दासियाँ समाज के एक आवश्यक अंग के रूप में थी। यद्यपि इनके द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले कार्यों के आधार पर अनेक ऐतिहासिक निष्कर्ष निकाले जाते हैं, फिर भी इतना निर्विवाद रूप से सत्य है कि उपर्युक्त साक्ष्यों के आलोक में इतिहासकारों की दासता में ह्रास की उस मान्यता पर प्रश्न चिन्ह अवश्य लग जाता है।[54] इस परिप्रेक्ष्य में यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि इतिहासकारों का ऐसा वर्ग दासियों को अशुभ कार्यों में ही नियोजित बताता है जबकि कृषि-कार्य, मंदिरों में इनकी उपस्थिति विदुषी एवं कवियत्री के रूप में पूजनीय, सैनिक

वृत्ति में दासियों की नियुक्ति आदि के अनेक उल्लेख है जिन्हें देखकर जब तक इन कार्यों के भी अशुभ कर्म न सिद्ध किया जाय तब तक उपर्युक्त निष्कर्ष निकालना उनके एकांगी दृष्टिकोण का परिचायक है ।

कतिपय विद्वानों ने स्पष्टतया यह दिखाया है कि गुप्तकाल में उत्पादन-कार्य में लगाये जाने वाले दासों की संख्या कम होती गई और अधिकांश दासवर्गीय लोग दासता से मुक्ति पाने लगे ।[55] लेकिन पूर्वमध्य-कालीन साक्ष्यों में ऐसे पर्याप्त प्रमाण है जिनसे विदित होता है कि दास-दासियाँ कृषि कार्य में भी लगाये जाती थीं । अभिलेखयी साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि दासियाँ कृषि क्षेत्रों से इस तरह से जुड़ी हुई थी कि भूमि अनुदानों के साथ वे भी दान कर दिये जाती थी ।[56] स्कन्दवर्मा के अनुदान से ज्ञात होता है कि सामन्त एवं भूस्वामी अपने दासियों से करवाते थे।[57] हेमचन्द्र कृषिकार्य में दासी-नियोजन का साक्ष्य प्रस्तुत करता है।[58] लेख-कृषि कार्य/पद्धति एवं लिखनावली में ऐसे साक्ष्य अपवाद स्वरूप नहीं है जो दासियों के कृषि-क्षेत्र में नियोजन की बात करते हैं ।[59] लिखनावली से मिले प्रमाणों के आधार पर कुछ इतिहासकारों ने यह मत व्यक्त किया कि अभी तक जो सामान्य अवधारणा लोगों में व्याप्त है कि दास-दासियाँ सिर्फ घरेलू कार्य के लिए ही रखे जाते थे, इस निष्कर्ष में कुछ सुधार की आवश्यकता है ।[60] अतः उपर्युक्त उल्लेखों से ये दोनों मान्यतायें उचित नहीं प्रतीत होती कि पूर्वमध्यकाल में न तो दासता के प्रभूत उल्लेख मिलते है और न दास उत्पादन जैसे शुभ-कार्यों में लगाये जाते थे ।अतएव इन मान्यताओं पर निकाला गया दासता के ह्रास का निष्कर्ष भी समीचीन

नहीं कहा जा सकता ।

जहाँ तक दासियों की सामाजिक स्थिति का प्रश्न है, यह सही है कि उनकी उपयोगिता घरेलू कार्यों में अधिक थी, फिर भी अन्य क्षेत्रों में उनकी भूमिका की उपेक्षा नहीं की जा सकती । दासियों को झाड़ू लगाना, पानी भरना, लकड़ी लाना, फर्श लीपना तथा मूल-मूत्र के फेंकने से लेकर अन्तःपुर के कार्य, स्वामी की व्यक्तिगत सेवा, सैनिक सेवा में भागीदारी, तथा धनाढ्यवर्गों की विलासिता की तृप्ति, आदि अनेक प्रकार के कार्यों का निर्वहन करना पड़ता था । समराइच्चकहा से विदित होता है कि राजपरिवारों की कुछ दासियाँ अपने स्वामी के लिए दौत्यकर्म भी करती थी ।[61] यही नहीं राजशेखर ने अपनी रचनाओं में भाला-बर्छी एवं तलवार लेकर राजकन्याओं के निवासों के रक्षणार्थ नियुक्त दासियों की चर्चा स्पष्ट रूप से की है ।[62] यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि महिला रक्षकों की प्रथा बुद्धकाल से ही भारत में मौजूद है ।[63] मध्यकालीन यूरोप में दासियाँ धनाढ्य वर्गों के व्यक्तियों की सुख-सुविधा का महत्वपूर्ण साधन थी ।[64] स्वामी एवं दासी के प्रणय-सम्बन्धों की चर्चा कथासरित्सागर में भी है ।[65] स्वामी को मदिरापान कराकर उन्हें उत्तेजित करने वाली दासियों की चर्चा वसुदेवहिण्डी में मिलती है ।[66] यशस्तिलकचम्पू" में उल्लेख है कि घरेलू दासियों के लिए ऐसा कार्य कोई असामान्य घटना नहीं थी ।[67] दासता के प्रति यूनानी अवधारणा अरस्तू के कथनों में स्पष्टतया झलकती है ।[68] अरस्तू के कथनों से ऐसा लगता है कि वे लोग दासियों को काफी सम्मानजनक स्थिति में

रखते थे। दास-दासियाँ परिवार के एक प्रमुख अंग के रूप में थी। स्वामी से इनके सम्बन्धों की तुलना अरस्तू आत्मा एवं शरीर के सम्बन्धों से करता है और प्रत्येक को दूसरे का पूरक बताता है।[69] ये सभी बातें दासता के पाश्चात्य दृष्टिकोण के उदाहरण हैं। दासता के प्रति प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण की इस विचारधारा से समानता केवल इसी सीमा तक है कि वह भी केवल दास-दासियों के प्रति स्वामी के उदार दृष्टिकोण की अपेक्षा रखता है। उनके प्रति सम्यक् व्यवहार, दास-दासियों को सम्यक् भोजन कराकर स्वामी का भोजन करना[70] जैसे आदर्श धर्मशास्त्र साहित्य में भी मिलते हैं, लेकिन यूनानी संस्कृति की तरह भारतीय संस्कृति दासता को प्राकृतिक नहीं मानती। दास दासियाँ राज्य के आवश्यक अंग के रूप में नहीं देखे जाते थे और न ही समाज उन पर अनिवार्यतः निर्भर था। दासता के प्रति यूनानी तथा भारतीय दृष्टिकोणों का यह मौलिक अन्तर ही सम्भवतः मेगस्थनीज द्वारा भारत में दासता के अस्तित्व को नकारने का रहस्य रहा होगा। भारत में कभी भी दासता को प्राकृतिक एवं सहज नहीं बताया गया। यूनान में दासता नागरिक जीवन अथवा राज्य के संगठन की आधार थी, किन्तु भारतीय समाज में दासता एक ऐसा सामाजिक तथ्य थी जिसकी सामाजिक संगठन के विधेयात्मक स्वरूप में कोई भूमिका नहीं थी। प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने उसे एक सामाजिक यथार्थ के रूप में देखा है, सृष्टि अथवा ब्रह्माण्ड के अंग के रूप में नहीं।

अधीतकालीन साक्ष्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में दासियों का बड़े पैमाने पर व्यापार होता था।[71] इस प्रकार वे न केवल तत्कालीन व्यक्तियों की सुख सुविधा की एक आवश्यक अंग थी, वरन् तत्कालीन आर्थिकसमृद्धि की भी कारक तत्व रही होगी। इस सम्बन्ध मे लेखपद्धति के विवरण दासी व्यापार का महत्वपूर्ण चित्र प्रस्तुत करते हैं।[72] यही नहीं लिखनावली[73] गणितसारसंग्रह[74] उपमितिभवप्रपंचकथा[75] राजतरंगिणी[76] तथा लीलावती[77] में अनेक ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे पूर्व-मध्यकाल में दास व्यापार की बात पुष्ट होती है। बसरा के बाजार में अविवाहित और श्वेतवर्ण की स्त्रियों की खरीददारी होती थी, जिनका मूल्य लगभग 1000 दीनार से लेकर 10,000 दीनार तक होता था। दकन की श्वेतवर्णा स्त्रियों की कीमत बहुत अधिक हुआ करती थी। उनकी बिक्री एवं खरीद अत्यधिक ऊँची थी। श्यामवर्ण की स्त्रियाँ प्रमुख रूप से घरेलू कार्यों को सम्पन्न करने के उद्देश्य से खरीदी जाती थी। बसरा में होने वाला भारतीय दासियों का यह व्यापार अरब व्यवसायियों द्वारा किया जाता रहा होगा। क्योंकि अरबों का आधिपत्य उस समय तक भारत के कुछ भागों पर स्थापित हो चुका था।[78] पूर्वमध्यकालीन भारत मे नगरों के प्रमुख चौराहों पर दास-दासियों का क्रय विक्रय होता था।[79] लेखपद्धति इससम्बन्ध में चतुष्पथ का उल्लेख करती है।[80] भारत मे मध्य-पूर्वी देशों में भी दासियों के व्यापार की चर्चा मिलती है।[81] यही नहीं, विदेशों में भी भारत में इनका आयात किया जाता था।[82] राउलवेल अभिलेख

दासों के बाजार का अभिलेखीय प्रमाण प्रस्तुत करता है ।[83] लेकिन इस साक्ष्य से दृढ़ता के साथ ऐसा नहीं कहा जा सकता कि आयातित दासियों की बिक्री यहाँ होती थी तथापि इतिहासकारों को इस बात में कुछ बल अवश्य दिखाई देता है कि व्यापारिक स्तर पर दासियों के आयात-निर्यात तथा बड़े पैमाने पर उनके क्रय-विक्रय के केन्द्रों और बाजारों के उदय के साथ-साथ दासता के नवीन आयाम जरूर ही विकसित हुए होंगे ।[84]

तत्कालीन इतिहास में भारत के बाहर भी बाइजेन्टाइन साम्राज्य दासों की खपत का एक अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र था ।[85] यही नहीं, किस प्रकार सामुद्रिक मार्गों को एक दूसरे से जोड़कर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले व्यापारों को बढ़ावा दिया गया था, इतिहासकारों की दृष्टि से यह भी अछूता नहीं रहा। भारतीय इतिहास के स्रोत ऐसे प्रमाणों से भरे पड़े है । एक मुस्लिम इतिहासकार के अनुसार अब्दुल मलिक {8वीं शताब्दी ई0} जो ईरान का सुल्तान था, ने कुछ दासियों को खरीद के लिए आदमी हिन्दुस्तान भेजा था ।[86] लिखनावली के 31 लेखों में से 5 लेख दासियों की खरीद-बिक्री एवं उनके बंधक बनाने से सम्बन्धित है ।[87] गुजरात क्षेत्र में ऐसे क्रय-विक्रय का प्रमाण लेखपद्धति से मिल जाता है ।[88] दासियों के व्यापार व आत्म-विक्रय में जाति कोई कठोर बंधन नहीं दिखाई पड़ता । लेखपद्धति में एक राजपूत लड़की अपने को दासी के रूपमें एक वैश्य के हाथों बेचती हुई दिखाई गई है ।[89] कभी-कभी आर्थिक विपन्नता एवं अन्य आपत्ति-कालीन परिस्थितियों में स्त्रियाँ अपने बच्चे को बेंच देती थी । ऐसा साक्ष्य

वायुपुराण से मिलता है ।[90] विवाह के लिए दासियों के क्रय-विक्रय का उल्लेख लिखनावली में भी मिलता है ।[91] इन उल्लेखों से ऐसा लगता है कि न केवल आर्थिक दृष्टिकोण से ही बल्कि पारिवारिक जीवन की सुख-सुविधा हेतु भी दासियों का क्रय-विक्रय होता था ।

इन दासियों के विक्रय के सम्बन्ध में कतिपय वैधानिक व्यवस्थायें, उनके मूल्यों का निर्धारण एवं क्रय-विक्रय की शर्तें तथा उनके बन्धन से मुक्त होने के विधान भी पूर्वमध्यकालीन स्रोतों में मिलते हैं । लेखपद्धति में ऐसे प्रमाण मिलतेहैं कि दासियों के क्रय केलिए दिन, तिथि, वर्ष एवं क्रेता-विक्रेता का नाम तथा उस दासी का नाम जो स्वयं को विक्रय के लिए उपस्थित करती है, इत्यादि का उल्लेख होता था। यही नहीं, गवाह एवं लेखक के उल्लेख का भी प्रमाण मिलता है।[92] लिखनावली में भी इसी से मिलते-जुलते साक्ष्य प्राप्त होते हैं ।[93] उनके मूल्य- निर्धारण की समस्या पर गणितसार-संग्रह में कुछ महत्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है ।[94] लेकिन यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि कुछ लेखकों ने इस गुणात्मक एवं मात्रात्मक वर्णन के आधार पर भारतीय व्यापार में ह्रास तथा दास-प्रथा के ह्रास की बात की है जो कि अधिक तर्कसंगत नहीं लगती । यही नहीं, उससे कतिपय पूर्वाग्रहों की गंध भी आती है। दासीकीउम्र, उसके विक्रय के समय, कभी-कभी मूल्यों के निर्धारण, उसके उपयोग आदि में निर्णायक भूमिका अदा करती थी ।[95]

दासियों के लिए अनेक प्रकार के दण्डों का भी विधान था। अपने कार्य में असावधानी बरतने, कार्य में त्रुटि हो जाने तथा कतिपय अन्य कारणों से भी उन्हें कभी-कभी कठोर दण्ड दिये जाते थे। दासियों को पीटना आम बात थी। दशकुमारचरित में ऐसे छिट पुट विवरण मिलते हैं।[96] त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित से ज्ञात होता है कि कभी-कभी दासियों की हत्या तक कर दी जाती थी जिसके लिए बड़े ही निर्दयी तरीके अपनाये जाते थे। हेमचन्द्र ने प्रभावती नामक एक रानी के विषय में लिखा है कि उसने अपनी निरपराध दासी की दर्पण से हत्या कर दी।[97] इससे यह प्रतीत होता है कि दासी को स्वामी के विरुद्ध शारीरिक सुरक्षा के सामाजिक आश्वासन की कोई परम्परागत व्यवस्था नहीं थी। अनुदार एवं निर्दयी स्वामी उन्हें शारीरिक आघात पहुँचाने से लेकर प्राण लेने तक की यातनायें दे सकते थे। लेकिन सामान्यत: ऐसा होता नहीं रहा होगा, क्योंकि दास स्वामी की सम्पत्ति होते थे और उन्हें नष्ट करने से या शारीरिक क्षति पहुँचाने से स्वयं स्वामी को ही हानि होती थी। इसलिए ऐसी यातनायें केवल राजा-महाराज या बड़े सेठ-साहूकारों द्वारा ही कभी-कभी ही दी जाती रही होंगी। जिन्हें अपनी सम्पत्ति के क्षय की कोई विशेष चिन्ता न होती रही होगी। इसलिए दासियों को यातनायें के ऐसे उल्लेख अपवाद हो लगते हैं, तथा ऐसी घटनायें आचार-व्यवहार की आवेशात्मक परिस्थितियों में ही घटी होगी। सामान्यतया उनके साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार ही किया जाता रहा होगा, दुर्व्यवहार कम। उत्तेजनावश किये जाने वाले दुर्व्यवहार के उदाहरण के रूप में त्रिशष्टिशलाकापुरुष-

चरित के उल्लेख महत्वपूर्ण लगते हैं । कभी-कभी कुलीन परिवारों की स्त्रियाँ अपनी दासी के प्रति ईर्ष्या से कलुषित होकर उन्हें कठोर यातनायें देती थी । विशाष्ठशलाकापुरुषचरित में वसुमति नामक एक ऐसी ही दासी का उल्लेख है जिसको एक सम्पन्न व्यक्ति ने खरीदा था लेकिन उसकी विवाहिता पत्नी को उस दासी के साथ अपने पति के अनैतिक सम्बन्ध का सन्देह हो गया और उसने वसुमति को कठोर यातनायें दी ।[98]

पूर्व मध्यकालीन साक्ष्यों में दासियों के कतिपय साम्पत्तिक अधिकारों की भी चर्चा मिलती है । बेलूर तालुका से प्राप्त एक अभिलेख[99] में स्पष्टतया यह उल्लेख मिलता है कि यदि किसी व्यक्ति का कोई भी प्राधिकारी न हो तो उसकी भूमि और सम्पत्ति दासी के बच्चे को दी जा सकती है । 1165 ई० का एक अभिलेख [100] दासियों के अक्षय-कोश का उल्लेख करता है । 1200 ई० का एक अन्य अभिलेख इससे मिलता-जुलता साक्ष्य प्रस्तुत करता है ।[101] 1343 ई० का एक अभिलेख उक्त बातों को और अधिक पुष्टि प्रदान करता हुआ दासियों एवं उनके बच्चों को परिवार के अन्य सदस्यों की भाँति सम्पत्ति में अधिकारी होने की बात करता है।[102]

साम्पत्तिक अधिकारों के अतिरिक्त कतिपय अन्य कानूनी सुरक्षायें भी दासियों के लिए उल्लिखित मिलती है । अग्निपुराण में कहा गया है कि दासी के गर्भ का विनाश करने पर 100 पणों का अर्थदण्ड लगाना चाहिये । स्मृतिकारों ने दासियों के ऐसे अन्य वैधानिक अधिकारों की चर्चा की है ।

याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार किसी भी दासी का उसकी इच्छा के प्रतिकूल शील भंग करने का किसी को अधिकार नहीं था ।[104] कौटिल्य की तरह याज्ञवल्क्य ने भी दासी के भ्रूण की हत्या करने वाले पर अर्थदण्ड का विधान किया है। इस प्रकार स्मृतियों का यह नियम कौटिल्य के नियमों[105] का अनुगमन करता हुआ प्रतीत होता है। याज्ञवल्क्य ने स्वामी के लिए दासियों पर ऐसे अत्याचार करने पर कठोर दण्ड की व्यवस्था दी है ।[106] दासी - पुत्रों के अन्य अनेक वैधानिक अधिकारों की चर्चा स्मृतियों के आधार पर कतिपय इतिहासकारों[107] ने भी सिद्ध करने की कोशिश की है, लेकिन ऐसे दासी पुत्रों में दासी के दासता में आबद्ध होने के कारणों की सम्यक जाँच के आधार पर, अलग-अलग नियमों का प्रतिपादन किया गया है ।

उपर्युक्त विवरणों के आधार पर कतिपय महत्वपूर्ण बातें उभर कर सामने आती है । जहाँ तक दासियों की सामाजिक स्थिति का प्रश्न है, उन्हें पूर्णतया अपने स्वामी की दया पर नहीं छोड़ा गया था । उनके कुछ वैधानिक अधिकार थे और उन्हें कुछ सामाजिक और राजकीय सुरक्षा का आश्वासन भी प्राप्त था। लेकिन इस आश्वासन के बावजूद उन्हें स्वामी की यातनाओं वासनाओं एवं दुर्व्यवहारों का शिकार बिना किसी क्षति के बनाया जा सकता था । सामान्यतया इस प्रकार के व्यवहार दासियों के साथ नहीं होते रहे होंगे और यदि होते भी रहे होंगे तो दासियों को किसी प्रकार की स्थायी क्षति न पहुँचने की सीमा तक ही क्योंकि उनकी शारीरिक क्षति से वस्तुतः स्वामी का ही आर्थिक क्षति और

असुविधा की सम्भावना थी । तथापि कभी-कभी आवेश एवं उद्वेग के क्षणों में दासियों के साथ होने वाले दुर्व्यवहार सारी सीमायें पार करके अपराध की, उसके बध तक की, स्थिति तक पहुँच जाते रहे होगें । पूर्वमध्यकाल में दास दासियों का नियोजन सभी प्रकार के कार्यों में होता था । उत्पादन के कार्यों से उन्हें एकदम अलग नहीं किया गया था । अशुभ कार्य दास-दासियों के विशेष क्षेत्र अवश्य थे किन्तु शुभ- कार्यों में भी वे सम्मिलित होती थी । अधीतकाल में प्राप्त होने वाले उल्लेखों एवं दासियों के व्यापार को देखते हुए दास-प्रथा में ह्रास की बात नहीं की जा सकती । दासता इस काल में भी सामाजिक यथार्थ के रूप में ही देखी जाती रही, सैद्धान्तिक स्तर पर उसके तार्किक, नैतिक अथवा धार्मिक समर्थन का उल्लेख नहीं मिलता । अधिक से अधिक दासता को पूर्वजन्म के पापों के दण्ड के रूप में कहीं-कहीं व्याख्यायित किया गया है ।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1- अग्रवाल, वासुदेव शरण, कादम्बरी: एक सांस्कृतिक अध्ययन, पटना, सं0 2021, पृ0 119 तथा 200 ।

2- वही, पृ0 198 ।

3- अग्रवाल, वासुदेव शरण, हर्षचरित: एक सांस्कृतिक अध्ययन, पटना, सं0 2021, पृ0 66-67 ।

4- वही, पृ0 104 ।

5- अग्रवाल, वासुदेव शरण, कादम्बरी: एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0 238 ।

6- अग्रवाल, वासुदेव शरण, हर्षचरित: एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0 66 ।

7- वही, पृ0 68 ।

8- वही, पृ0 92 ।

9- वही, पृ0 144 ।

10- दशकुमारचरित, पृ0 166 ।

11- वही ।

12- अग्निपुराण, 258, 31-32, पृ0 377 ।

13- कुट्टनीमतमकाव्यम्, दामोदरगुप्त (अनु0 अत्रिदेव विद्यालंकार), वाराणसी, 1961, पृ0 82, 111, 119, 129, 145, 147, 159, 164, 168, तथा 176-178 ।

14- वही, पृ० 111 ।

15- वही, पृ० 145 । पूजा सामग्री ढोने अथवा लेकर खड़ी रहने हेतु दासियों के उपयोग की चर्चा भी इस ग्रन्थ में मिलती है । (देखिए पृ० 178)

16- वही, पृ० 159 ।

17- वही ।

18- वही, पृ० 164 ।

19- कर्पूरमंजरी, पृ० 43।

20- वही, पृ० 18 तथा पृ० 22 एवं 25।

21- वही, पृ० 57 ।

22- वही, पृ० 68 ।

23- वही, पृ० 91 ।

24- उत्तरपुराण, 62, 326-47, पृ० 160-161 ।

25- कथासरित्सागर, पृ० 140 तथा 255 ।

26- वही, पृ० 307 ।

27- वही, पृ० 255 ।

28- त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, 15-18, पृ० 150 ।

29- यशस्तिलकचम्पू, 3,207, पृ० 298 ।

30- तिलकमंजरी, 79 ।

31- महापुराण, 1.3.125 ।

32- मनु० पर मेधातिथि का भाष्य, 9.185 ।

33- याज्ञ0 पर मिताक्षरा, 2.182-185 तथा 290 ।

34- वही, 2.290 ।

35- कुवलयमाला, प्रथम भाग, बम्बई 1959, पृ0 20, 30, 39, 186, 239 ।

36- समराइच्चकहा, पृ0 39 ।

37- राजतरंगिणी, 8.520-521

38- वही, 1.151 ।

39- वही, 7.481 ।

40- गणितसारसंग्रह, पृ0 89 ।

41- लीलावती, पृ0 102 ।

42- उपमितिभवप्रपंचाकथा, पृ0 404 ।

43- लेखपद्धति, पृ0 45-47 ।

44- लिखनावली, पृ0 42-43 ।

45- इन विवरणों के लिए देखिए इसी शोध प्रबन्ध का अध्याय 3 ।

46- मदनरत्नप्रदीप {संपा0} आर्येन्द्र शर्मा, हैदराबाद, 1964, पृ0 72, 93, 96 तथा 98-99 ।

47- वासुदेव हिण्डी, द्वारा उद्धत-जैन जे0सी0 प्राकृत जैन कथा साहित्य, अहमदाबाद, 1971, पृ0 156 ।

48- मानसार द्वारा उद्धत- शर्मा, आर0एस0 इण्डियन फ्यूडलिज्म, कलकत्ता, 1965, पृ0 204-205 ।

49- गोपाल, लल्लन जी, इकॉनमिक लाइफ ऑफ नार्दर्न, इण्डिया, वाराणसी, 1965, पृ0 78 ।

50- श्रृंगारमंजरीकथा, पृ0 39 ।

51- पउमचरिय, जिल्द 6, भाग 1, 3, श्लोक 102, पृ0 44 ।

52- एपीग्राफिया इण्डिका, जिल्द 20, पृ0 249 ।

53- विस्तृत अध्ययन के लिए द्रष्टव्य- इसी शोध प्रबन्ध का अध्याय 3 ।

54- शर्मा, आर0 एस0 भारतीय सामन्तवाद, पृ061-63 ।

55- वही ।

56- सेलेक्ट इन्सक्रिप्शंस, भाग2, पृ0 54, 428, 721-221

57- एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 1, पृ0 49 ।

58- त्रिषष्टिशलाकापुरूषचरित, 9, 11-12 पृ0 164 ।

59- लेखपद्धति, पृ0 45-47 ।

60- नेगी, जे0एस0''सम लाइट आन द इन्सटीट्यूशंस आफ स्लेवरी फ्राम द लिखनावली, आफ विद्यापति", के0 सी0 चट्टोपाध्याय मेमोरियल वाल्यूम, इलाहाबाद, 1975, पृ0 95 ।

61- समराइच्चकहा, पृ0 39 ।

62- कर्पूरमंजरी, 4 पृ0 164; मानसोल्लास, 28, 26, 560-61, पृ0 80 ।

63- जैन, पी0सी0, लेबर इन ऐन्शियण्ट इण्डिया, पृ0 155 ।

64- पोसेन, एम0एम0, मेडिवल ट्रेड ऐण्ड कामर्स, पृ0 306 ।

65- कथासरित्सागर, 56, 261, पृ0 290 ।

66- वसुदेवहिण्डी, 18, पृ0 219-29 ।

67- यशस्तिलकचम्पू, 3, 207, पृ0 218।

68- दासता के प्रति अरस्तु एवं प्लेटो की अवधारणाओं के लिए देखिए- इसी शोध प्रबन्ध का अध्याय" दासता की अवधारणा- स्वरूप एवं सिद्धान्त"।

69- बार्कर, ई0, द पोलिटिकल थाट ऑफ प्लेटो एण्ड अरिस्टाटिल, पृ0 359-264 एवं द्विवेदी एल0पी0 "पूर्व मध्यकालीन भारत में नागरिक दासता" समाज,धर्म एवं दर्शन वर्ष 5, भाग 2, इलाहाबाद 1987 ।

70- मनु0 3.116 ।

71- श्रीवास्तव, ओ0पी0,"स्लैव ट्रेड इन ऐशियन्ट एण्ड अर्ली मेडीवल इण्डिया" प्रोसीडिंग्स आफ द इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, हैदराबाद, 1978 पृ0 124 ।

72- लेखपद्धति, पूर्वोद्धृत ।

73- नेगी, जे0 एस0,पूर्वोद्धृत ।

74- गणितसारसंग्रह, पृ0 86 ।

75- उपमितिभवप्रपंचकथा, पृ0 404 ।

76- राजतरंगिणी, 8,520-21,पृ0 233 ।

77- लीलावती, पृ0 102 ।

78- बुलन्वा, एल0, द मिल्करोड,पृ0 196, द्वारा उद्धृत: शुक्ल,डी0 एन0,उत्तर भारत की राजस्व व्यवस्था, पृ0 148 ।

79- द्विवेदी, एल०पी० पूर्वोद्धत ।

80- वही ।

81- मुकर्जी, एस०, सम आस्पेक्ट्स ऑफ सोशल लाइफ इन ऐंशियण्ट इण्डिया §325ई०पू०- 200 ई०§, पृ० 233 ।

82- राजतरंगिणी, 8. 520-21, पृ० 233 ।

83- राउलबेल अभिलेख और उसकी भाषा, माता प्रसाद गुप्त §उद्धत : शुक्ला, डी०एन०, पूर्वो० §।

84- शुक्ल, डी०एन०, पूर्वो०, पृ० 148-149 § भोग विलास के साधनों के रूप में उनका उपयोग तथा शासन के कार्यों में दासियों का हस्तक्षेप निश्चित रूप से विदेशी प्रेरणा पर विकसित दासता की भारतीय प्रवृत्तियाँ रही होंगी §।

85- एण्डरसन, पेरी, पैसेजेज फ्राम एण्टीक्विटीज टु फ्यूडलिज्म पृ० 234-37 ।

86- इलियट एण्ड डाउसन, भाग 1, पृ० 118, पाद टिप्पणी सं० 2 ।

87- नेगी, जे०एस०, पूर्वोद्धत ।

88- द्विवेदी, एल०पी०, पूर्वोद्धत ।

89- वही ।

90- पाटिल, डी०आर०, कल्चरल हिस्ट्री फ्राम द वायुपुराण, पृ० 39 ।

91- नेगी, जे० एस०, पूर्वोद्धत ।

92- लेखपद्धति, पूर्वोद्धृत ।

93- गेगो, जे0एस0,पूर्वोद्धृत ।

94- गणितसारसंग्रह,पृ0 46 ।

95- लेखपद्धति, पूर्वोद्धृत,' इलियट एण्ड डाउसन, भाग3, पृ0 196 ।

96- दशकुमारचरित,पृ0 166 और आगे ।

97- त्रिशष्टिशलाकापुरूषचरित,15,18, पृ0 150 ।

98- वही, 552-56, पृ0 60 ।

99- एपीग्राफिया कर्नाटिका, भाग5, ¦1¦ पृ0 110 ।

100- वही, पृ0 488 ।

101- एपीग्राफिया इण्डिका,भाग 29,पृ0 142 ।

102- एपीग्राफिया कर्नाटिका, भाग6, पृ0 49-50 ।

103- अग्निपुराण, 258 , 21-32 ।

104- याज्ञवल्क्यस्मृति,व्यवहारकाण्ड,291,और 299 ।

105- अर्थशास्त्र,अध्याय 13 ।

106- याज्ञवल्क्यस्मृति, साहसप्रकरण, श्लोक 236-37।

107- मजूमदार, बी0 पी0,क्वार्टर्ली रिव्यू आफ हिस्टारिकल स्टडीज, भाग 18, ¦2¦ 1978-79,पृ0 112-15 ।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

(क) मौलिक ग्रन्थ :

अर्थशास्त्र — कौटिल्य, सम्पा०- आर० शामाशास्त्री, मैसूर, 1919 ।

अपराजितपृच्छा — भुवनदेव, जी०ओ०एस०, नं० सी० 16, 1950 ।

अभिधान चिन्तामणि — हेमचन्द्र, वाराणसी, 1964 ।

अवदान कल्पलता — क्षेमेन्द्र, 2 भागों में, बी०ई०, 1888 ।

आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प — सम्पा०- टी० गणपतिशास्त्री, गवर्नमेन्ट प्रेस, त्रिवेन्द्रम, 1920 ।

उक्तिव्यक्ति प्रकरण — दामोदर पण्डित, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1953 ।

उपमितिभवप्रपञ्चाकथा — सिद्धर्षि, सम्पा०-पी० पेटर्सन, कलकत्ता, 1899 ।

ऋग्वेद-संहिता — चौखम्बा संस्कृत सीरीज, 1966 (अंग्रेजी अनुवाद, ग्रिफिथ, आर०टी० एच०, बनारस, 1926) ।

कथासरित्सागर — सोमदेव, एन० एस०पी०, 1811 ।

कर्पूरमंजरी — राजशेखर, सम्पा०- स्टेनकोनो, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी, 1901 ।

कलाविलास — क्षेमेन्द्र, काव्यमाला, भाग 1 ।

कादम्बरी — बाणभट्ट, एन०एस०पी०, 1848 ।

कामसूत्र — वात्स्यायन, एन०एस०पी०, द्वितीय संस्करण, वाराणसी, 1924 ।

काव्यमीमांसा — राजशेखर, जी0ओ0एस0, बड़ौदा ।

कुट्टनीमतम् — राजशेखर, वाराणसी 1961 ।

कृत्यकल्पतरू — लक्ष्मीधर, बड़ौदा, 1921 ।

गीत गोविन्द — जयदेव, एन0एस0पी0 1929 ।

गृहस्थ रत्नाकर — चन्देश्वर, कलकत्ता, 1928 ।

गौतम धर्मसूत्र — सम्पा0- स्टेञ्जलर, ए0एस0, लन्दन, 1876 ।

चतुर्वर्ग चिन्तामणि — हेमाद्रि, एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, 1921 ।

जातक — सम्पा0-फासवाल, वी0 जिल्द 1-7, लन्दन 1877-97 (अंग्रेजी अनुवाद, सम्पादक- काविल, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी, 1895-1907) ।

तन्त्रवार्तिक — कुमारिल, बनारस संस्करण, 1938 ।

दर्पदलन — क्षेमेन्द्र, काव्य माला, भाग-4 ।

दशरूपक — धनञ्जय, सम्पा0- गोविन्द त्रिगुणायत, साहित्य निकेतन, कानपुर, 1954 ।

दशावतारचरित — क्षेमेन्द्र, काव्यमाला, 26, (एन0एस0 पी0), 1891 ।

दसकुमार चरित — दण्डी, सम्पा0- काले, एम0 आर0, ओरियण्टल पब्लिशिंग कम्पनी, बम्बई, 1917 ।

दायभाग — जीमूतवाहन, द्वितीय संस्करण, सिद्धेश्वर प्रेस, कलकत्ता, 1893 ।

देसीनाम माला — हेमचन्द्र, कश्मीर सीरीज ऑफ टेक्स्ट एण्ड स्टडीज, नं0 40, 1923 ।

दोहाकोश	सिद्ध सराहपाद, सम्पाद- बागची, पी०सी०, कलकत्ता, 1935 ।
द्याश्रयमहाकाव्य	हेमचन्द्र, जिल्द 2, संस्कृत सीरीज, बम्बई, 1915 ।
नैषधीय चरित	श्रीहर्ष, एन०एस०पी०, 1933 ।
नारद स्मृति	अनुवादक-जॉली० जे०, ऑक्सफोर्ड, 1889 ।
नाट्यशास्त्र	भरतमुनि, अभिनव गुप्त की टीका, जी०ओ० एस०, नं० एल018, 1938 ।
नीतिवाक्यामृतम्	सोमदेव, एम०डी०जे०जी०, बम्बई, 1887-88 ।
परिशिष्टपर्वन्	हेमचन्द्र, अनु०-जेकोबी, एच०सी०, कलकत्ता, 1883 ।
प्रबन्धचिन्तामणि	मेरूतुंग, सम्पा०- द्विवेदी, एच०पी०, एस०जे०जी०, नं० 3, 1940, अनु०-टायुनवी, कलकतता, 1901 ।
प्रबोध चन्द्रोदय	कृष्ण मिश्र, संपा ०- शास्त्री, के०एस०, त्रिवेन्द्रम, 1936 ।
पृथ्वीराज रासो	चन्दबरदाबी, एन०पी० जी० सीरीज ।
ब्रह्मपुराण	आनन्दाश्रम संस्करण, 1895 ।
ब्राह्मण सर्वस्व	हलायुध, कलकत्ता, 1893 ।
बृहज्जातकम्	वराहमिहिर, भट्टोत्पल की टीका सहित, वाराणसी, सं० 2031 ।
बृहत्कथाकोश	हरिषेण, एस०जे० जी०, नं०-17 ।
बृहत्कथा मंजरी	क्षेमेन्द्र, काव्य-माला, 69, 1901 ।
बृहत् संहिता	वराहमिहिर, सम्पा०- केर्न, एच०, बी०आई०,

बृहन्नारदीय पुराण	संपा0- शास्त्री, एच0, एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, 1891 ।
बृहस्पति स्मृति	जी0ओ0 एस0, 1941 ।
बोधिसत्वावदान-कल्पलता	क्षेमेन्द्र, जिल्द-2, बी0आई0, 1888 ।
भागवतपुराण	गीताप्रेस, गोरखपुर, वि0सं0 2011 ।
भोज प्रबन्ध	द वेलवेडियर प्रेस, संस्कृत सीरीज, नं0-5 ।
मत्स्य पुराण	एस0बी0 ई0 सीरीज ।
मनुस्मृति	सम्पा0- माण्डलिक, वी0एन0, बम्बई, 1886 । §अंग्रेजी अनुवाद, ब्यूलर, जी0, सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट, 25, ऑक्सफोर्ड, 1886§ ।
मनुस्मृति पर कुल्लूक	हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला, नं0 114, बनारस, 1935 ।
मनुस्मृति पर मेधातिथि	§संपा0§ झा.,जी. एन0, एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, 1932।
महाभारत	नीलकण्ड की टीका सहित, पूना, 1929 ।
मयमत	सम्पा0- गणपतिशास्त्री, टी0, त्रिवेन्द्रम, 1919 ।
मानसार	सम्पा0- आचार्य, पी0के0, ऑक्सफोर्ड, यूनिवर्सिटी प्रेस, 1933 ।
मानसोल्लास	जिल्द -2, जी0ओ0 एस0, 1926, एवं 1939 ।
मिताक्षरा	विज्ञानेश्वर, एन0 एस0पी0, बम्बई, 1909 ।

याज्ञवल्क्य स्मृति	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, संवत्-1986 ।
याज्ञवल्क्यस्मृति	अपरार्क की टीका, ए0एस0एस0, जिल्द 2, पूना, 1903, 1904 ।
याज्ञवल्क्य स्मृति	विज्ञानेश्वर की टीका, पुना, 1903 ।
युक्ति कल्पतरू	भोज, अनु0-शास्त्री, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, कलकत्ता, 1917 ।
वायु पुराण	सम्पा0- मिश्रा, राजेन्द्रलाल, कलकत्ता, 1880 ।
वाल्मीकि रामायण	एन0एस0पी0, बम्बई, 1881-82 ।
विक्रमांकदेव चरित	बिल्हण, अनु0 ब्यूहलर, जी0, बम्बई, संस्कृत सीरीज, नं0 14, 1875 ।
विष्णु स्मृति	सम्पा0- जाली, जे0, बिब्लीथिका इण्डिका, कलकत्ता, 1881 ।
	(अनु0-जाली, जे0, सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट, 7, ऑक्सफोर्ड, 1880) ।
विष्णुपुराण	संस्कृत संस्थान, बरेली, 1967 ।
वीरमित्रोदय	मित्रमिश्र, जिल्द 4, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, 1913 ।
शुक्रनीति	अनु0- सरकार, बी0के0, इलाहाबाद 1914 ।
राजतरंगिणी	कल्हण, अनु0-स्टेन, एम0ए0, बम्बई, 1892 ।
लिखनावली	विद्यापति, इन्द्रायल प्रकाशन, पटना, 1969 ।

लेखपद्धति	जी0ओ0एस0, 1925 ।
लीलावती	भास्कराचार्य, अनु0 पं0 राधावल्लभ, कलकत्ता, शक, 1835 ।
स्मृतिचन्द्रिका	अनु0-श्री निवासाचार्य, एल0, मैसूर, 1914 ।
स्मृतिचिन्तामणि	गंगादित्य, अनु0 रोचर, लुडो, बड़ौदा 1986 ।
समयमातृक	क्षेमेन्द्र, काव्यमाला सीरीज, बम्बई, 1927 ।
समरांगणसूत्रधार	जिल्द 1, अनु0-शुक्ला, डी0एन0, दिल्ली, 1965 ।
समराइच्चकहा	हरिभद्र सूरी, अनु0-जैकोबी, एच0, कलकत्ता, 1926 ।
सुभाषित रत्नकोश	अनु0- कोसाम्बी, डी0डी0, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1957 ।
सेव्यसेवकोपदेश	क्षेमेन्द्र, काव्यमाला, भाग- 2 ।

§ख§ <u>विदेशी विवरण :</u>

इलियट, एच0एम0	हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एज टोल्ड बाई इट्स ओन, हिस्टोरियन्स, जिल्द 8, लन्दन, 1866-77 ।
गाइल्स, एच0ए0	द ट्रैवेल्स ऑफ फाहयान, रेकार्ड ऑफ बुद्धिस्टिक किंगडम्स, कैम्ब्रिज, 1923 ।
बील, एस0	बुद्धिस्ट रेकार्ड्स ऑफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, कैम्ब्रिज, 1940 ।

मैक्रिण्डल, जे0 डब्ल्यू0 — ऐंशियण्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज ऐण्ड एरियन, कलकत्ता, 1926 ।

— ऐंशियण्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई क्लैसिकल लिटरेचर, वेस्टमिन्स्टर, 1901 ।

यूले, सर हेनरी — द बुक ऑफ सर मार्क पोलो, अनु0 और सम्पाद- यूले, सर हेनरी, जिल्द- 2, लन्दन, 1903 ।

वार्टर्स, टी0 — ऑन-युवान्-च्वांग्स ट्रैवेल्स इन इण्डिया, अनु0-टी0 डब्ल्यू0 आर0 डेविड्स एण्ड एस0 डब्ल्यू0 बुशेल, जिल्द-2, लन्दन, 1904-1905 ।

सचाऊ, ई0सी0 — अल्बेरूनीज, इण्डिया, जिल्द-2, लन्दन, 1910 ।

होदीवाला, एच0एस0 — स्टडीज इन इण्डो-मुस्लिम कल्चर, बम्बई, 1939 ।

(ग) अभिलेख :

पीटर्सन, पी0 — ए कलेक्शन ऑफ प्राकृत एण्ड संस्कृत इन्स्क्रिप्शन्स, भावनगर, 1905 ।

फ्लीट, जे0 एफ0 — सी0 आई0आई0, कलकत्ता, 1888 ।

भण्डारकर, डी0आर0 — लिस्ट ऑफ इंस्क्रिप्शंस ऑफ नार्दर्न इण्डिया ।

मजूमदार, एन0जी0 — इंस्क्रिप्शन्स ऑफ बंगाल, कलकत्ता, 1954 ।

मिराशी, वी0वी0 — इंस्क्रिप्शन्स ऑफ द कलचुरिचेदि एरा, सी0आई0आई0 जिल्द- 2 ।

सरकार, डी0सी0 — सेलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स, बियरिंग ऑन इण्डियन हिस्ट्री

﴾घ﴿ कोश एवं विश्वकोश :

0 अमरकोश अनु0-शर्मा, ए0डी0और देसाई एन0जी0, पूना, 1941 ।

0 इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका ।

0 ए संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, मोनियर, विलियम, एम0, ऑक्सफोर्ड, 1899 ।

0 पालि इंग्लिश डिक्शनरी, डेविड्स, टी0 डब्ल्यू0 आर0, और स्टेड, डब्ल्यू0, लन्दन, 1921 ।

0 मैक्डोनेल, ए0ए0, और कीथ, ए0बी0, वैदिक इंडेक्स आफ नेम्स एण्ड सब्जेक्ट्स, जिल्द-2, लन्दन, 1912 ।

0 शब्दकल्पद्रुम ।

﴾च﴿ सहायक ग्रन्थ –

अग्निहोत्री, सत्यनामा फ्रीडम फ्राम स्लेवरी टु लोअर फोर्सेस ऐण्ड हायर इवोल्यूशन ऑफ मैन, मोगा, देव समाज, 1940 ।

अग्रवाल, आर0सी0 द पोजीशन ऑफ स्लेव्ज ऐण्ड सर्फ्स एज डिपिक्टेड इन खरोष्ठी इन्सक्रिप्शन्स फ्रॉम चाइनीज़ तुर्किस्तान, आई0एच0 क्यू0, वाल्यूम 29, नं0 2, जून 1953 ।

अग्रवाल वी0एस0 हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन, पटना, सं0 2021 ।

कादम्बरी, एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, 1970 ।

मत्स्य पुराण- ए स्टडी, वाराणसी, 1963 ।

अल्टेकर, ए०एस०	पोजोशन ऑफ वूमन इन हिन्दू सिविलाइज़ेशन, वाराणसो, 1938 ।
	द राष्ट्रकूटाज ऐण्ड देअर टाइम्स, पूना, 1967 ।
अप्पादोराई, ए०	इकॉनामिक कन्डोशन्स इन साउथ इण्डिया, दिल्लो, 1936 ।
अशरफ, के०एम०	लाइफ एण्ड कन्डोशन्स ऑफ द पोपुल ऑफ हिन्दुस्तान §1200-1550§, दिल्लो, 1935 ।
असोपा, जे०एन०	फ्यूडलिज्म, इन नार्दर्न इण्डिया §700-1200ए.डी. जयपुर ।
आद्या, जो०	अर्लो इण्डियन इकॉनामिक्स, बम्बई, 1966 ।
इरविन, जे०	क्लास स्ट्रगल इन ऐशयेण्ट इण्डिया, लन्दन, 1946 ।
उपाध्याय, वो०	सोशियो-रिलिजस कण्डोशन ऑफ नार्थ इण्डिया §700-1200ई०§, वाराणसो, 1964 ।
एडम, डब्ल्यू०	ला एण्ड कस्टम ऑफ स्लेवरो इन ब्रिटिश लन्दन, 1967 ।
एडम, जो०बो०	सिविलाइज़ेशन ड्यूरिंग द मिडिल एज, न्यूयार्क, 1922 ।
एरिक, डब्ल्यू०	कैपिटलिज्म ऐण्ड स्लेवरो, वर्जोनिया, 1945 ।
एंगेल्स, एफ०	द ओरिजिन ऑफ फेमिलो, प्राइवेट प्रापर्टो ऐण्ड स्टेट, मास्को, 1952 । ऐ०टो०-ड्यूहरिंग, मास्को,

एण्डरसन, पी०	पैसेजेज़ फ्राम ऐण्टीक्विटी टू फ्यूडलिज्म, लन्दन, 1975 ।
ओझा, ए०पी०	प्राचीन भारत में सामाजिक स्तरीकरण ,इलाहाबा 1992 ।
ओम प्रकाश	'इण्डियाज फारेन ट्रेड बिटवीन सी० 300 बी०सी ऐण्ड ए०डी० 400 एसम्पशान्स ऐण्ड इश्यूज' प्रोसी आफ द इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1982 ।
	कन्सेप्चुअलाइजेशन ऐण्ड हिस्ट्री इन अर्ली इण्डिय सोशियोइकानमिक स्टडीज़, इलाहबाद, 1992 ।
	' द इण्डियन फ्यूडलिज्म, मॉडिल ऑफ हिस्टोरियोग्राफी: ऐन असेसमेन्ट,' प्रोसीडिंग्स, आफ द इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1983. अर्ली इण्डियन लैण्ड ग्रान्ट्स ऐण्ड स्टेट इकानमी, इलाहाबाद, 1983 ।
क्लार्क, जी०	फ्राम सैवेज़री टू सिविलाईजेशन, लन्दन, 1946 ।
क्लूस्टरबोर, डब्ल्यू०	इन्वालन्ट्री लेबर सिन्स द एबॉलिशन ऑफ स्लेव लीडेन, 1961 ।
कमलम, के०ए०	"स्टडी ऑफ देवदासी सिस्टम इन मैसूर' सोशल हेल्थ, जिल्द 10, 1972 ।
कॉक्सन, ए०पी०एम० तथाजोन्स, सी०एल० {संपा०}	सोशल मोबिलिटी, लन्दन, 1975 ।

कांग्ले, आर०पी० — कौटिलीय अर्थशास्त्र-ए स्टडी, जिल्द3, बम्बई, 1965 ।

काणे, पी०वी० — धर्मशास्त्र का इतिहास, 5 जिल्दों में पूना, 1980

कामत, जे०के० — सोशल लाइफ इन मेडिवल कर्नाटक, दिल्ली, 1980

क्रिचले, जे० — फ्यूडलिज्म, लन्दन, 1978 ।

कोथ, एच० — कांकरर्स ऐण्ड स्लेव, कैम्ब्रिज, 1978 ।

क्रोसबर्ग, लुइस — सोशल इनइक्वैलिटी, न्यू जर्सी, 1979 ।

कुप्पु स्वामी, जी०आर० — इकॉनामिक कण्डीशन्स इन कर्नाटका, धारवाड़, 1975 ।

कुसुमन, के०के० — त्रिवेन्द्रम स्लेवरी इन त्रावणकोर, केरल, 1973 ।

कृष्णामूर्ति, ए०पी० — सोशल ऐण्ड इकॉनामिक कण्डीशन्स इन ईस्टर्न डेक[illegible] सिकन्दराबाद, 1970 ।

कोरपोकिनो, जे० — डेली लाइफ इन ऐंशयेण्ट रोम, पेंग्विन बुक्स, 195[illegible]

कोलबर्न, आर० — फ्यूडलिज्म इन हिस्ट्री, प्रिंस्टेन, 1956 ।

कोसाम्बी, डी०डी० — ऐन इण्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ इण्डियन हिस्ट्[illegible] बम्बई, 1956 । द कल्चर ऐण्ड सिविलाईजेशन इन ऐंशयेण्ट इण्डिया, दिल्ली, 1977 ।
'द लाइन आफ अर्थशास्त्र टीचर्स,' इण्डियन हिस्[illegible] रिकल रिव्यू, जिल्द 5, भाग1-2, दिल्ली 1979

कौत्सकी, के० — स्लेव सोसाइटी इन इम्पीरियल रोम, सिडनी, 1[illegible]

खेर, एन0एन0 — ऐग्रेरियन ऐण्ड फिस्कल इकानमी इन द पोस्ट मौर्यन एज, वाराणसी, 1973 ।

गिबन, ई0 — द डिक्लाइन ऐण्ड फॉल ऑफ द रोमन एम्पायर, (1135–1453ई0), जिल्द 3, न्यूयार्क ।

गीनिज, सी0डब्ल्यू0डब्ल्यू0 — स्लेवरी, लन्दन, 1958 ।

गुप्ता, डी0के0 — सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन द टाइम ऑफ दण्डिन, दिल्ली, 1972 ।

ग्रेत्स्यान्स्की, पी0एस0 — राजनीतिक सिद्धान्तों का इतिहास, भाग 1, दिल्ली, 1985 ।

गोपाल, एम0एच0 — मौर्यन पब्लिक फाइनेन्स, लन्दन, 1935 ।

गोपाल, लल्लन जी — आस्पेक्ट्स ऑफ हिस्ट्री आफ एग्रीकल्चर इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, वाराणसी, 1980 ।

द इकॉनामिकलाइफ ऑफ नार्दर्न इण्डिया, वाराणसी 1965 । (संपा0) डी0डी0 कममोरेशन वाल्यूम, वारापसी, 1977 ।

'इण्डियाज फॉरेन ट्रेड इन ऐंश्येण्ट पीरियड ऐण्ड इट्स इम्पैक्ट आन सोसाइटी, क्वार्टर्ली रिव्यू ऑफ हिस्टॉरिकल स्टडीज, जिल्द 5, 1965 ।

सोशियो–इकॉनमिक इम्प्लीकेशन्स ऑफ फ्यूडलिज्म इन नार्दर्न इण्डिया (लगभग 700–1200ई0)' भटनागर, ओ0 पी0 (संपा0), स्टडीज इन सोशल हिस्ट्री, इलाहाबाद 1964 ।

गांगुली, डी0सी0 — हिस्ट्री आफ परमार डायनेस्टी, लखनऊ 1956 ।

गांगुली डी0एन0 — स्लेवरी इन द ब्रिटिश डॉमिनियन, कलकत्ता 1972 ।

घुर्ये, जी0एस0 — कास्ट ऐण्ड क्लास इन इण्डिया, बम्बई, 1950 ।

वैदिक एज, बम्बई, 1979 ।

घोष, एन0एन0 — अर्ली हिस्ट्री ऑफ नार्थ इण्डिया, इलाहाबाद, 1981 ।

घोषाल, यू0एन0 — स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर, कलकत्ता, 1957 ।

चकलादार, एच0सी0 — सोशल लाइफ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1929 ।

चक्रवर्ती, ए0के0 — 'सोर्सेज ऑफ स्लेवरी इन ऐंश्येण्ट कम्बोडिया,' सोशल लाइफ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, संपा0- सरकार, डी0सी0, कलकत्ता, 1971 ।

चट्टोपाध्याय, ए0के0 — स्लेवरी इन इण्डिया, लन्दन, 1977 ।

चट्टोपाध्याय, बी0डी0 — 'पोलिटिकल प्रोसेसेज ऐण्ड स्ट्रक्चरऑफ पालिटी इन अर्ली मेडिवल इण्डिया प्राब्लेम्स आफपर्सपेक्टिव,' अध्यक्षीय भाषण, इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस (प्राचीन इतिहास खण्ड), बर्दवान, 1984 ।

आस्पेक्ट्स ऑफ रूरल सेटेलमेन्ट्स ऐण्ड रूरल सोसाइटी इन अर्ली मेडिवल इण्डिया, कलकत्ता, 1990 ।

क्वायेन्स ऐण्ड करेन्सी सिस्टम इन साउथ इण्डिया, दिल्ली, 1977 ।

§संपा0§ एसेज इन ऐंश्येण्ट इण्डियन इकॉनमिक हिस्ट्री, नई दिल्ली, 1987 ।

चतुर्वेदी, एस0 तुर्ककालीन भारत में मुस्लिम दासता§1000 ई0 से 1414ई0§, दिल्ली, 1982 ।

चन्द्र, आर0के0 ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ पउमचरियम्, वैशाली, 1970 ।

चानना, डी0आर0 स्लेवरी इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, दिल्ली, 1960 ।

जाली, जे0 हिन्दू लॉ ऐण्ड कस्टम्स, कलकत्ता, 1928 ।

जैन, जे0सी0 लाइफ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया§ऐज डिपिक्टेड इन जैन कैनन्स§, बम्बई, 1947 ।

जैन, पी0सी0 लेबर इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, दिल्ली, 1974 ।

सोशियो-इकॉनामिक एक्सप्लोरेशन आफ मेडिवल §800 ई0 से0 1300 ई0 तक §, दिल्ली, 1976 ।

जायसवाल, के0पी0 मनु ऐण्ड याज्ञवल्क्य, कलकत्ता, 1930 ।

जायसवाल, सुवीरा 'स्टडीज इन अर्ली इण्डियन सोशल हिस्ट्री, ट्रेन्ड्स ऐण्ड पॉसिबिलिटीज' इण्डियन हिस्टॉरिकल रिव्यू, जिल्द6, भाग1-2, दिल्ली, 1979 ।

जैको, एम0 अरब एकाउन्ट्स ऑफ इण्डिया, दिल्ली, 1961 ।

जोसेफ, वी0 द ऐंश्येण्ट स्लेवरी ऐण्ड आइडियल ऑफ मेन, ऑक्सफोर्ड 1974 ।

झा, डी0एन0 — प्राचीन भारत- एक रूपरेखा, दिल्ली, 1980 ।

रेवेन्यू सिस्टम इन पोस्ट-मौर्यन ऐण्ड गुप्ता टाइम्स, कलकत्ता, 1967 ।

स्टडीज इन अर्ली इण्डियन इकोनामिक हिस्ट्री, दिल्ली, 1980 ।

फ्यूडल फार्मेशन इन अर्ली इण्डिया, दिल्ली, 1987 ।

डूमा, एल0 — द कन्सेप्शन ऑफ किंगशिप इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, काण्ट्रीब्यूशन्स टू इण्डियन सोश्योलाजी, जिल्द 6 ।

डनिंग, डब्ल्यू0ए0 — ए हिस्ट्री आफ पोलिटिकल थ्योरीज, ऐंश्येण्ट ऐण्ड मेडिवल, न्यूयार्क, 1962 ।

डाक्स, पी0 — मेडिवल स्लेवरी एण्ड लिबरेशन, लन्दन, 1982 ।

डाकहार्ड, आर0 — द अर्ली मिडिल एजेज इन द वेस्ट इकॉनमी एण्ड सोसाइटी एम्सटर्डम, 1973 ।

डॉब, एम0 — स्टडीज इन द डेवलपमेन्ट ऑफ कैपिटलिज्म, लन्दन, 1975 ।

डार्लिंगटन, सी0डी0 — द इवोल्यूशन ऑफ एण्ड मैन सोसाइटी, लन्दन, 1971 ।

डे. एस0सी0 — द हिस्टॉरिसिटी आफ रामायण ऐण्ड इण्डो-आर्यन सोसाइटी, दिल्ली, 1976 ।

डेरेट, जे0 डी0एम0 — रिलिजन, लॉ ऐण्ड द स्टेट इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, लन्दन, 1963 ।

डोनिनी, ए० — 'द मिथ ऑफ साल्वेशन ऐण्ड ऐंश्येण्ट स्लेव सोसाइटी,' साइन्स ऐण्ड सोसाइटी, जिल्द 15, भाग 1, न्यूयार्क।

डांगे, एस०ए० — इण्डिया फ्रॉम प्रिमिटिव कम्यूनिज्म टू स्लेवरी, बम्बई, 1949।

तरफदार, एम०आर० — ट्रेड ऐण्ड सोसाइटी इन मेडिवल बंगाल, इण्डियन हिस्ट्रारिकल रिव्यू, जिल्द 4, 1978।

तिखविन्स्की, एस०एल० (संपा०) — चाइना ऐण्ड हर नेबरहुड, मास्को, 1981

थार्नें, डैनियल — 'मार्क्स ऑन इण्डिया ऐण्ड एशियाटिक मोड ऑफ प्रोडक्शन', काण्ट्रीब्यूशान्स टू इण्डियन सोशियोलाजी, 1966।

थापर, रोमिला, — ऐंश्येण्ट इण्डियन सोशल हिस्ट्री, दिल्ली, 1978।

हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पेलिकन बुक सीरीज, 1972।

फ्राम लीनियेज टू स्टेट, दिल्ली, 1993।

नदवी, एस०एस० — अरब, भारत के सम्बन्ध, इलाहाबाद, 1930।

नरसु, पी०एल० — द एसेंस ऑफ बुद्धिज्म, मद्रास, 1912।

नारायण, एम०जी०एस० — 'भक्ति मूवमेण्ट इन साउथ इण्डिया,' फ्यूडल फॉरमेशन इन अर्ली इण्डिया, संपा०-डी०एन०झा, दिल्ली, 1987।

नियोगी, आर० — हिस्ट्री ऑफ द गाहड़वाल डाइनेस्टी, कलकत्ता, 1959।

नियोगी, पी0 — कान्ट्रीब्यूशन्स टू द इकोनामिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया, कलकत्ता, 1962 ।

नेगी, जे0एस0 — 'सम लाइट ऑन द इन्स्टीट्यूशन्स ऑफ स्लेवरी फ्राम द लिखनावली ऑफ विद्यापति, के0सी0 चट्टोपाध्याय मेमोरियल वाल्यूम, इलाहाबाद, 1975।

नेबूर, एच0जे0 — स्लेवरी ऐज ऐन इन्डस्ट्रियल सिस्टम, द हेग, 1900 ।

नोवोकोवा, एल0 — सिविलाइजेशन ऐण्ड हिस्टारिकल प्रोसेस, मॉस्को, 1983 ।

द्विवेदी, लवकुश — 'पूर्णमध्यकालीन भारत में नागरिक दासता,' समाज, धर्म एवं दर्शन, इलाहाबाद, 1987 ।

'पूर्णमध्यकालीन भारत में दासी,' प्रोसीडिंग्स ऑफ द पोजीशन ऐण्ड स्टेटस ऑफ वोमेन इन ऐंशेण्ट इण्डिया, जिल्द 1, वाराणसी, 1988 ।

'कौटिलीय अर्थशास्त्र में दास, कर्मकर, विष्टि और शूद्र,' जर्नल आफ गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जिल्द41 इलाहाबाद, 1988 ।

'कम्बोडिया में सामाजिक एकीकरण की भारतीय पद्धति (दासता के विशिष्ट सन्दर्भ में),' प्रोसीडिंग्स आफ डॉ0 एस0 राधाकृष्णन सेन्टिनरी सेलीब्रेशन्स, वाराणसी, (प्रेस में) ।

'सामाजिक मूल्य और दासता: भारतीय एवं पाश्चात्य चिन्तन के विशिष्ट सन्दर्भ में,' संस्कृति संधान, वाराणसी, 1993 ।

'अर्थशास्त्र में राज्य और दासता की अवधारणा: यूनानी चिन्तन के तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में,' प्रोसीडिंग्स आफ द वर्कशाप ऑन ऐंश्येण्ट इण्डियन सोसाइटी, वाराणसी, 1992 (प्रेस में)

'स्टडीज आन द प्राब्लेम ऑफ स्लेवरी इन ऐंश्येण्ट ऐण्ड अर्ली मेडिवल इण्डिया: ए रिट्रास्पेक्टिव सर्वे,' प्रो0 जी0सी0 पाण्डे फेलीशिटेशन वाल्यूम, इलाहाबाद (प्रेस में)

'पूर्वमध्यकालीन बुन्देलखण्ड में युद्धदासता,' अप्रकाशित शोध लेख । (संपा0) कालंजर: ए हिस्टारिकल ऐण्ड कल्चरल प्रोफाइल, बांदा, 1992 ।

पटनायक, यू0 (संपा0) चेन्स आफ सर्वोट्यूड, बांडेज ऐण्ड स्लेवरी इन इण्डिया, मद्रास, 1985 ।

पार्जिटर, एफ0ई0 ऐंश्येण्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन, दिल्ली, 1972

पाटिल, बी0आर0 'देवदासीज,' इण्डियन जर्नल ऑफ सोशल वर्क, जिल्द35, नं04, बम्बई, 1985 ।

पाटिल, एस0 दास, शूद्र-स्लेवरी, दिल्ली, 1985 ।

'प्राब्लम्स ऑफ स्लेवरी इन ऐंश्येण्ट इण्डिया,' सोशल

पाण्डेय, एस०एल० — भारतीय राजशास्त्र प्रणेता, लखनऊ, 1964 ।

पाण्डे, जी०सी० — स्टडीज इन द ओरिजिन ऑफ बुद्धिज्म, इलाहाबाद, 1957 ।

द मीनिंग ऐण्ड प्रोसेस ऑफ कल्चर, आगरा, 1972 ।

मूल्यमीमांसा, जयपुर, 1973 ।

फाउन्डेशन्स ऑफ इण्डियन कल्चर, 2 जिल्दों में, नई दिल्ली, 1984 । भारतीय परम्परा के मूल स्वर, नई दिल्ली, 1981 ।

पिन्गरी, डी० (संपा०) — वृद्ध-यवन-जातक आफ मीनराज, बड़ौदा, 1976 ।

पुरी, बी०एन० — द हिस्ट्री ऑफ गुर्जर-प्रतिहाराज, बम्बई, 1957 ।

पुली ब्लैंक ई०जी० — 'द ओरिजिन्स ऐण्ड नेचर ऑफ चैटिल स्लेवरी इन चाइना' जर्नल आफ इकोनामिक ऐण्ड सोशल हिस्ट्री आफ ओरियण्ट, जिल्द।, 1958 ।

पुसाल्कर, ए०डी० — भास-ए स्टडी, दिल्ली, 1968 ।

पेडगग, ए० — 'प्राब्लम्स इन द थ्योरी ऑफ स्लेवरी एण्ड स्लेव सोसाइटीज,' साइन्स एण्ड सोसाइटी, जिल्द 40, न01, 1976 ।

पैटर्सन, ओ० — स्लेवरी एण्ड सोशल डेथ, ए कमपरेटिव स्टडी, लन्दन, 1982 ।

प्रभु, पी०एच० — हिन्दू सोशल आर्गनाइज़ेशन, बम्बई, 1958 ।

प्राणनाथ — इकॉनामिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, लन्दन, 1929 ।

फिक, आर०

फिनले, एम0 आई0	ऐंश्येण्ट स्लेवरी एण्ड मार्डन आइडियोलॉजी, लन्दन, 1980 ।
	'बिटवीन स्लेवरी एण्ड फ्रीडम,' कमपरेटिवस्टडीज़ इन सोसाइटी एण्ड हिस्ट्री, जिल्द 6 ।
ब्लाक, एम0	फ्यूडल सोसाइटी, लन्दन, 1966 ।
	स्लेवरी एण्ड सर्फडम इन द मिडिल एजेज, लन्दन, 1975 ।
बर्न्स, ई0 एम0	वेस्टर्न सिविलाइज़ेशन, देअर हिस्ट्री एण्ड देअर कल्चर जिल्द1, न्यूयार्क, 1973 ।
बनर्जी, आर0डी0	पालाज़ आफ बंगाल, वाराणसी, 1972 ।
बनर्जी, एन0सी0	इकॉनामिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन ऐंश्येण्ट इंण्डिया, कलकत्ता, 1925 ।
बनर्जी, डी0आर0	'स्लेवरी इन ऐंश्येण्ट इण्डिया,' कलकत्ता रिव्यू, अगस्त, 1930 ।
बसु, एस0एन0	'स्लेवरी इन द जातकाज,' जर्नल आफ बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च, सोसाइटी, जिल्द9, पटना ।
बार्कर, एस0ई0	द पॉलिटिकल थॉट ऑफ प्लेटो ऐण्ड एरेस्टॉटिल, न्यूयार्क, 1959 ।
	यूनानी राजनीतिक सिद्धान्त, दिल्ली, 1988 ।
बाजपेयी, के0डी0	भारतीय व्यापार का इतिहास, मथुरा, 1951 ।
बाशम, ए0एल0	द वन्डर दैट वॉज इण्डिया, लन्दन, 1954 ।
	स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, कलकत्ता, 1967 ।

ब्राउन, ए०आर० ओरिजिन ऑफ इंग्लिश फ्यूडलिज्म, न्यूयार्क, 1973 ।

बोयरस्टेड, आर० सोशल आर्डर, बम्बई, 1970 ।

बुच, एम०ए० इकॉनामिक लाइफ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, बम्बई, 1924

बुलन्वा, एल० द सिल्क रोड, लन्दन, 1963 ।

बेन्डिक्स, आर० मैक्सवेबर, ऐन इन्टेलेक्चुअल पोर्ट्रेट, न्यूयार्क, 1960 ।

बैरो, आर०सी० स्लेवरी इन रोमन अम्पायर, लन्दन, 1928 ।

बैरो, आर०एच० द रोमन्स, लन्दन, 1961 ।

बैरो, जी०डब्ल्यू०एस० फ्यूडल ब्रिटेन, लन्दन, 1978 ।

बोस, ए०एन० सोशल एण्ड रूरल इकॉनमी ऑफ नार्दर्न इण्डिया, कलकत्ता, 1967 ।

बोस, एन०के० द स्ट्रक्चर ऑफ हिन्दू सोसाइटी, दिल्ली, 1975 ।

बोस, एन०एस० हिस्ट्री ऑफ द चन्देलाज, कलकत्ता, 1959 ।

बोंगार्ड, जी०एम०एस० स्टडीज इन ऐंश्येण्ट इण्डिया ऐण्ड सेन्ट्रल एशिया, कलकत्ता, 1971 ।

भटनागर, ओ०पी० स्टडीज़ इन सोशल हिस्ट्री, इलाहाबाद 1946 ।

भट्टाचार्य, एस०सी० सम आस्पेक्ट्स ऑफ इण्डियन सोसाइटी, कलकत्ता, 1978 ।

मजूमदार, ए०के० इकॉनामिक बैकग्राउंड ऑफ एपिक सोसाइटी, कलकत्ता, 1977 ।

मजूमदार, बी०पी० सोश्यो-इकॉनमिक हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया (1030-1194ई०) कलकत्ता, 1960 ।

मजूमदार0आर0सी0 हिस्ट्री आफ बंगाल, जिल्द 2, कलकत्ता, 1917 ।

मजूमदार, डी0एन0 रेसेज एण्ड कल्चर्स ऑफ इण्डिया, बम्बई, 1958 ।

महालिंगम टी0वी0 रीडिंग्स इन साउथ इण्डियन हिस्ट्री, संपा0 के0एम0 राघवन्द्रन, दिल्ली, 1977 ।

मार्क्स, कार्ल द पावर्टी ऑफ फिलासफी मास्को, 1973 ।

कैपिटल, 3 जिल्दों में, मास्को, 1973 ।

मार्गन, एल0एच0 ऐंशियेण्ट सोसाइटी, कलकत्ता, 1957 ।

मॉरिस, जे0 स्लेक्स ऐण्ड सर्फ्स, लन्दन, 1948 ।

मिश्रा, एस0एस0 मनसोल्लास-ए कल्चरल स्टडी, वाराणसी 1966 ।

मिश्रा, ओ0एस0पी0 लेबर प्राब्लम्स इन ऐंशियेण्ट ऐण्ड मेडिवल इण्डिया, कलकत्ता, 1961 ।

मीनाक्षी, सी0 ऐडमिनिस्ट्रेशन ऐण्ड सोशल लाइफ अण्डर द पल्लवाज, मद्रास, 1977 ।

मुकर्जी, आर0के0 हर्ष, वाराणसी, 1965 ।

मुकर्जी, एस0 समआस्पेक्ट्स ऑफ सोशल लाइफ इन ऐंशियेण्ट इण्डिया [325ई0 से 200 ई0], इलाहाबाद, 1976 ।

मुंशी, के0एम0 द ग्लोरी दैट वाज गुर्जरदेश, बम्बई, 1955 ।

मेंडेलबाम, लेबर: फ्री एण्ड स्लेव, न्यूयार्क, 1955 ।

मैकमन, एस0जी0 स्लेवरी थ्रू द एजेज, लन्दन, 1938 ।

मैत्री, ए0बी0 'फोर्स्ड लेबर इन इण्डिया ए नोट,' इण्डियन जर्नल ऑफ इन्डस्ट्रियल रिलेशन्स, जिल्द 15(1), 1979

मैती, एस0के0 — इकॉनामिक लाइफ इन नार्दर्न इण्डिया इन द गुप्ता पीरियड, दिल्ली, 1970 ।

मैनिकम, एस0 — स्लेवरी इन तमिल कन्ट्री: ए हिस्टारिकल ओवर व्यू, मद्रास, 1982 ।

मोतीचन्द्र — सार्थवाह, पटना, 1953 ।

यादव, जे0 — समराइच्चकहा: एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी 1977।

यादव, बी0एन0 एस0 — सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया इन द ट्वेल्थ सेन्चुरी ए0डी0, इलाहाबाद, 1973 ।

'प्राब्लम आफ द इनटरैक्शन बिटवीन सोश्योइकॉनमिक क्लासेज इन द अर्लीमिडिवल कॉम्पलेक्स,' इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, जिल्द3, भाग1, दिल्ली, 1976।

'द प्राब्लम ऑफ द इमरजेन्स ऑफ फ्यूडल रिलेशन्स इन अर्ली इण्डिया,' अध्यक्षीय भाषण, इण्डियन हिस्ट्री काँग्रेस, बम्बई, 1980 ।

'कलियुग के वर्णन और समाज का प्राचीनकाल से मध्यकाल में संक्रमण,' इतिहास, जि1, दिल्ली, 1992 ।

राय, यू0एन0 — विश्व सभ्यता का इतिहास, इलाहाबाद, 1982 ।

राय, जी0के0 — इन्वालन्ट्री लेबर इन ऐंशियेण्ट इण्डिया, इलाहाबाद, 1981 ।

राधाकृष्णन, एस0 तथा राजू, पी0टी0 — द कांसेप्ट आफ मैन: ए स्टडी इन कम्परेटिव फिलासफी, लन्दन, 1966 ।

रोडर, एन्थोनी	स्लेवरी, बौंडेज ऐण्ड डिफेन्डेसी इन साऊथ ईस्ट एशिया, क्वीन्सलैण्ड प्रेस, 1983 ।
रेड्डी, बाई0जी0	'सोशयो-इकानमिक टेन्शन्स इन द चोल पीरियड,' जर्नल आफ दि ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, जिल्द 29, 1979 ।
लॉ, बी0सी0	ए हिस्ट्री ऑफ पाली लिटरेचर, लन्दन, 1933 ।
लॉ, बी0सी0	"स्लेवरी ऐज नोन टू अर्ली बुद्धिस्ट," जर्नल आफ द जी0एन0झा0 रिसर्च इन्स्टीट्यूट, इलाहाबाद, 1948 ।
लॉ, एन0एन0	स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, कलकत्ता, 1925 ।
लान्सपैच, सी0डब्लू एल0	स्टेट ऐण्ड फेमिली इन अर्ली रोम, लन्दन, 1908 ।
लाल, ए0	प्राचीन भारत में कृषि, वाराणसी, 1980 ।
लिंगात, आर0	क्लासिकल लॉ आफ इण्डिया, दिल्ली, 1973 ।
ली, इन॰	हिस्ट्री (चाइना) हैंड बुक सीरीज, (बीजिंग, 1982।
लेफ्लर, जी0	'ए हिस्टोरियन्स रिमार्कस आन द ट्राजीशन फ्रॉम फ्यूडलिज्म टू कैपिटलिज्म,' साइन्स एण्ड सोसायटी, जिल्द 20 ।
लैण्टमैन, जी0	द ओरिजिन ऑफ द इनइक्वैलिटी आफ द सोशल क्लासेज, लन्दन, 1938 ।

वर्मा, वी0पी0 — ऐंश्येण्ट ऐण्ड मेडिवल इण्डियन पालिटिकल थॉट, जिल्द 1, आगरा, 1986 ।

विल्बर, सी0एम0 — स्लेवरी इन चाइना ड्यूरिंग द फार्मर हॅान डाइनेस्टी, शिकागो, 1943 ।

विंक्स, आर0 — स्लेवरी: ए कम्परेटिव पर्सपेक्टिव, न्यूयार्क, 1972 ।

विंक, ए0 — अल-हिन्द, जिल्द 1, ऑक्सफोर्ड प्रेस, 1990 ।

विटफॉगेल, कार्ल — ओरियण्टल डेस्पॉटिज्म, न्यू हैवेन, 1963 ।

वेबर, एम0 — द रिलिजन ऑफ इण्डिया, इलिनॉस, 1958 ।

वेलुथाट, के0 — 'द स्टेट्स आफ मोनार्क, ए नोट ऑन द रिचुअल्स परटेनिंग टू किंगशिप एण्ड देअर सिगनीफिकेन्स इन द तमिल कन्ट्री, (600-1200ई0)' प्रोसीडिंग्स आफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1982 ।

वेस्टरमैन, डब्ल्यू0एल0 — द स्लेव सिस्टम आफ ग्रीक एण्ड रोमन ऐन्टीक्विटी, फिलाडेल्फिया, 1955 ।

'इन्डस्ट्रियल स्लेवरी इन चाइना ड्यूरिंग द हॅान डाइनेस्टी (206ई0पू0 25ई0)
जर्नल आफ द इण्डियन हिस्ट्री जिल्द3, 1943 ।

वैद्य, सी0वी0 — हिस्ट्री आफ मेडिवल हिन्दू इण्डिया, जिल्द 3, पूना, 1921-26 ।

शर्मा, आर0एस0 — भारतीय सामन्तवाद, दिल्ली, 1973 ।

शूद्रों का प्राचीन इतिहास, दिल्ली, 1979 ।

पूर्वकालीन समाज और अर्थव्यवस्था पर प्रकाश, दिल्ली, 1978 ।

'प्राब्लेम आफ टॅाजीशन फ्राम ऐश्येण्ट टू मेडिवल इन इण्डियन हिस्ट्री इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, जिल्द।, दिल्ली 1974 ।

'सोशल चेन्जेज इन अर्ली मेडिवल इण्डिया; द फर्स्ट डी0आर0 चानना मेमोरियल लेक्चर्स, दिल्ली, 1969 ।

प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति और सामाजिक संरचना, दिल्ली, 1992 ।

'हाऊ क्यूडल वाज इण्डियन फ्यूडलिज्म; सोशल साइंटिस्ट, जिल्द 12, नं0 2, 1984 ।

'अर्बन डिके इन इण्डिया,' नई दिल्ली, 1987 ।

शर्मा, बी0एन0 — सोशल लाइफ इन नार्दर्न इण्डिया, दिल्ली, 1966 ।

शर्मा, डी0 — लेक्चर्स ऑन राजपूत हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर, दिल्ली, 1970 ।

शास्त्री, अजय मित्र — इण्डिया ऐज सीन इन द बृहत्संहिता आफ वराह-मिहिर, दिल्ली, 1969 ।

शेरवानी, एच0के0 — पॉलिटिकल थॉट्स एण्ड ऐडमिनिस्ट्रेशन, दिल्ली, 1981 ।

शौकत, ओ0 — स्लेव लाग्स, दिल्ली, 1976 ।

समद्दार, जे0 — इकानामिक कन्डीशन्स आफ ऐश्येण्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1922 ।

सरन, के0एम0 — लबर इन ऐश्येण्ट इण्डिया, बम्बई, 1957 ।

सरकार, डी0सी0 — स्टडोज इन द सोसाइटी ऐण्ड ऐडमिनिस्ट्रेशन आफ ऐंशियण्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया, जिल्द 1, कलकत्ता, 1967 ।

सेलेक्ट इन्स क्रिप्सेस, 2 भागों में, कलकत्ता, 1965 ।

स्टडोज इन द रिलिजस लाइफ आफ ऐंशियेण्ट ऐण्ड मेडिवल इण्डिया, दिल्ली, 1971 ।

(संपा0) सोशल लाइफ इन ऐशयेण्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1971 ।

इण्डियन एपीग्राफी, दिल्ली, 1966 ।

"ए चाइनीज़ एकाउंट आफ इण्डिया 732 ई0", जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री, अगस्त, 1966 ।

सरूप, एल0 — सम अस्पेक्ट्स आफ स्लेवरी, जर्नल आफ द पंजाब हिस्टारिकल सोसाइटी, जिल्द 3 ।

स्मिथ, वी0ए0 — अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, आक्सफोर्ड, 1929 ।

सिन्क्लेअर, टी0ए0 — यूनानी राजनीतिक विचारधारा, लखनऊ, 1963 ।

सिंह, हरिसहाय — प्राचीन भारत में पंचायती जन समितियाँ, इलाहाबाद, 1987 ।

सिन्हा, अतुल कुमार	शान्तिपर्व में विश्लेषित नैतिक विचार, इलाहाबाद, 1985 ।
सिन्हा, बी०पी०	द डिक्लाईन आफ द किंगडम आफ मगध, पटना, 1954 ।
सियो, ए०	'इन्टरप्रिटेशन्स आफ स्लेवरी, द स्लेव स्टेट्स इन द अमेरिकाज' कम्परेटिव स्टडीज इन सोसाइटी ऐण्ड हिस्ट्री, जिल्द 7, 1964-65 ।
सेगेल, बी०जे०	'सम मैथडॉलोजीकल कन्सीडरेशन्स ऑन ए कम्परेटिव स्टडी आफ स्लेवरी' अमेरिकन एन्थ्रोपोलाजी, 1945 ।
सेन, बी०सी०	इकॉनामिक्स इन कौटिल्य, कलकत्ता, 1967 ।
सेबाईन, जी० एच०	ए हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थ्योरी, न्यूयार्क, 1973 ।
स्लेफर, आर०	ग्रीक थ्योरीज आफ स्लेवरी फ्राम होमर टु ऐरिस्टॉटिल, हार्वर्ड, 1936 ।
स्पेंगलर, जे०जे०	इण्डियन इकानमिक थॉट, डरहम, 1973 ।
हबीब इरफान	'बरनीज़ थ्योरी ऑफ द हिस्ट्री ऑफ द देलही सल्तनत' इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, जिल्द 8, दिल्ली, 1981 ।
	टैक्नॉलोजी ऐण्ड बैरियर्स टू सोशल चेन्ज इन मुगल इण्डिया' इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, जिल्द 5, भाग 1-2, दिल्ली, 1979 ।

हबीबुल्ला, ए0बी0एम0 — द फाउन्डेशन आफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया, लाहौर, 1945 ।

हसन, एच0 — ए हिस्ट्री आफ परशियन नेवीगेशन, लन्दन, 1928 ।

हटन, जे0एच0 — कास्ट इन इण्डिया, बम्बई, 1963 ।

हाजारा, आर0सी0 — स्टडीज इन द पुराणिक रिकार्ड्स आन हिन्दू राइट्स ऐण्ड कस्टम्स, दिल्ली, 1975 ।

हॉपकिन्स, ई0 डब्ल्यू0 — द सोशल एण्ड मिलिटरी पोजीशन आफ द रूलिंग कास्ट्स इन ऐंशयण्ट इण्डिया, वाराणसी, 1972 ।

हाब्जबांग, ई0जे0 — कार्लमार्क्स, प्री-कैपिटलिस्ट इकॉनमिक फार्मेशन्स, लन्दन, 1964 ।

हॉल, जे0 डब्ल्यू0 — फ्यूडलिज्म इन जापान- ए रिअसेसमेन्ट, सी0एस0 एस0एच0, वाल्यूम 5, 1962-63।

हिन्डेस, बी0, एण्ड हर्स्ट पी0 क्यू0 — प्री-कैपिटलिस्ट मोड्स आफ प्रोडक्शन, बोस्टन, 1975 ।

हनुमंथन, के0आर0 — अनटचेबिलिटी, मदुरै, 1979 ।

हुसैन, बाई0 — ग्लिम्पसेज आफ मेडिवल इण्डियन कल्चर, बम्बई, 1962 ।

श्रीवास्तव, ओ0पी0 — 'द स्लेव ट्रेड इन ऐंशियण्ट ऐण्ड अर्ली मेडिवल इण्डिया,' प्रोसीडिंग्स ऑफ द इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, हैदराबाद, 1978 ।

श्रीवास्तव, वी0सी0 — सन वर्शिप इन ऐंशयेण्ट इण्डिया, इलाहाबाद, 1972

§र§ जर्नल्स, पोरियाडिकल्स एवं रिपोर्ट्स :

* अमेरिकन जर्नल ऑफ सोसिओलाजी ।
* अमेरिकन एन्थ्रोपोलाजी ।
* इकानामिक एण्ड पोलिटिकल वीकली ।
* इण्डियन एण्टिक्वेरी ।
* इण्डियन कल्चर ।
* इण्डियन जर्नल ऑफ इन्डस्ट्रियल रिलेशन्स ।
* इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू ।
* इतिहास ।
* इम्प्रिन्ट ।
* इपीग्राफिया इण्डिका ।
* इस्लामिक कल्चर ।
* एनाल्स ऑफ द भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट ।
* एनुअल रिपोर्ट्स आफ द आक्यलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया ।
* एशियन स्टडीज़ ।
* क्वार्टर्ली रिव्यू ऑफ हिस्टारिकल स्टडीज ।
* कम्परेटिव स्टडीज, इन सोसाइटी एण्ड हिस्ट्री ।
* कलकत्ता रिव्यू ।
* जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री ।
* जर्नल ऑफ ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट ।
* जर्नल ऑफ अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी ।
* जर्नल ऑफ द आन्ध्रा हिस्टारिकल रिसर्च सोसाइटी ।

* जर्नल ऑफ द एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल ।
* जर्नल ऑफ द बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी ।
* जर्नल ऑफ द बिहार रिसर्च सोसाइटी ।
* जर्नल ऑफ द बॉम्बे हिस्टारिकल सोसाइटी ।
* जर्नल ऑफ द पंजाब हिस्टारिकल सोसाइटी ।
* जर्नल ऑफ द इकोनामिक एण्ड सोशल हिस्ट्री आफ द ओरिएण्ट ।
* जर्नल ऑफ द जी०एन० झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट ।
* जर्नल ऑफ द ईश्वरी प्रसाद रिसर्च इन्स्टीट्यूट ।
* जर्नल ऑफ द रॉयल एशियाटिक सोसाइटी (बम्बई शाखा) ।
* जर्नल ऑफ द रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल (बंगाल) ।
* जर्नल आफ द यू०पी० हिस्टारिकल सोसाइटी ।
* न्यू इण्डियन ऐण्टिक्वेरी ।
* पास्ट ऐण्ड प्रजेन्ट ।
* प्राच्य प्रतिभा ।
* पुराणम् ।
* पुरातन ।
* पूना ओरियण्टलिस्ट ।
* प्रोसीडिंग्स ऐण्ड ट्रांजैक्शान्स ऑफ द आलइण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेन्स ।
* प्रोसीडिंग्स आफ द इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस ।
* बुलेटिन ऑफ द स्कूल ऑफ ओरियण्टल एण्ड एफ्रिकन स्टडीज़ ।
* भारतीय विद्या ।

* मेम्वायर्स ऑफ द आर्कयालॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया।
* मैन इन इण्डिया ।
* यूनिवर्सिटी ऑफ इलाहाबाद स्टडीज़, पत्रिका ।
* सोशल वेलफेयर ।
* सोशल साइन्टिस्ट ।
* सोशल हेल्थ ।
* सोसाइटी एण्ड चेंज ।

* * * * *